श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम्

भाषा-विवरणोपेतम् (प्रथमो भागः)

गीताप्रमाणं हिन्दूधर्म-निर्वचनम्

(गीता-भाष्य के रूप में हिन्दूधर्म का प्रामाणिक निर्वचन)

लेखक
डा. गिरिधारी लाल चतुर्वेदी

बृजरानी पब्लिकेशन, छत्ताबाजार, मथुरा

डा. गिरिधारीलाल चतुर्वेदी की पुस्तक 'श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम्', अधुनातन सन्दर्भों में हिन्दूधर्म का प्रामाणिक विवरण है. गीताभाष्य-परम्परा को इससे एक सर्वथा नया आयाम मिला है. भाष्य के साथ हिन्दी विवरण भी दिया गया है, जिससे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है. संस्कृतभाषा में, सम्भवतः हिन्दी में भी, धर्मदर्शन के क्षेत्र में यह प्रथम कोटि का मौलिक योगदान है, इसमें कोई सन्देह नहीं है.

डा. शिवशेखर मिश्र
प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष,
संस्कृतविभाग, लखनऊविश्वविद्यालय

श्रीमद्भगवद्गीता के ऊपर अब तक लिखे गये शतशः ग्रन्थों के मध्य *श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्य* अपना अलग से वैशिष्ट्य रखता है. इसमें गीता से सम्बद्ध पारम्परिक समस्याओं से हट कर उन विषयों को उद्घाटित किया गया है जिनका आज के हिन्दूधर्म और उसकी समस्याओं के साथ गहरा सम्बन्ध है. इस प्रयास के द्वारा भगवद्गीता जैसे शाश्वत महत्त्व के ग्रन्थ का वर्ण्यविषय की दृष्टि से नवीनीकरण के साथ धर्मदर्शन की गहनतम समस्याओं के ऊपर आधुनिक दृष्टि से पुनर्विचारणा का अवसर प्राप्त होता है. इस महान प्रयास के लिए इसके लेखक श्री चतुर्वेदीजी की जितनी प्रशंसा की जाय, पर्याप्त नहीं होगी. वे सर्वथा हमारे साधुवाद के पात्र हैं.

डा. सत्यप्रकाश सिंह,
निदेशक, धर्महिन्दुजा अन्तर्राष्ट्रीय भारतीयविद्या
शोधसंस्थान, दिल्ली

डा. चतुर्वेदि-महाभागेन विरचितं श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यमवधानेन परिशीलितम्. परम्परायां प्राप्तस्य शास्त्रस्य वर्तमानसन्दर्भे क्रोडीकृतानां विवेचनानाञ्च साधुपरीक्षणं कृत्वा तुलनात्मकधिया धर्मदर्शनश्रितभाष्यं निर्मितमित्यविकलं तत्त्वमुदञ्चति. नानाविकल्पाक्षेपनिरसनपुरःसरमध्यवसायमण्डितमिदं गीताभाष्यपरम्परायामभिनवदृष्ट्याचुम्बितां पद्धतिमाश्लिष्यति. ग्रन्थस्यास्य विश्वस्मिन् समादरो भविष्यतीति मदीयः प्रत्ययः.

डा. अमरनाथपाण्डेयः
पूर्वाचार्याध्यक्षः, संस्कृतविभागः
काशीविद्यापीठम्, वाराणसी

(Theological)

श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम्

भाषा-विवरणोपेतम् (प्रथमो भाग:)

गीताप्रमाणं हिन्दूधर्म-निर्वचनम्

(गीता-भाष्य के रूप में हिन्दूधर्म का प्रामाणिक निर्वचन)

लेखक

डा. गिरिधारी लाल चतुर्वेदी

बृजरानी पब्लिकेशन, छत्ताबाजार, मथुरा

बृजरानी पब्लिकेशन
२७६, गली सेठ भीकचन्द
छत्ता बाजार, मथुरा

प्रथम संस्करण : नवम्बर, १९९९

मूल्य : रु.३००/-

समस्त अधिकार लेखक में निहित

आत्मनिवेदन

प्रस्तावित अध्ययन का सूत्रपात, हिन्दू के लिए आज की विषम, अत्यन्त अपमानजनक, धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितियों की वर्णनातीत त्रासद चेतना में हुआ. इसकी रूपरेखा १९९३ में तैयार की गई. उस समय बाबरी-मस्जिद-रामजन्मभूमि-विवाद और उसकी विध्वंसक परिणति ने सारे राष्ट्र को हिला कर रख दिया था. हिन्दू धर्म के बारे में बहुत सी मान्यतायें ध्वस्त हो गयीं, और नए सिरे से बहुत कुछ सोचा और लिखा गया. इस घटना ने हिन्दूधर्म को कुछ समय के लिए संसार में, विशेष कर भारत में वैचारिक परिदृश्य के केन्द्र में लाकर खड़ा कर दिया. देश विदेश के अखबारों में हिन्दूधर्म को लेकर बहुत कुछ असमीक्षापूर्ण लिखा गया, जिसका बड़ा भाग निःसंदेह भारत के तथाकथित धर्मनिरपेक्षी राजनेताओं और विचारकों का योगदान था. किन्तु चिन्ता का विषय धर्मनिरपेक्षियों का नहीं, अपितु हिन्दुत्व पर किया गया वह चिन्तन था, जिसे तात्कालिक सन्दर्भों में हिन्दूधर्म और संस्कृति के अधिकृत विद्वानों ने किया था, या फिर अवसर प्राप्त होने पर भी जिसे किया जाना था और नहीं किया गया. इतिहास में ऐसी घटनाएँ अक्सर उच्च कोटि के सैद्धान्तिक चिन्तन को जन्म दे जाती है किन्तु हिन्दू धर्माचार्य, हिन्दुत्व के व्याख्याता मनीषी, और संस्कृत का पंडित वर्ग, इस घटना के सामने हक्का बक्का और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ था. हिन्दुत्व पर साक्षात विचार करने की न तो उन्हें आदत थी, और न ही उनके सामने इसकी कोई परम्परा थी. ६ दिसम्बर सन् ९२ की विध्वंसक घटना के सन्दर्भ में जो विशाल लेखन हुआ, उसमें एक लेख भी ऐसा नहीं मिलेगा, जिसे हिन्दुत्व की समझ की दिशा में एक योगदान कहा जा सके. यह घटना, अनायास ही, धर्मदर्शन के क्षेत्र में, हिन्दूचिन्तन के दारिद्र्य, उसके नितान्त सतहीपन और शून्यता को उजागर कर जाती है, जो वर्तमान युग में हिन्दू की त्रासदी का रहस्य है. हिन्दू की दुर्दशा का अकेला सबसे बड़ा कारण है, उसकी अपनी आस्था के स्वरूप को, उसकी मूलदार्शनिक प्रतिबद्धताओं को न समझ पाने की त्रासदी. आस्था की वस्तुनिष्ठ समझ का

अभाव, अनेकानेक सुविधाजनक, प्रतिक्रिया अथवा समर्पण-मूलक आस्थाभासों को जन्म दे रहा है, जो हिन्दू समाज को निरंतर दिग्भ्रमित कर रहे हैं, और उसे ठग रहे हैं.

समस्या की गंभीरता एक दो उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है. स्मरण हो, कभी भारतीय जनता पार्टी वालों ने एक आकर्षक नारा दिया था, ''जो हिन्दू हित की बात करेगा वही देश पर राज करेगा". नारा बहुत सोच समझकर दिया गया था, क्योंकि इसमें केवल हिन्दू हित की बात करने की बात की गई थी, उसके लिए कुछ करने की नहीं. किन्तु हिन्दू-हित की बात करना क्या इतना आसान था? हिन्दू-हित की बात करने के लिए हिन्दू आस्था और उसकी समस्याओं की स्पष्ट समझ चाहिए, जो आज न तो तथाकथित हिन्दू धर्माचार्यों के पास है और न ही हिन्दू की राजनीति करने वाले राजनेताओं के पास. आज भारतीय जनता पार्टी के नेता, गुजरात की ईसाई-विरोधी घटनाओं के सन्दर्भ में राष्ट्रीय बहस की मांग कर रहे हैं. किन्तु अनुभव यह बताता है कि भारतीय जनतापार्टी सहित संघपरिवार के संगठन, हिन्दू की समस्या को, उसके दर्द को कभी राष्ट्रीय मंच पर प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत नहीं कर सके. सतीमंदिरों में पूजा उपासना पर कानूनन प्रतिबन्ध, मुस्लिम शासकों द्वारा ध्वस्त करके मस्जिदों में परिवर्तित किए गए मंदिरों के पुनरुद्धार की समस्या, समान नागरिकसंहिता के अभाव, तथा बहुसंख्यकाधिकार-निरपेक्ष अल्पसंख्यकाधिकारों की संवैधानिक व्यवस्था के कारण, हिन्दू के साथ हो रहे विधिक-भेदभाव और अन्याय की समस्या — इन विषयों को भारतीय जनता पार्टी कभी सार्थक बहस का मुद्दा नहीं बना सकी. इसका कारण यह नहीं है कि उन्हें हिन्दू के दर्द का एहसास नहीं है, या वे बहस के बारे में गंभीर नहीं हैं. कारण है हिन्दूधर्म की स्पष्ट समझ का अभाव, जिसके कारण हिन्दू-हित या अहित की कोई स्पष्ट समझ नहीं बन सकती. स्वरूपबोध की समस्या हिन्दूधर्म की आधारभूत समस्या है. पुस्तकपंथी, इस्लाम, ईसाई आदि मूर्त-धर्मों की तुलना में, शास्त्र और सम्प्रदाय बहुत्व के असीम विस्तार को अपने में समेंटे, हिन्दू-परिदृश्य बिखरा हुआ, और आकाश की भांति अमूर्त और अपरिभाष्य प्रतीत होता है. यही कारण है कि कुछ लोगों ने कहना शुरू कर दिया है कि हिन्दूधर्म धर्म नहीं, अपितु एक संस्कृति है.

इस वस्तुस्थिति को ध्यान में रखते हुए मेरा यह कार्य हिन्दूधर्म की समझ की समस्या को सम्बोधित है. यतः श्रीमद्भगवद्गीता को निर्विवाद रूप से हिन्दुओं के प्रतिनिधि धर्मग्रन्थ रूप में

स्वीकार किया जा चुका है, यह अध्ययन मूलतः इन तीन प्रश्नों को सम्बोधित है : (१) क्या गीता में हिन्दूधर्म का कोई स्वरूप बनता है, (२) यदि हां, तो वह स्वरूप क्या है, और (३) गीता के माध्यम से उस तक पहुंचने की प्रामाणिक पद्धति क्या है?

श्रीमद्भगवद्गीता को लेकर यह प्रश्न कभी पहले उठाए गए हैं, यह बात मेरी जानकारी में नहीं है. गीता की हिन्दू-धर्मदर्शन के ग्रन्थरूप में स्थापना एक सर्वथा मौलिक व्याख्या परिकल्प है. प्राचीन या आधुनिक गीताव्याख्याओं में हमें कुछ भी ऐसा नहीं मिलता, जो इस स्थापना के निकट पहुंचता हो, या जिसमें इसकी कोई चेतना परिलक्षित होती हो. गीता-पाण्डित्य, आचार्य शङ्कर से लेकर आज तक, या तो आद्योपान्त साम्प्रदायिक है, अर्थात् तत्तद् दार्शनिक मतों अथवा साधनापद्धतियों (कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग आदि) को गीता के तात्पर्यार्थ रूप में स्थापित करता है, या फिर इसे प्रसंग-प्राप्त विषयों का केन्द्रीय-परिकल्पविहीन विवरण प्रस्तुत करते देखा जा सकता हैं. जहां तक मेरी जानकारी है, आस्था की हिन्दू अवधारणा को सामने रखकर, गीता पर कोई चिन्तन नहीं हुआ है.

श्रीमद्भगवद्गीता के धर्मदर्शन-भाष्य की स्थापना, साम्प्रदायिकभाष्य-परम्परा के निराकरण अथवा उसकी सीमित प्रायोजकता के निदर्शन के बिना सम्भव नहीं है. साम्प्रदायिक भाष्यों के बारे में मूल आपत्ति यह है कि वे महाभारत की, जो गीता का अन्तरङ्ग सन्दर्भ है, उपेक्षा करके विप्रकृष्ट औपनिषदिक वाङ्मय के साथ इसकी एकवाक्यता की कल्पना करते हुए प्रवृत्त होते है. 'प्रस्तुतहानि-अप्रस्तुतकल्पना'- रूप इस पद्धति-दोष के कारण, साम्प्रदायिक भाष्यों को, विश्वसनीय गीतार्थ रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता. अतः साम्प्रदायिक भाष्याभासों के जंगल से गीतार्थ का उद्धार करने के लिए यह आवश्यक है कि श्रीमद्भगवद्गीता को उसके मूल महाभारतीय सन्दर्भों में प्रतिष्ठित करके अध्ययन किया जाय. आचार्य शङ्कर से लेकर, परवर्ती भाष्यों में, यत्र तत्र महाभारत से उद्धरण दिए जाते रहे हैं. लेकिन महाभारत सन्दर्भ-प्रमाणित, गीतार्थ विचार का कोई प्रयास परम्परा में हमें देखने को नहीं मिलता.

महाभारत धर्म ही हिन्दूधर्म है, और श्रीमद्भगवद्गीता इसका सूत्र रूप में अधिकृत निर्वचन है, उसी प्रकार जैसे ब्रह्मसूत्र उपनिषदों का. यह इस अध्ययन परिकल्प की मूलमान्यता है. गीतार्थ का निर्धारण, उसके महाभारत सन्दर्भों में ही होना चाहिए, यह पद्धति-विमर्श, इस मूलमान्यता से

ही प्राप्त है. उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है, कि प्रस्तावित परिकल्प, मूलमान्यता और पद्धति दोनों दृष्टियों से परम्परा के लिए नया और अपूर्वयोजित है. परिकल्प का मौलिक स्वरूप मेरे लिए हमेशा बेचैनी का सबब रहा, और भाष्य लिखते समय बार बार मेरे मन में यह सवाल उठता था कि परिकल्प के औचित्य की सिद्धि किए बिना मुझे भाष्य लेखन में प्रवृत्त होने का कोई अधिकार नहीं है. अतः भाष्यलेखन को बीच में ही छोड कर, मैंने भाष्यभूमिका लिखी. उससे सन्तोष नहीं हुआ तो विस्तृत-भाष्यभूमिका लिखी. एक ऐसे अध्ययन परिकल्प के लिए, जो आचार्य शङ्कर से लेकर विनोबा तक की गीताचिन्तन परम्परा को समीक्षाई कोटि में रखता हो, यह अपरिहार्य हो जाता है कि सर्वप्रथम वह अपने सैद्धान्तिक औचित्य के बारे में विद्वानों की आश्वस्त करे. सम्प्रति *'श्रीमद्भगवद्गीता-धर्म दर्शनभाष्य-भूमिका'* की पाण्डुलिपि तथा गीता के प्रारम्भिक अध्यायों पर भाष्य लेखन के लिए आवश्यक सामग्री संग्रहीत है. आशा करनी चाहिए कि इस प्रकाशन के साथ प्रारम्भ हुई यह श्रृंखला अबाधगति से चलती रहेगी.

प्रस्तावित अध्ययन में, जो समस्यायें आयीं, उनमें से कुछ के बारे में सहज अनुमान किया जा सकता था. पारम्परिक गीता-पाण्डित्य से, वह प्राचीन हो या आधुनिक — इस अध्ययन में किसी प्रकार की सहायता या मार्गदर्शन की अपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि जो सवाल इस अध्ययन में उठाए गए हैं, उनकी कोई चेतना पारम्परिक पाण्डित्य में नहीं मिलती. किन्तु समस्या केवल इतनी ही नहीं थी. मुख्य समस्या थी, उस बहुसाम्प्रदायिक-परिदृश्य के लिए, जिसे हिन्दू नाम दिया जाता है, एकत्वोपपादक-अभ्युपगम के निर्माण की, जिसे हिन्दूधर्म के लक्षणरूप में प्रस्तुत किया जा सके, जिसे गीताध्ययन में चरितार्थ किया जा सके, जिसके अवयवभूत, अनुतर्क-संघात को महाभारत की सहायता से परिभाषित किया जा सके, और जिसकी व्यावहारिकता का वर्तमान सामाजिक एवं राजनैतिक सन्दर्भों में परीक्षण और निदर्शन किया जा सके. इस चार-तलीय अध्ययन में, प्रासंगिक साहित्य के अतिरिक्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपादान था, महाभारत का सोद्देश्य अनुशीलन और संग्रह. यह एक बहुआयामी, महाभारतीय विस्तार का अध्ययन परिकल्प था, जिसे यू.जी.सी. रिसर्च साइन्टिस्ट के रूप में अपने ५ वर्ष के कार्यकाल के लिए मैंने प्रस्तावित किया. कार्य को करते समय मुझे इसकी अपूर्वकल्पित कठिनाइयों और अपनी सीमित क्षमताओं का एहसास हुआ है. जिस रूप में भी बन पड़ा है, इसे विद्वानों के निर्णय के लिए प्रस्तुत कर रहा हूं.

बहुतों की यह मान्यता है कि संस्कृत में अनुसंधान का अर्थ है, संस्कृत माध्यम में चिन्तन और लेखन. यह बात अपनी जगह पर सही है यदि अनुसंधान का अर्थ है, शास्त्रों का इतिहास-निरपेक्ष, समसामयिक सन्दर्भनिरपेक्ष, अन्तर्मुखी चिन्तन, और उसका प्रयोजन, अभिजात-मनोरंजन (काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्), जिसे पण्डित कहते हैं और पण्डित ही सुनते हैं. यदि ऐसा है, तब तो यह शास्त्रविनोद संस्कृत में ही रहे तो अच्छा है. किन्तु यदि चिन्तन का उद्‌देश्य, जिसमें शास्त्रचिन्तन भी शामिल है, अपेक्षित सामाजिक-चेतना और परिवर्तन लाना है, तो संस्कृतभाषा को लक्ष्मण रेखा मान कर किया जाने वाला चिन्तन इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता. भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर ने इस बात को आज से ढाई हजार साल पहले महसूस कर लिया था, जब उन्होंने अपने धर्म प्रचार के लिए पाली और प्राकृत भाषाओं का चुनाव किया. कालान्तर में गुरु नानकदेव, सन्त ज्ञानेश्वर, कबीर, गोस्वामी तुलसीदास तथा अन्य सन्त विचारकों ने, जनभाषा की सम्प्रेषणीयता और उसमें किए गए चिन्तन के सामाजिक महत्त्व को समझा. यह सब कहने का अर्थ संस्कृत के महत्त्व को नकारना नहीं है, अपितु संस्कृत में अनुसन्धान से जुड़ी एक महत्वपूर्ण समस्या की ओर ध्यान आकर्षित करना है. संस्कृतभाषा चिन्तन को परम्परा से जोड़ती है, उसे एक विश्वसनीय पहचान और मुहावरा देती है. अतः संस्कृत में अनुसन्धान, संस्कृतभाषा-निरपेक्ष हो यह सुझाव कोई नहीं दे सकता. साथ ही जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अनुसंधान कार्य की सामाजिक प्रायोजकता को ध्यान में रखते हुए, संस्कृतविषयों में अनुसंधान कार्य केवल संस्कृत में ही हो, इस बात का भी समर्थन नहीं किया जा सकता. समाधान के लिए हमें संस्कृतपरम्परा की ओर ही मुड़ना होगा, जहां बहुत समय से चिन्तन की द्वितलीय पद्धति प्रचलित है. सूत्र, कारिका, अथवा गद्य के रूप में, शास्त्र के सारभूत चिन्तन बिन्दुओं का संग्रह करके, उन पर भाष्य लेखन की, भाष्य पर अथवा मूल यदि गद्य में है तो उस पर, वृत्ति, वार्तिक या विवरण लिखने की परम्परा पुराने समय से चली आ रही है. इसी को यहां द्वितलीय चिन्तनपद्धति नाम दिया गया है. संस्कृत में मूलचिन्तन, तथा उस पर हिन्दी या अंग्रेजी में भाषावृत्ति प्रस्तुत करना – यह परम्परानुमोदित क्रम, उनके लिए आदर्श शैली हो सकता है, जो संस्कृत से जुड़े रह कर सार्थक चिन्तन प्रस्तुत करना चाहते हैं. प्रस्तावित अध्ययन में 'श्रीमद्भगवद्गीता -धर्मदर्शनभाष्यम्' के साथ हिन्दी-विवरण देते हुए, इसी शैली का अनुसरण किया गया है.

आजकल टी.वी पर नितीश भारद्वाज का गीता-रहस्य नाम से एक धारावाहिक आ रहा है. इसमें महाभारत के उपाख्यानों की सहायता से गीतार्थ को साकार प्रस्तुति देने का प्रयास किया

गया है. यह सही दिशा में एक प्रयास है, और गीता के लिए महाभारतैकवाक्यताश्रित जिस व्याख्या-पद्धति की हम वकालत कर रहे हैं, उसी के क्रम में है. यह दृश्य प्रस्तुति श्रीमद्भगवद्गीता के तत्तत् स्थलों को समझने में सहायक होगी, ऐसा कहा जा सकता है. किन्तु यह एक केन्द्रीय-परिकल्प-विहीन प्रस्तुति है. अतः यह धारावाहिक गीतार्थ को, उसके समन्वित केन्द्रीय भावबोध को अभिव्यक्ति दे सकेगा, या उसकी बेहतर समझ पैदा कर सकेगा, इसमें सन्देह है.

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मैंने लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में रिसर्च साइन्टिस्ट के रूप में सम्बद्ध रहते हुए यह कार्य किया है. इस अवधि (१९९३-९८) में विभागाध्यक्ष डा उमेश रस्तोगी और डा. नवजीवन रस्तोगी के साथ काम करने का अवसर मिला. मै सहयोग और मार्गदर्शन के लिए इनका आभारी हूं. परम सुहृद डा. अशोक कुमार कालिया और डा. कृष्णकुमार मिश्र ने भाष्य को तथा डा. भगवानदीन मिश्र ने इसके हिन्दी विवरणांश को आद्योपान्त पढ़ा है, और मुझे मूल्यवान् सुझावों से उपकृत किया है. मैं इन विद्वानों का और उन सभी का जो इस कार्य से किसी न किसी रूप में जुड़े रहे हैं, हृदय से आभार प्रकट करता हूं. मैं अपने श्रम को सार्थक समझूंगा, यदि यह पुस्तक, हिन्दूधर्मदर्शन और उसे समझने में श्रीमद्भगवद्गीता की प्रसंगिकता पर सार्थक चर्चा में निमित्त बन सके.

गिरिधारीलाल चतुर्वेदी.
२७१, विड़लाहाल, मोतीमहल,
लखनऊ

आश्विन १०, सं. २०५६

विषयानुक्रमणिका

		पृष्ठ
आत्मनिवेदन		**३-८**
विषयानुक्रमणिका		**९-१४**
भाष्य-भूमिका		**१५-५६**
उपोद्घातः		**५७-६७**
भाष्यम् -	अवच्छेदः १	५७-५८
हिन्दी-विवरण -	**श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शनभाष्य की परिकल्पना**	५८-६०
भाष्यम् -	अवच्छेदः २	६०-६१
हिन्दी-विवरण -	**पद्धति-विमर्श**	६१-६४
भाष्यम् -	अवच्छेदः ३	६५-६६
हिन्दी-विवरण -	**श्रीमद्भगवद्गीता, एकमेवाद्वितीय हिन्दूशास्त्र**	६६-६७
प्रथम एककः (श्लो.१)		**६९-१५४**
भाष्यम् -	अवच्छेदः १	६९-६९
हिन्दी-विवरण -	**एकक-विमर्श**	६९-७०
भाष्यम् -	अवच्छेदः २	७०-७०
हिन्दी-विवरण -	**श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम श्लोक की अर्थसम्पदा :** अनुबन्ध-चतुष्टय, नामधेयसार्थक्य, पद्धतिविमर्श	७०-७१
भाष्यम् -	अवच्छेदाः ३, ३.१, ३.२, ३.३	७१-७४
हिन्दी-विवरण -	३. **गीता नामधेय की सार्थकता :**	७४-७५
	ग्रन्थ की संवादरूपता : धर्मदर्शन की दृष्टि से इसके निहितार्थ :	
	संवादरूपता - हिन्दू-धर्मदृष्टि का प्रतिबिम्ब :	७५-७७
	'गीता' नामधेय के सैद्धान्तिक निहितार्थ :	७७-७७
	तत्त्वनिष्ठा (सृष्टिविज्ञाननिष्ठा) व्यक्तिनिष्ठा, आस्था की गत्यात्मकता	
	३.१ **आस्था की तत्त्वनिष्ठा — तर्कित उपपत्तियां :**	७७-८०
	(क) ईश्वर की अवज्ञारूप-विसंवादोद्भव एवं पापमय सृष्टि-रूप में मानव की अवधारणा की अस्वीकृति	७८-७९

हिन्दी-विवरण -	(ख) सृष्टि के दिव्यप्रयोजन में सहभाग : मूल्यदर्शन का आधार :	७९-८०
	यज्ञधर्म : वैश्विकसहभाग का मूर्तरूप : मूलमान्यताएं :	८०-८४
	सृष्टि के विधान रूप में धर्म की अवधारणा :	८०-८१
	- समाज की वैश्विक परिकल्पना :	८१-८२
	- वैश्विकसमाज की परिकल्पना पर आधारित श्रेय की अवधारणा :	८२-८४
	३.२ आस्था के केन्द्र में **व्यक्ति की प्रतिष्ठा** : गीता, ईश्वर और इंसान के बीच सीधे संवाद की आह्लादमयी अभिव्यक्ति	८४-८८
	३.३ **आस्था की गत्यात्मक अवधारणा** - परोक्ष(शास्त्र) से अपरोक्षानुभव की ओर :	८८-९१
भाष्यम् -	अवच्छेदः ४	९१-९१
हिन्दी-विवरण -	**गीताधर्मदर्शन और मनु की विरासत :** असमीक्षकारी आलोचनाएं :	**९१-९५**
भाष्यम् -	अवच्छेदाः ५, ५.१	९५-९५
हिन्दी-विवरण -	५. **आस्था का प्रमाणशास्त्रीय स्वरूप :** तन्निष्ठ विरुद्धार्थग्रन्थि :	९६-९७
-	५.१ **शास्त्र(शब्द)प्रमाण** : उसकी निरपेक्ष और सापेक्ष स्वीकृतियों पर आधारित आस्था की दो भिन्न अवधारणाएं :	९७-९८
भाष्यम् -	अवच्छेदाः ६, ६.१, ६.२, ६.३, ६.४	९९-१००
हिन्दी-विवरण -	६. **निरपेक्षशास्त्रवाद,** इसके भेद : अपौरुषेयशास्त्रवाद तथा पौरुषेयशास्त्रवाद	९९-१०१
-	६.१ **निरपेक्षशास्त्रवाद :**	१०१-१०३
-	६.२ **पैगम्बरवाद-परीक्षण**	१०३-१०८
-	६.३ **निरपेक्ष-शास्त्रनिष्ठा** : व्यावहारिक विसंगतियां	१०८-१११
-	६.४ पैगम्बरवादी धर्मों की प्रतिक्रिया में विकसित **मानववादी चिन्तन** : इसकी सीमायें :	१११-११४
भाष्यम् -	अवच्छेदः ७	११४-११४
हिन्दी-विवरण -	**सापेक्ष (सानुभव) शास्त्रवाद**	११४-११६
भाष्यम् -	अवच्छेदाः ८, ८.१, ८.२ ८.३, ८.४	११६-११७

हिन्दी-विवरण - ८. **सापेक्षशास्त्रवाद का निहितार्थ -वैमत्य सहिष्णुता - हिन्दू- आस्था की द्वन्द्वात्मक संरचना का आधार :** आस्था में वैमत्य की मान्यता का अर्थ : मूर्त-आलंबनों की सीमित प्रयोजकता : ११७-१२५

वैमत्य सहिष्णुता पर आधारित हिन्दूधर्म की आस्तरणिक संरचना : १२५-१३२

- ८.१ बहुत्ववादी समाज -**वैमत्यसहिष्णुता की प्रथम परिणति :** १२५-१२८

- ८.२ वैमत्य का आस्था में द्वन्द्वात्मक संग्रह — **वैमत्य सहिष्णुता की द्वितीय परिणति :** १२८-१३०

- ८.३ द्वन्द्वात्मक संग्रह की वैयक्तिक संदर्भों में अवगति, उसका सर्जनात्मक स्वरूप : **वैमत्यसहिष्णुता की तृतीय परिणति** १३०-१३२

भाष्यम् - अवच्छेदः ९ १३२-१३४

हिन्दी-विवरण - ९ अर्जुन का विषाद : **गीता की दुःखचेतना** -वेदान्त और बौद्धचिन्तन से इसके वैशिष्ट्य की नियामक १३३-१३६

भाष्यम् - अवच्छेदाः १०, १०.१, १०.२, १०.३ १३७-१३८

हिन्दी-विवरण - १० **गीता का धार्तराष्ट्रिकोपक्रम : इसके निहितार्थ** १३८-१५३

- १०.१ **श्रीमद्भगवद्गीता के औपनिषदिक स्वरूप पर विचार :** प्रमाणरूप में पुष्पिका की ग्राह्यता १३९-१४१

- १०.२ **सम्पूर्ण ऐतिह्यबोझ को ढोता गीता का प्रथम श्लोक :** इसका महत्व १४१-१४८

- १०.३ **धृतराष्ट्र का अन्धत्व :** धर्म की परोक्षपक्षपाती अवधारणा का उपलक्षण १४९-१५४

द्वितीय एककः (श्लो.२-११) १५५-१६४

एकक-प्रस्तुति १५५-१५६

भाष्यम् - अवच्छेदाः १, २, ३ १५६-१५७

हिन्दी-विवरण - एकक-विमर्श १५७-१५८

- १. **धृतराष्ट्र, दुर्योधन तथा अर्जुन द्वारा कुरुक्षेत्र का अभिज्ञान :** १५८-१६१

  २. **गीतोपदेश में दुर्योधन प्रभृति ऐतिहासिक पात्रों की भूमिका** १६१-१६३

	३. **घनीभूत योगानुभव को अभिव्यक्ति देती गीता की प्रतिपाद शैली** : उसमें ऐतिहासिक पात्रयुग्मों की भूमिका :	१६३-१६४
तृतीय एककः (श्लो.१२-२०)		**१६५-१७४**
एकक प्रस्तुति -		१६५-१६६
भाष्यम् -	अवच्छेदाः १, २, ३	१६६-१६८
हिन्दी-विवरण -	एकक-विमर्श :	१६९-१६८
	१. **द्रोण का मौन :**	१६८-१७०
	२. भीष्म : द्रोण के पूरकरूप में	१७१-१७३
	३. कृष्ण का सारथी बिम्ब :	१७३-१७४
चतुर्थ एककः (श्लो.२२-३१)		**१७५-१९८**
एकक प्रस्तुति -		१७५-१७६
भाष्यम् -	अवच्छेदाः १,२, ३, ४, ५, ६	१७७-१८०
हिन्दी-विवरण -	एकक-विमर्श :	१८०-१८०
	१. **धृतराष्ट्र, दुर्योधन और अर्जुन के कुरुक्षेत्र के आकलन : वस्तु को देखने की तीन भंगिमायें :**	१८१-१८३
	२. **अर्जुन द्वारा युद्धस्थल का निरीक्षण** : अतिदर्शन और उसक परिणति	१८३-१८४
	३. अर्जुन का कार्पण्य : धर्मसंकट की प्रामाणिकता	१८५-१८६
	४. गीतोपदेश : प्रामाणिक मनोभूमि और अधिकार	१८६-१९०
	५. **गीता में मनोविज्ञान** : आचार्य रजनीश के अन्तर्दृष्टि : धर्म और मनोविज्ञान : विद्यारूप में धर्म की पात्रसापेक्ष अवधारणा : हिन्दूधर्म प्रचारक-धर्म क्यों नहीं बन सका? डा. अम्बेडकर के सन्दर्भित चिन्तन की समीक्षा :	१९०-१९६
	६. **नैतिक प्रश्न** : अर्जुन के युद्धोपरति चिन्तन की पूर्वपीठिका	१९६-१९८
पञ्चम एककः (श्लो.३२-४५)		**१९९-२३२**
एकक प्रस्तुति		१९९-२०१
भाष्यम् -	अवच्छेदाः १.१, १.२, २.१, २.२, ३, ४	२०१-२०४
हिन्दी-विवरण -	एकक-विमर्श	२०४-२०५
	१. **अर्जुन का युद्धोपरति चिन्तन** : सैद्धान्तिक आधार :	२०५-२०६

हिन्दी-विवरण - १.१. **युद्ध से हटने के लिये अर्जुन की पहली युक्ति :**
स्वजनविनाश का हेतु होने से युद्ध अश्रेयस्कर है :
युक्ति का परीक्षण : २०६-२०७
१.२ अर्जुन की दूसरी युक्ति : स्वजन विनाश का पाप, उससे
उत्पन्न अनर्थपरम्परा, उसकी कुलधर्मोच्छेदक परिणति : २०७-२०८
. **अर्जुन के युद्धोपरति चिन्तन के निहितार्थ** : गीतार्थ २०८-२१०
को समझने में उनकी प्रासंगिकता का निर्धारण :
२.१ **संस्थागत-धर्म का अर्थ** : उसका संकुचित, २१०-२१३
जातिबद्धमूल्यबोध :
२.२ **मानववाद, जातीय-मूल्यचिन्तन की सीमा :** २१३-२१५
गीता की दृष्टि से समीक्षा :
३. **श्रीमद्भगवद्गीता में युद्ध का विधान** : उसकी अपरिहार्य २१५-२३१
परिस्थिति और नैतिकता :
परिच्छिन्न अस्तित्व की भयग्रन्थि : युद्ध का मूल कारण २१५-२१७
संस्थागतधर्म की सीमित अर्थवत्ता और असीमित आकांक्षा
में पलती आततायीवृत्ति (आतंकवाद) : युद्ध की निर्विकल्प
परिस्थिति और उसका औचित्य २१८-२२७
अर्जुन के युद्धोपरति चिन्तन के संग्रह (आत्मोत्सर्ग) और
समर्पण पक्ष : गांधीवाद और नेहरूपंथ के सैद्धान्तिक उपादान २२७-२३१
४. **गीता के द्वन्द्वात्मक चिन्तन की त्रिपुटी :** २३१-२३२

षष्ठ एककः (श्लो.४६-४७) **२३३-२४७**
एकक प्रस्तुति २३३-२३३
भाष्यम् - अवच्छेदाः १, २, ३ २३३-२३५
हिन्दी-विवरण - एकक-विमर्श २३५-२३५
१. युद्धोपरति निर्णय : उसका अनिश्चित क्रियान्वयन : २३५-२३६
२. आत्मोत्सर्ग : आततायी के संग्रह की अनिवार्य परिणति : २३६-२३८
३. पुष्पिका विचार : २३८-२४२
उपसंहार २४३-२४७

परिशिष्टम् : **२४९-२७५**
१. **सन्दर्भग्रन्थाः** २४८-२४८
२. **महाभारत-सन्दर्भ-संग्रहः** २४९-२७३

संक्षेपणम्

महाभारतम्	-	महा.
आदिपर्व	-	आदि.
सभापर्व	-	सभा.
वनपर्व	-	वन.
विराटपर्व	-	विराट.
उद्योगपर्व	-	उद्योग.
भीष्मपर्व	-	भीष्म.
द्रोणपर्व	-	द्रोण.
कर्णपर्व	-	कर्ण.
शल्यपर्व	-	शल्य.
सौप्तिकपर्व	-	सौप्तिक.
स्त्रीपर्व	-	स्त्री.
शान्तिपर्व	-	शान्ति.
ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्	-	ब्र.सू.शां.भा.
श्रीमद्भगवद्गीता-शाङ्करभाष्यम्	-	गी.शां.भा.
मनुस्मृति	-	मनु.

भाष्यभूमिका

श्रीमद्भगवद्गीता हिन्दूधर्म का प्रतिनिधि ग्रन्थ है, अतः हिन्दूधर्म के स्वरूप परिज्ञान के लिए गीता के व्याख्यान का प्रस्ताव करते हैं. यहां यह कहा जा सकता है कि आचार्य शङ्कर प्रभृति सम्मानित आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक वैदुष्यपूर्ण भाष्य उपलब्ध हैं, क्या उनके द्वारा हिन्दूधर्म का अपेक्षित ज्ञान नहीं होता, जो एक नए भाष्य की प्रस्तावना की जा रही है. इस सम्बन्ध में निवेदन यह है कि जो भी उपलब्ध पारम्परिक गीताभाष्य हैं, वे हिन्दुत्वपरक न होकर वेदान्तादि सम्प्रदायपरक है; वे हिन्दूधर्म के अथवा गीता के, एकपक्षीय, स्वरूप-विप्रकृष्ट, साम्प्रदायिक सत्य का ही उद्घाटन कर पाते है, अतः हिन्दुत्व-जिज्ञासा-प्रकरण में उनकी अप्रायोजकता स्पष्ट ही है. हमारा सुनिश्चित मत है कि हिन्दुत्व ही श्रीमद्भगवद्गीता का प्रतिपाद्य विषय है. आस्थासंघ रूप में यह एक सिद्ध पदार्थ था, जिसे कालान्तर में हिन्दू नाम मिला. यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि हिन्दू नामधेय की प्रवृत्ति से सदियों पूर्व महाभारत में वैदिक और अवैदिक परम्पराओं, विविध सम्प्रदायों, उपासना-पद्धतियों तथा साधनामार्गों के बीच परस्पर संवाद के द्वारा एक बहुआयामी आस्थासंघ आकार ले चुका था. इस आस्थासंघ में, सम्प्रदायबहुत्व के संग्रह को सुनिश्चित करने हेतु, जिन सर्वस्वीकार्य, न्यूनतम आस्थामूल्यों की पहचान की गई, महाभारत में उनकी संहति को ही सनातन-धर्म नाम दिया गया. यह सनातन धर्म ही कालान्तर में हिन्दूधर्म कहलाया.

प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि अनेकार्थक 'धर्म' शब्द के तीन अर्थ प्रस्तावित अध्ययन के लिए प्रासंगिक हैं : (१) अंग्रेजी भाषा के शब्द 'फेथ' (faith) अर्थात् 'आस्था' के पर्यायवाची रूप में 'धर्म' शब्द साम्प्रदायिक इकाइयों में अन्तर्निहित सामान्य तत्त्व को बताता है, (२) अंग्रेजी शब्द 'रिलीजियन' (religion), जिसके लिए 'सम्प्रदाय' शब्द का चुनाव

किया गया है, के पर्यायरूप में यह शब्द आस्था की मूर्त, सरल इकाइयों को संकेत का विषय बनाता है. धर्म और सम्प्रदाय का अन्तर, हिन्दूधर्म को ध्यान में रख कर किया गया है, जिसमें आस्था का सामान्य, अव्यतिरिक्तस्वरूप तथा उसकी संघीय संरचना, उतनी ही वास्तविक हैं, जितनी उसकी सरल, साम्प्रदायिक इकाइयां. किन्तु ईसाई तथा इस्लाम प्रभृति धर्मों के सन्दर्भ में, जो आस्था की मूर्त, इतरव्यतिरेकी तत्तद् इकाइयों से भिन्न, किसी सार्वभौमिक अर्थ को मान्यता नहीं देते, धर्म और सम्प्रदाय का यह अन्तर विशेष महत्त्व नहीं रखता. (३) आस्था के इन सामान्य और विशेष अर्थों के अतिरिक्त, 'धर्म' शब्द, हमारे लिए जिस महत्त्वपूर्ण अर्थ को बताता है, वह है, आस्था की संघीय संरचना, जो हिन्दूधर्म में चरितार्थ होती है. हमें संदर्भ से ही समझना होगा कि स्थल विशेष में धर्म शब्द का प्रयोग सामान्य आस्था-तत्त्व के लिए हुआ है, या हिन्दू धर्म जैसी आस्था की संघीय संरचना के लिए, या इस्लाम, ईसाई प्रभृति आस्था की किसी विविक्त इकाई के लिए.

हिन्दू-धर्म में स्वरूपावगति की समस्या, वस्तुतः उसके गत्यात्मक, बहुआयामी स्वरूप, उसकी संघीय संरचना तथा द्वन्द्वात्मक आधार को समझने की समस्या है. दायित्वचेतना के लिए व्यक्तिक्षेत्र से लेकर सार्ववैश्विक समाज की अवधारणा को अपनी परिधि में समेटे, तथा समस्त परिच्छित्ति-निरपेक्ष, तत्त्वावगति में 'निःश्रेयस्' रूप परम प्राप्तव्य की प्रतिष्ठा करते, हिन्दूधर्म का निरवकाश सार्वसात्त्विक सम्बोधन उसे उस प्रकार की व्यावृत्तिमूलक जातीय अस्मिता से नहीं जुड़ने देता, जो इस्लाम ईसाई तथा अन्यान्य सम्प्रदायों की सहज पहचान है. अतः हिन्दू आस्था की स्वरूपावगति, अनन्यगत्या, एक दार्शनिक विवरण की अपेक्षा रखती है. यह आश्चर्य की बात है कि महाभारत तथा श्रीमद्भगवद्गीता जैसे धर्मदर्शन के आकर शास्त्रों के रहते हुए भी हिन्दूशास्त्रवेत्ता और धर्माचार्य इस शास्त्रविधा में कोई सार्थक चिन्तन प्रस्तुत नहीं कर सके. प्रामाणिक स्वरूपावगति का अभाव, हित की समझ को कुण्ठित कर देता है. सच पूछें तो स्वरूपावगति और हित की समझ परस्पर अन्योन्याश्रित हैं. स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से लेकर प्रबुद्ध हिन्दू के भीतर निरंतर ठगे जाने का एहसास हृदय की गहराइयों तक बैठा हुआ है. यद्यपि उससे पूछा जाए तो वह यह ठीक से नहीं बता पाएगा कि हिन्दू को किसके द्वारा, कैसे, और किस हद तक, ठगा गया है. हिन्दू की समस्या मूलतः एक सार्वभौमिक-दर्शन से जुडी आस्था में अस्मिता की समस्या है — सार्वभौमिक-दर्शन के आत्मघाती विनियोग से बचने की, मिशनरी धर्मों की धार्मिक-साम्राज्यवाद की आकांक्षाओं एवं एतदर्थ उनके परधर्मोच्छेदक कार्यक्रमों से कम से कम आत्मरक्षा के लिए,

दूसरों से अपने को अलग करके देखने की, एतदर्थ उपयुक्त वैचारिक यांत्रिकी विकसित करने की समस्या है. इस बात को समझने के लिए, हिन्दू के धर्मसम्मोह का, तज्जनित धर्माभास-प्रवंचनाओं और उनके कारण स्वातंत्र्योत्तर भारत में उसके साथ निरन्तर हो रहे विश्वासघात और धोखाधड़ी की दास्तान का संक्षिप्त विवरण आवश्यक है.

* * *

महात्मागांधी ने हिन्दू आस्था के सार्वभौमिक परिवेश में गैर-हिन्दू — इस्लाम, ईसाई आदि धर्मों का संग्रह करते हुए आस्था का एक राष्ट्रीय परिकल्प प्रस्तुत किया. अहिंसा, गौरक्षा, स्वदेशी तथा सर्वधर्मसमभाव, आस्था के इस राष्ट्रीय परिकल्प के आधारभूत मूल्य थे, तथा सर्वधर्म-प्रार्थनासभाओं का आयोजन इसकी संस्थागत अभिव्यक्ति. गांधीजी का यह विश्वास था (जो कालान्तर में गलत साबित हुआ) कि भारत के सभी धर्म, सभी सम्प्रदाय, आस्था के इस न्यूनतम कार्यक्रम को अवश्य स्वीकार कर लेंगे.

इसमें संदेह नहीं कि आस्था का यह सार्वभौमिक परिवेश, इसके आधारभूत मूल्य तथा इतर धर्मों के संग्रह की प्रक्रिया निश्चय ही हिन्दूधर्म से लिए गये तत्त्व थे. एक हिन्दू, आस्था के इस सार्वभौमिक परिवेश में जितना सहज अनुभव करता था, एक मुस्लिम अपनी आस्था की मूलवादी तथा ईसाई अपनी आस्था की प्रसारवादी प्रतिबद्धताओं के कारण, उतना सहज महसूस नहीं कर सकता था. यही कारण था कि अधिसंख्य हिन्दुओं ने हिन्दू महासभा के हिन्दुत्व को प्रतिक्रियावादी कह कर नकारते हुए, महात्मा गांधी के आध्यात्मदर्शन का समर्थन किया और उनके नेतृत्व में कांग्रेस आन्दोलन से जुड़ना पसंद किया. यह हिन्दुओं की पहली आत्मवंचना थी, जो धार्मिक अस्मिता की स्पष्ट समझ के अभाव में, अपने हितों की सही पहचान नहीं कर सकी.

भारत का विभाजन स्पष्ट रूप से एक साम्प्रदायिक विभाजन था; मूलतः हिन्दू और मुसलमान के बीच का विभाजन. कांग्रेस ने हिन्दू के प्रतिनिधि के रूप में सत्ता संभाली. गांधी का महात्मा बिम्ब, और गांधीवाद के हिन्दू तेवर, इस अवसर पर कांग्रेस के बहुत काम आए. सत्ता संभालने के प्रारम्भिक दौर में, जो कि अत्यन्त संवेदनशील था, कांग्रेसी शासकों ने हिन्दू जनता के मन में इस भ्रम को बनाए रखने की पूरी कोशिश की कि विभाजित भारत एक हिन्दूराष्ट्र है.

इसके लिए संविधान में भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र घोषित करने से परहेज किया गया. संसद भवन की प्राचीरों पर वेदों की ऋचाऐं उत्कीर्ण कराई गईं. गौवध बंदी की बात को संविधान में राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया, और हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया. वस्तुतः हिन्दूधर्म और संस्कृति की अनकही राष्ट्रीय हैसियत की पृष्ठभूमि में ही संविधान में अल्पसंख्यकाधिकारों की व्यवस्था की गई, क्योंकि एक धर्मनिरपेक्ष संविधान में धार्मिक अल्पसंख्यकाधिकारों का कोई अर्थ नहीं हो सकता. जहां बहुसंख्यकधर्म की राष्ट्रीय हैसियत होती है, वहीं अल्पसंख्यकाधिकारों के प्रावधान का औचित्य बनता है. अतः अल्पसंख्यक प्रावधानों को औचित्य प्रदान करने के लिए राष्ट्र की हिन्दू अस्मिता की भ्रामक पृष्ठभूमि को, एक धुंऐं के पर्दे की तरह बड़ी सावधानी के साथ तैयार किया गया. इस प्रयोजन से संविधान निर्माताओं ने न तो भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र कहा, न उसे हिन्दूराष्ट्र माना बल्कि इन दोनों निषेधों के बीच एक अनाम, आतताई बहुसंख्यक समाज की कल्पना की गई, जिससे अल्पसंख्यकों को बचाने के लिए अल्पसंख्यकाधिकारों के संवैधानिक प्रावधानों की व्यवस्था की गई. आखिर संविधान निर्माताओं की दृष्टि में यह ***आततायी बहुसंख्यक*** कौन है ? यह कोई पंथविशेष है, अथवा भारत का उदार, बहुत्ववादी समाज ? बहुत्ववादी समाज में अल्पसंख्यकाधिकारों का कोई औचित्य नहीं बनता. यदि यह पंथविशेष है, तो इसका स्वरूप क्या है, इसकी संवैधानिक हैसियत और नियामक अधिकार क्या हैं, जिनकी पृष्ठभूमि में 'अल्पसंख्यकाधिकाररूप अपवाद' का सृजन किया गया है, यह सवाल कभी उठाए ही नहीं गए, क्योंकि जिसको इस धूर्ततापूर्ण दस्तावेज के द्वारा छला जा रहा था, वह हिन्दू, स्पष्ट अस्मिताबोध के अभाव में हितचिन्तन की वैचारिक यान्त्रिकी विकसित ही नहीं कर सका, जो इस दस्तावेज की हकीकत का खुलासा कर सकती.

स्वतंत्रता प्राप्ति के तीन वर्षों से भी कम समय में, भारतीय राजनैतिक परिदृश्य में जो भारी परिवर्तन आया, उसने स्वतंत्रता के प्रारम्भिक दिनों की प्रतिबद्धताओं को अप्रासंगिक बना दिया. गांधी और पटेल की मृत्यु के बाद पं. जवाहरलाल नेहरू एक अप्रतियोगी सत्ताकेन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे. एक सशक्त केन्द्रीय सत्ता के अभ्युदय के साथ आत्मविश्वास और स्थिरता के युग का समारम्भ होता है. इस अभिनव आत्मविश्वास का परिणाम स्वतंत्रता की प्रारम्भिक परिस्थितियों के दबाव में बेमन से स्वीकार किए गए गांधीवाद और उसके द्वारा राष्ट्र को दी गई उदार हिन्दू-पहचान के उच्छेद के रूप में सामने आया. हिन्दू बहुमत का मन रखने के लिए,

संविधान में जो थोड़ी बहुत सजावट की गई थी (हिन्दी, गौरक्षा, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और स्वदेशी), उनको एक एक करके हटाने या अप्रभावी बनाने का सिलसिला शुरू हुआ. हिन्दी को संविधान में राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार तो किया गया, किन्तु जवाहरलाल नेहरू हिन्दी का मजाक उड़ाने, हिन्दी की चिन्दी बिखेरने का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देते थे. कुछ समय बाद हिन्दी के विरुद्ध दक्षिण भारत, विशेषकर तमिलनाडु में जो उग्र आन्दोलन हुआ, उसे पं. नेहरू की हिन्दी विरोधी भाषणबाजी से प्रोत्साहन मिला. वस्तुतः जो मुखर अंग्रेजीपरस्त लाबी इस आन्दोलन को हवा दे रही थी, राजगोपालाचार्यजी के साथ पंडित नेहरू स्वयं उसके प्रच्छन्न पुरोधा थे. इन पुरोधाओं द्वारा मिलकर रची गई साजिशों ने हिन्दी की संवैधानिक हैसियत को हमेशा के लिए अप्रभावी और अर्थहीन बना दिया. इसी प्रकार 'गौवधबंदी' सम्बन्धी संवैधानिक निर्देश को लेकर नेहरूपंथी कभी गंभीर नहीं थे. सुप्रीमकोर्ट के एक अविमर्शपूर्ण निर्णय ने जब कोटि-कोटि हिन्दुओं की आस्था से जुड़ी इस संवैधानिक व्यवस्था को निष्प्रभ बना दिया, तो नेहरूपंथियों को एक प्रकार से मुंहमांगी मुराद मिल गई. हिन्दुओं की भावनाओं का आदर करते हुए, अपेक्षित संवैधानिक संशोधन के द्वारा, इसके उद्धार का कोई प्रयास नहीं किया गया, जैसा कि बाद में, मुस्लिम आस्था के लिए असुविधाजनक सुप्रीम कोर्ट के निर्णयों के बारे में किया गया. स्वदेशी को तिलांजलि देकर अंधाधुंध औद्योगीकरण का दौर शुरू हुआ. हिन्दू धर्माचार्यों की उपेक्षा करते हुए हिन्दूकोड बिल पास किया गया, जिसका अर्थ था, हिन्दुओं को अपने धर्मग्रन्थों के अनुकूल, श्रुतिस्मृति विहित आचरण से रोकना. हिन्दू समाज व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता थी, इसमें संदेह नहीं. स्वयं हिन्दूसमाज, शास्त्र व्यवस्थाओं के समयानुकूल पुनर्व्याख्यान के प्रति कभी असहिष्णु नहीं रहा. किन्तु मूल प्रश्न यह था कि शास्त्रों का अपेक्षित पुनर्व्याख्यान धर्माचार्यों के द्वारा हो या तथाकथित 'धर्मनिरपेक्षी' शासक वर्ग के द्वारा. जहां तक मुसलमानों की बात है, उनकी समाज व्यवस्था को धर्मनिरपेक्ष विधान के अन्तर्गत लाने की बात उठते ही नेहरूपंथी शासक बिरादरी आज भी बेचैन हो उठती है, और इससे पहले कि मुसलमान विरोध में कुछ कहें, वे स्वयं इसके विरोध में आगे आ जाते हैं. वे इसी को धर्मनिरपेक्षता मानते हैं. किन्तु हिन्दुओं के लिए यह निर्णय सन् १९५० में ही हो गया था कि उनके वैयक्तिक कानून का नियमन धर्माचार्यों का नहीं, धर्मनिरपेक्षी शासन का अधिकार है. इस स्पष्ट रूप से भेदभावपूर्ण व्यवस्था को धर्मनिरपेक्षता का नाम दिया जाता है, और उसे 'सर्वधर्मसमभाव' जैसे शब्दों से विभूषित किया जाता है, तो इनके आधार में भी भारत

की हिन्दूराष्ट्र रूप में एक अनकही मान्यता, एक राष्ट्रीय मिथ्याचार ही काम कर रहा होता है. भारत एक हिन्दू-राष्ट्र है अतः सरकार को हिन्दुओं की तरफ से हिन्दुओं के लिए कानून बनाने का तो हक है, किन्तु एक हिन्दू सरकार मुसलमानों के लिए कानून बनाने की अधिकारी नहीं हो सकती. इस प्रकार नेहरूपंथी, जहां एक ओर योजनाबद्ध तरीके से भारत की हिन्दू-पहचान को नष्ट कर रहे थे, वहीं भारत की हिन्दूराष्ट्र के रूप में संविधानेतर पहचान का बड़ी होशियारी के साथ, अल्पसंख्यक-साम्प्रदायिकता को अनुचित संरक्षण देने, तथा हिन्दू की धार्मिक अस्मिता को धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था में योजनाबद्ध तरीके से आत्मसात् करने की दोहरी योजना पर बड़ी होशियारी से अमल कर रहे थे.

सन् १९७६ में, श्रीमती इन्दिरागांधी के प्रधान-मंत्रित्वकाल में, एक संविधान-संशोधन के द्वारा भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र घोषित किया गया. एक बहुत बडे भरम का अन्त हुआ, जिसे नेहरूपंथी शासक और तथाकथित हिन्दूसंगठन अपने-अपने मतलब से इस्तेमाल कर रहे थे. इसका अर्थ यह नहीं कि श्रीमती इन्दिरा गांधी अधिक ईमानदार थीं. वस्तुतः नेहरूपंथियों को अब अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिए किसी संविधानेतर भ्रम के सहारे की जरूरत नहीं रह गई थी. देश की हिन्दू पहचान काफी हद तक मिटाई जा चुकी थी, और उसका इतना भी नहीं बचा था, कि वह किसी भ्रम को सहारा दे सके. इस देश में अब भी, धार्मिक चरित्र में सुरक्षित मुस्लिम स्कूल थे, ईसाई स्कूल थे, सिख स्कूल थे, किन्तु हिन्दू स्कूल जैसी कोई चीज नहीं रह गई थी. हिन्दुओं के हजारों विद्यालय अब धर्मनिरपेक्षी संस्थायें बन चुकी थीं, जिनके धार्मिक, जातीय स्वरूप को नष्ट किया जा चुका था. हर धर्म के लोग अपने धर्मग्रन्थों के अनुसार जीने के लिए स्वतंत्र थे. केवल हिन्दुओं के लिए श्रुति-स्मृति विहित धर्माचार प्रतिबन्धित था, क्योंकि उनके लिए नेहरूपंथी शासकों द्वारा हिन्दूकोडबिल के रूप में 'सरकारी' वैयक्तिक विधि-संहिता लागू की जा चुकी थी. सती मंदिरों में, पूजा करने पर कानूनन पाबन्दी लगाई जा चुकी थी; हिन्दू की अस्मिता का इस सीमा तक क्षरण किया जा चुका था, कि अब सरकार उन्हें बता रही थी कि किस देवता की पूजा करें, और किसकी न करें. सुनियोजित रूप से चलाए गए जातिवादी आन्दोलनों के द्वारा हिन्दू समाज को विघटित करके, उसके संस्थागत स्वरूप को नष्ट किया जा चुका था. यदि यह सब, राष्ट्र को धर्मनिरपेक्ष स्वरूप देने, एक धर्मनिरपेक्ष समाज का निर्माण करने, तथा निष्पक्षरूप से एक धर्मनिरपेक्ष विधान की दिशा में किए जा रहे ईमानदार प्रयत्नों का हिस्सा होता, तो इसमें

विशेष आपत्ति नहीं हो सकती थी. किन्तु जो हो रहा था वह अद्भुत था. एक ओर हिन्दूराष्ट्र के भ्रम का प्रयोग करते हुए, हिन्दू आस्था का सरकारीकरण हो रहा था; हिन्दू अस्मिता को, धर्मनिरपेक्ष सरकारी व्यवस्था में आत्मसात् किया जा रहा था, तो दूसरी ओर, बहुसंख्यकाधिकारनिरपेक्ष, अल्पसंख्यकाधिकारों की चरम अवधारणा, एक नए प्रकार की संविधानानुमोदित साम्प्रदायिकता को जन्म दे चुकी थी. इसने देश में विशेषाधिकार सम्पन्न एक साम्प्रदायिक वर्ग की स्थापना की, जिसको सहारा देने के लिए एक अभूतपूर्व मूल्यसंहिता और वैचारिक मानदण्डों का सृजन किया गया. इनके अनुसार, अकालीदल और मुस्लिमलीग, संविधानानुमोदित साम्प्रदायिकता से जुड़े होने के कारण, साम्प्रदायिक नहीं कहे जा सकते, जब कि हिन्दूहित की गलती से भी बात करने वाले, साम्प्रदायिक होने के अलावा कुछ और हो ही नहीं सकते. हिन्दू होकर जिसने पहली पत्नी के होते हुए दूसरी शादी कर ली, तो वह सजा का भागी था. मुसलमान होते ही उसका अपराध, अपराध नहीं रहा, बल्कि वह अब दो और शादियों का लाइसेंस अपने साथ ले आया. इन मध्यकालीन विकृतियों और भेदभावपूर्ण व्यवस्थाओं की सुरक्षा के लिए, राज्य तथा केन्द्रीय सरकारों द्वारा अल्पसंख्यक आयोगों की स्थापना की गई. जब भी कहीं अल्पसंख्यक वर्ग में परिगणित किसी सम्प्रदाय का हिन्दू आस्थासंघ के किसी सम्प्रदाय के साथ टकराव होता, यह अल्पसंख्यक आयोग स्वतः चालू हो जाता. यह जांच भी करता, और वकील की तरह अल्पसंख्यक समुदाय का पक्ष रखता, फिर उसको ही सही साबित करने की पूरी कोशिश करता, क्योंकि यह था ही अल्पसंख्यक आयोग. इतना ही नहीं, फैसला भी स्वयं सुनाता, और इतर सम्प्रदायों के विरुद्ध कार्यवाही की भी संस्तुति करता. संविधान की विकृत मूलमान्यताओं ने एक विचित्र न्याय व्यवस्था को जन्म दिया, जिसमें एक ही पक्ष का वकील जांच कर्ता भी था, और जज भी; एक ऐसी व्यवस्था जिसमें न्याय की बात तो दूर रही, एक ईमानदार सुनवाई तक का अधिकार आरोपी को प्राप्त नहीं था.

इस व्यवस्था में पहली बार सन् १९९८ में एक दिलचस्प व्यतिक्रम तब पैदा हुआ, जब उड़ीसा में ऑस्ट्रेलियाई ईसाई मिशनरी ग्राहम स्टेन्स और उनके बच्चों की जघन्य हत्या के मामले में, भारत सरकार ने सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश से जांच कराने का निर्णय किया. आरोपी सदा की तरह 'हिन्दू' ही था. देश की धर्मनिरपेक्ष ताकतें बेचैन हो उठीं. सब तरफ से विरोध के तीखे स्वर सुनाई देने लगे. कितना बड़ा पाप हो रहा था. स्वतन्त्र भारत के इतिहास में पहली बार हिन्दू

को, एक तटस्थ जज के सामने, प्रतिवादी के रूप में खड़े होकर अपनी बात कहने का मौका दिया जा रहा था. यह बात तो भारत के संविधान की अनकही मूल्यमान्यता के विरुद्ध थी, जो यह मानता है कि बहुसंख्यक हिन्दू सदा अपराधी है, और अल्पसंख्यक सम्प्रदाय सदा निरीह, कमजोर और सताया हुआ है. अल्पसंख्यक के साथ न्याय तभी हो सकता है, जब बहुसंख्यक को पहले से ही अपराधी मान लिया जाए, और एक प्रतिबद्ध अल्पसंख्यक आयोग ही जांचकर्ता भी हो और जज भी. जिस प्रकार मध्ययुगीन योरुप के ईसाई देशों में यहूदी जाति को शश्वद् अपराधी माना जाता था, भारत का संविधान देश के बहुसंख्यक हिन्दू को शश्वद् अपराधी, शश्वद् अभिशप्त मानता है, जिसके अभियोजन के लिए अल्पसंख्यक-आयोगों के रूप में स्थायी अदालतें स्थापित हैं. जो संविधान देश के बहुसंख्यक हिन्दू को सनातन अपराधी के रूप में कटघरे में खडा करके रख रहा है, हिन्दू-स्वाभिमान की बातें करने वाले जब उसके प्रति वफादारी की शपथ लेते हैं, तो समझ में नहीं आता, आश्चर्य उनकी जड़ता पर करें या पाखण्ड पर. इस न्याय व्यवस्था की तुलना अगर किसी से की जा सकती है, तो इस्लामी देशों की शरियत अदालतों से, जो यह मान कर चलती है कि मुसलमान कभी गलत नहीं हो सकता, और गैर-मुस्लिम प्रतिवादी को न्यायव्यवस्था में मुसलमान के साथ बराबर की हैसियत नहीं दी जा सकती.

द्विराष्ट्र-सिद्धान्त पर आधारित, बहुसंख्यकाधिकार निरपेक्ष-अल्पसंख्यकाधिकारों की अवधारणा ने जिस अन्यायपूर्णव्यवस्था को जन्म दिया, उसने अनायास ही हिन्दू को हिन्दुस्तान में ही दोयम दर्जे का नागरिक बनाकर रख दिया.

धर्मसमूहों के बीच भेदभाव और अन्याय की यह व्यवस्था , जिसे समर्थकों ने 'धर्मनिरपेक्षता' नाम दे रखा है, वस्तुतः नेहरूपंथी हिन्दुओं, कट्टरपंथी मुसलमान और प्रसारवादी ईसाइयों के बीच सत्ता के गठजोड़ का साम्प्रदायिक फार्मूला था. इस व्यवस्था में, मुस्लिमधर्मिक नेतृत्व का निषेधाधिकार सम्पन्न अनुमोदन, समस्त राजनैतिक व्यवहार के लिए धर्मनिरपेक्षता के अर्थ का नियामक था. विभाजित हिन्दू समाज पर, सर्वाधिक संगठित, अल्पसंख्यक (मुस्लिम) समुदाय की मदद से हिन्दुस्तान पर राज करने का यह एक सफल फार्मूला साबित हुआ. सत्ता के इस फार्मूले के अर्थक्रियाकरित्व की सिद्धि इसी बात से हो जाती है, कि इसकी बदौलत लगभग ५० वर्षों से नेहरूपंथी भारत की सत्ता पर काबिज हैं. इस बीच जो गैर कांग्रेसी सरकारें सत्ता में आयी

वे इसलिए सत्ता में आ सकीं क्योंकि वे नेहरूपंथी साम्प्रदायिकता की, कांग्रेस से अधिक मुखर समर्थक थीं. हाल के दिनों में सत्ता पर अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए बेचैन, अटलबिहारी वाजपेई के नेतृत्व में भारतीय जनता पार्टी ने, हिन्दुत्व के एजेंडा को तिलांजलि देकर जिस फुर्ती से अपने को नेहरूपंथ में दीक्षित किया है, उसे दलबदल की बजाय सामूहिक धर्मान्तरण कहना ज्यादा उपयुक्त होगा. यह सत्ता के एक अप्रतिहत फार्मूले के रूप में नेहरूपंथ की सामर्थ्य का पैमाना है.

वस्तुतः गांधीवाद और नेहरूपंथ, राजनीतिदर्शन के सिद्धान्त न हो कर, मूलतः हिन्दूधर्म से ही उपजी विकृतियां है, जो उसके सामाजिक बिखराव, धार्मिक नेतृत्व के अभाव तथा वैचारिकशून्यता की परिस्थितियों से पैदा हुई हैं. ये धर्माभास, जिन्हें गीता में प्रज्ञावाद शब्द से कहा गया है, स्वातंत्र्योत्तर भारतीय उपमहाद्वीप में हिन्दुओं के वैचारिक विभ्रम, उनकी दुर्दशा, पराभव, चरमदैन्य तथा तज्जनित उद्धत प्रतिक्रियात्मक आचरण की, अतिप्रचारित घटनाओं के लिए साक्षात् जिम्मेदार हैं. श्रीमद्भगवद्गीता में कर्तव्यरूप से प्राप्त युद्ध से पलायन के समर्थन में अर्जुन जो तर्क प्रस्तुत करता है, ऐसा ही एक धर्माभास है जिससे फैले धुंध के निवारण के लिए गीतोपदेश का अवतरण होता है. विचार करके देखें तो अर्जुन के युद्धोपरति चिन्तन के दो भाग हैं : अहिंसा और सह-अस्तित्व की परिधि में आततायियों के संग्रह की परिकल्पना (*पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः*) तथा इस संग्रह को सुनिश्चित करने के लिए, स्वयं क्षत्रिय होते हुए भिक्षावृत्ति, तदुपलक्षित समर्पण में श्रेयबुद्धि. अर्जुन के मोहजनित युद्धोपरति-चिन्तन के यह दो परस्पर सम्बद्ध पक्ष, **संग्रह** और **समर्पण**', क्रमशः गांधीवाद और नेहरूपंथ के सैद्धान्तिक उपादान हैं.

वैमत्य की स्वीकृति, परम्परा के साथ उसका संवाद, परिणामस्वरूप प्रतिबद्धताओं की शिथिलता तथा वैमत्य का परम्परा में संग्रह – यह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया हिन्दू आस्थासंघ का मूलाधार है, जो वैदिक और अवैदिक, आस्तिक और नास्तिक जैसी अत्यंत विरुद्ध कोटियों के अन्तर्गत आने वाले सम्प्रदायों, विविध आगमों पर आधारित उपासना पद्धतियों, ज्ञान, कर्म और उपासना की अनेकविध एवं बहुआयामी आस्थाओं को अपनी संघीय संरचना में संजोए हुए है. गांधीवाद, इस्लाम और ईसाई धर्मों को भी इस संघीय संरचना में स्थापित करने का प्रयास करता है, जो

दिखने में हिन्दूधर्म के विकास के क्रम में प्राप्त होने से कतई अप्रत्याशित या आपत्तिजनक नहीं लगता. किन्तु गांधी यह भूल जाते हैं, कि इस आस्थासंघ में प्रवेश की कुछ मूलभूत शर्तें हैं, जिन्हें उपासना-बहुत्वोच्छेदवादी धर्म — विशेषकर इस्लाम और ईसाइयत — क्रमशः अपनी मूलवादी एवं प्रसारवादी प्रवृत्तियों के कारण, पूरा नहीं करते. इस्लामधर्म, मूर्तिपूजा और बहुदेवोपासना, जिसे वह शिर्क कहता है, के बलपूर्वक निराकरण का न केवल अनुमोदन करता है, अपितु इस्लामेतर, हर प्रकार की आस्था के विरुद्ध लड़ते रहने का, हर प्रकार की विचारधारा, जो इस्लाम से मतभेद रखती हैं, के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष (जेहाद) का, हर मुसलमान के लिए एक अनिवार्य कर्तव्यरूप में विधान करता है. इससे बडा मजाक क्या होगा (ऐसे मजाक हिन्दुस्तान में ही सम्भव हैं) कि इस बात के सबूत मांगे जाएं, कि अयोध्या में राम मंदिर तोड़कर मस्जिद बनाई गई थी. यदि इस्लाम धर्म, सबूतों के प्रति जवाबदेह होने लगा, तो क्या काबे की मस्जिद भी बची रह पाएगी, जहां आज भी प्रतिदिन सहस्त्रों मुसलमानों के चुम्बनों से अभिषिक्त होता शिवलिंग, काबे की मस्जिद के शिवालय अतीत के साकार सबूत के रूप में खड़ा है. बहुदेवोपासना के विरुद्ध जेहाद करना, मंदिरों को ध्वस्त करके उनमें स्थापित मूर्तियों को खण्डित करना, इस्लामधर्म की मूल प्रतिबद्धता है. मुस्लिम इतिहासकारों के लेखन में, महमूद गजनवी से लेकर औरंगजेब तक, मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा हिन्दू मंदिरों के विध्वंस के कारनामों का एक सजीव और विस्तृत विवरण उपलब्ध है. यह एक विचित्र स्थिति थी, जब १९९२ में, रामजन्मभूमि-बाबरीमस्जिद ढांचे के ध्वस्त होने पर हजारों धर्मनिरपेक्षी हिन्दू धाड़ मार-मार कर रो रहे थे, इस घटना को एक राष्ट्रीय-शर्म कहते हुए मुसलमानों से माफी मांग रहे थे (माफी मांगने का यह सिलसिला अभी भी कायम है), हिन्दुस्तान के १५ करोड मुसलमानों में से, जिनमें कुछ धर्मनिरपेक्षी भी रहे होंगे, एक भी ऐसा नहीं था, जिसने मुस्लिम शासन काल के दौरान, हजारों की तादाद में तोड़े गए हिन्दू मंदिरों के विध्वंस के लिए माफी मांगी हो, या खेद का इजहार किया हो. एक मुसलमान के लिए, मंदिर विध्वंस के लिए माफी मांगने का अर्थ होता है, इस्लाम से विमुख होना, उसके बहुदेवोपासनाविध्वंसक विधान से इन्कार करना.

विधर्मियों के उपासना-स्थलों को नष्ट करना, उन्हें प्रताड़ित करके इस्लाम धर्म ग्रहण करने को विवश करना, इस्लाम की शिक्षा और लगभग डेढ हजार साल का इतिहास, दोनों के समन्वित तात्पर्यार्थ का बोझ है. यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि इस्लाम धर्म अपने प्रारम्भकाल से ही

इस धरती पर आतंक का पर्याय रहा है. आज भी सैकडों मुस्लिम संगठन विभिन्न देशों में इस्लामी जेहाद के नाम पर आतंकवादी गतिविधियों में लिप्त हैं. मुस्लिम समुदाय सामान्यतया इन पर लज्जित होने की बजाय गौरवान्वित महसूस करता है. सारे संसार में आतंक का पर्याय बना आज का इस्लाम, इस्लाम धर्म का यथार्थ है, कोई भटकाव नहीं, जिसकी उपेक्षा कर दी जाय. वस्तुतः वैमत्य की स्वीकृति, उसकी अभिव्यक्ति और अस्तित्व के अधिकार की मान्यता, केवल समुदायों के संघीय परिकल्प की ही नहीं, एक सभ्य समाज की मूलभूतशर्त है, जिसे इस्लाम तथा ईसाई धर्मों ने कभी स्वीकार नहीं किया. ईसाईधर्म की सर्वधर्मोच्छेदवादी आकांक्षाएं और वैमत्यासहिष्णुता, इस्लाम के जैसी ही हैं. हां उनकी कार्यशैली, इस्लाम की अपेक्षा निश्चय ही अधिक परिष्कृत हुई है.

उक्त विवरण से स्पष्ट है, कि इस्लाम और ईसाइयत के हिन्दू आस्थासंघ में अथवा उसके साथ संग्रह के गांधीवादी प्रयास, न तो इस बात पर विचार करते हैं कि आस्था की एक संघीय संरचना में संग्रह की मूलभूत अपेक्षाएं पूरी हो रही हैं, या नहीं, और न ही इस बात पर ध्यान देते हैं, कि जिन सम्प्रदायों को संग्रह के लिए चुना जा रहा है, उनकी मूलवादी स्वरूपनिष्ठा में, संघीय संरचना के लिए उपयुक्त, आस्था के व्यापक, तात्त्विक अर्थ के लिए अवकाश है भी या नहीं. इस प्रकार तथ्यों की उपेक्षा एवं अज्ञान पर आधारित गांधीवादी धर्मसंग्रह, द्विधा अप्रामाणिक था, तथा एक अविचारित प्रयोग की असफलता ही इसकी नियति हो सकती थी. जहां तक मुस्लिम समुदाय की बात थी, उसने गांधी की अहिंसा, आस्था के सार्वभौमिक अर्थ, दूसरे धर्मों के साथ आस्था के स्तर पर सहभाग की बात, तथा सर्वधर्म-प्रार्थनासभाओं को कभी स्वीकार नहीं किया. (ध्यान देने की बात है कि सर्वधर्म-प्रार्थनासभाओं के आयोजन केवल हिन्दू नेताओं के मरणोत्सवों पर ही होते देखे जाते हैं, मुस्लिम नेताओं की मजारों से इन्हें दूर ही रखा जाता है). ईसाई धर्मावलंबियों ने भी गांधी के सभी धर्मों के प्रति सम्मान के सिद्धान्त और इसकी अनिवार्य उपपत्ति— धर्मान्तरण के निषेध — को कभी स्वीकार नहीं किया. अन्य धर्मों के प्रति सम्मान का अर्थ है उनके अनुयायियों की आस्था को विचलित करने के प्रयास न करना. स्पष्ट है कि संग्रह के गांधीवादी प्रस्ताव को मुस्लिम और ईसाई समुदायों ने कभी स्वीकार नहीं किया. पारिशेष्यात्, गांधीवाद अब केवल हिन्दुओं का बोझ है; उनके बीच यह एक विकृति, एक धर्माभास के रूप में पल रहा है, और उन्हें दिगभ्रमित करने की भूमिका को आज भी बखूबी निभा रहा है. राष्ट्रीय-स्वयंसेवकसंघ के आयोजनों में अक्सर इस प्रकार की बातें सुनने को मिल जाती हैं, यथा —

"इस देश में प्रचलित अनेकानेक उपासना पद्धतियों के मध्य, इस्लाम भी एक उपासना पद्धति है, और इस रूप में उसे मुहम्मदपंथी हिन्दू सम्प्रदाय के रूप में स्वीकार किया जा सकता है". इस प्रकार का चिन्तन निश्चित रूप से गांधी के अप्रामाणिक धर्मचिन्तन की गूंज है, जो हिन्दू-आस्थासंघ की सीमाओं और इस्लाम की आकांक्षाओं दोनों की अनदेखी करता है. अपनी अस्मिता के प्रति अत्यन्त जागरूक, इस्लाम धर्म ने गांधीवाद को कभी गंभीरता से नहीं लिया, और सही समय पर नेहरू की मदद से इसे हमेशा के लिए सुपुर्द खाक कर दिया. लेकिन हिन्दू की किस्मत देखो ! उसके अनन्य हितचिन्तक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के मनीषी आज भी गांधीवादी विभ्रम को बड़े चाव से हिन्दुओं को परोस रहे हैं, और इस तरह मानो वे कोई बड़ी मौलिक बात कह रहे हों.

* * *

श्रीमद्भगवद्गीता, मूलतः आस्थाओं के संग्रह तथा उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति के निदर्शन का ग्रन्थ है. महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ग्रन्थारम्भ में ही गीता में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है कि इस प्रकार के संग्रह की प्रामाणिक सीमायें क्या है. द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा बड़े से बड़े सैद्धान्तिक वैमत्य का आस्था में संग्रह हो सकता है, किन्तु आततायी का संग्रह सम्भव नहीं है. अर्जुन का यह कथन कि " इन आततायियों को मारने से तो पाप ही मिलेगा" (***पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः***) अनजाने ही समस्या की तार्किक सीमाओं को रेखांकित करते हुए, उसके इस निष्कर्ष की अप्रामाणिकता के आधारों की ओर संकेत करता है. यहां मूल समस्या दो प्रश्नों से जुड़ी हुई है. क्या अहिंसा जैसे आस्था के सार्वभौमिक परिकल्प में सतत आक्रमणोद्यत आततायी का संग्रह सम्भव है, और क्या आततायी का, जिसका धर्म ही दूसरों के स्वत्व का हरण और अस्तित्व का उच्छेद करना है, के प्रति समर्पण प्रामाणिक धर्माचार है ? श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन के युद्धोपरति चिन्तन के व्याज से उठाई गई इस समस्या पर निकट से विचार हुआ है.

एक आततायी-चुनौती — वह व्यक्ति के रूप में हो या समूह के रूप में, निरंकुश राजसत्ता के रूप में हो या फिर इतर धर्मोच्छेदवादी सम्प्रदाय के रूप में — सामना करने वाले के लिए तीन विकल्प छोड़ती है : आत्मोत्सर्ग, समर्पण और संघर्ष. कौरवों के साथ युद्ध टालने के उद्देश्य से प्रवृत्त अर्जुन का चिन्तन, आत्मोत्सर्ग और समर्पण पर आधारित है, जैसा कि नीचे दिए उद्धरणों

से स्पष्ट है —

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।। १.४६

(यदि मुझ शस्त्ररहित, न सामना करनेवाले को शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मारें, तो वह मारना भी मेरे लिए अति कल्याणकारक होगा.)

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तुगुरूनिहैव-भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्।।२.५

(इसलिए इन महानुभाव गुरुजनों को न मारकर इस लोक में भिक्षा का अन्न भी भोगना कल्याणकारक समझता हूं, क्योंकि गुरुजनों को मारकर भी इस लोक में रुधिर से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगों को ही तो भोगूंगा.)

उक्त दो उद्धरण, आततायी के साथ युद्ध के बजाय, क्रमशः आत्मोत्सर्ग और समर्पण के द्वारा आततायी के संग्रह में अर्जुन की श्रेय बुद्धि का निदर्शन कराते हैं. यह अर्जुन के युद्धोपरति चिन्तन के सैद्धान्तिक आधार हैं, साथ ही गीता के अनुसार, उसकी अप्रामाणिकता के नियामक भी.

जहां गांधीवाद, संघर्ष की घड़ी में अविचारित धर्मसंग्रहरूप 'आत्मघात' का दर्शन है, वहीं नेहरूपंथ मूलतः 'समर्पण' का दर्शन है, जो अर्जुन के युद्धोपरति चिन्तन की दूसरी धारा को लेकर आगे बढता है. नेहरूपंथ के पक्ष में यह स्वीकार करना पडेगा, कि गांधीवाद की अपेक्षा यह अधिक यथार्थवादी है. नेहरू इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि इस्लाम धर्म का संग्रह न तो आस्था के किसी सार्वभौमिक परिकल्प में हो सकता है, जैसा कि गांधी सोचते थे, और न ही व्यक्ति को इकाई मानते हुए उसकी स्वतंत्रता और समानता के मानववादी मूल्यों पर आधारित संवैधानिक व्यवस्था में. अतः गांधीवाद और मानववाद, दोनों को असंभव आदर्श मानते हुए, नेहरू ने उन्हें सिरे से निरस्त कर दिया. यह नेहरूवादी चिन्तन के निर्माण की दिशा में पहला कदम था. इसका दूसरा कदम था, ऐसी संवैधानिक व्यवस्थाओं का निर्माण जिनकी छत्रछाया में संविधान के सार्वभौमिक, मानववादी मूल्यों के विरुद्ध, इस्लाम धर्म को, उसकी समस्त प्रतिगामी प्रतिबद्धताओं के साथ संरक्षण दिया जा सके. एतदर्थ संविधान में अल्पसंख्यकाधिकारों की विशेष व्यवस्था की गई. यह व्यवस्था, जनतांत्रिक मान्यताओं के विरुद्ध, व्यक्ति के स्थान पर परिगणित धार्मिक समूहों को वैधानिक इकाई के रूप में मान्यता देती थी. इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि इन समुदायों

के अन्तवर्ति *व्यक्ति* को जीवन के, विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के, लिंगभेद-रहित समानता के जो नागरिक अधिकार संविधान से प्राप्त थे, वे विधिक और व्यावहारिकरूप में संकुचित होकर सामुदायिक अनुशासन के अन्तर्गत आ गए. देश के राजनैतिक बंटवारे के बाद, यह भारतीय समाज का साम्प्रदायिक आधारों पर बंटवारा था, ठीक उन्हीं द्विराष्ट्रवादी सैद्धान्तिक आधारों, पर जिन पर पाकिस्तान का निर्माण हुआ था. इस्लाम, इस्लामेतर किसी सामान्य मूल्यव्यवस्था के अन्तर्गत, अन्य समुदायों के साथ सहअस्तित्व की बात को स्वीकार नहीं कर सकता. इस मूलवादी-मुस्लिमप्रतिबद्धता के सामने समर्पण, उसके विरुद्ध खडे होने की असमर्थता, देश के राजनैतिक और उसी क्रम में फिर सामाजिक बंटवारे का सामान्य आधार था. हिन्दुस्तान के संविधान पर निकट से विचार करें, तो यह बंटे हुए भारत के दूसरे बटवारे का दस्तावेज है, जो अर्थतः सामान्य, मानववादी मूल्यों पर आधारित, धर्मनिरपेक्ष-समाज की अवधारणा का, विशेष व्यवस्थाओं के द्वारा निषेध करता है. यह विरोधाभास मात्र संयोग नहीं है कि जहां तथाकथित हिन्दू-साम्प्रदायिक संगठन धर्मनिरपेक्ष समाज और उसके सैद्धान्तिक आधार, समान नागरिक-संहिता की वकालत करते हैं, वहीं, अहर्निश धर्मनिरपेक्षता की माला जपने वाले संगठन इसका विरोध करते हैं. यह स्थिति भारतीय संविधान के अन्तर्निहित विरोधाभास का प्रतिबिम्ब है. **नेहरूपंथ धर्मनिरपेक्षता की मूल प्रतिबद्धताओं – धर्मनिरपेक्षसमाज, धर्मनिरपेक्षकानून, धर्मनिरपेक्षशिक्षा, धर्मनिरपेक्ष- समाजनियोजन – के विचार के प्रति न केवल उदासीन है, अपितु इनका स्पष्ट विरोधी है.** उसके लिए भारत आज भी विभाजित है : एक ओर है बहुसंख्यक भारत, जिसे हिन्दू-भारत भी कह सकते हैं, जिसमें सामाजिक न्याय के नाम पर हर प्रकार के उल्टे सीधे प्रयोगों की खुली छूट है; दूसरी ओर है, संविधानानुमोदित साम्प्रदायिकता का अल्पसंख्यक नामधारी भारत, जिसकी अभेद्य दीवाल के अन्दर संविधान-प्रदत्त मूल अधिकारों का भी प्रवेश वर्जित है, या उन्हें उसी सीमा तक जाने की अनुमति है, जिस सीमा तक अल्पसंख्यकों का धार्मिकनेतृत्व अनुमति देता है. (सल्मान रश्दी को, भारत का संविधान भले ही अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और 'जीवन' का अधिकार देता हो, नेहरूपंथ सिद्धान्ततः रश्दी के लिए इन अधिकारों का समर्थन नहीं कर सकता). कहने का तात्पर्य यह कि धर्मसंग्रह के गांधीवादी प्रयोग से सर्वथा भिन्न, नेहरूपंथ संगठित कट्टरवाद, विशेषकर इस्लामधर्म के मूलवादी चिन्तन और अलगाववाद के प्रति, बिना शर्त, समर्पण का दर्शन है. नेहरूपंथ, चाहे वह स्वनिर्मित संवैधानिक व्यवस्थाओं में हो, या फिर राजनैतिक व्यवहार में, अपने इस स्वरूप में सदा अव्यभिचरित है. **यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि नेहरूपंथी राजनैतिक दल स्वतंत्र भारत**

में इस्लामी जेहाद के हरावल दस्ते हैं, जो मुसलमानों के लिए बहुविवाह, त्रिवाचातलाक के अधिकार, जबरनपर्दा, शरीयत-अदालतों, और धार्मिक वैमत्य के बलपूर्वक उन्मूलन जैसे मध्यकालीन दुराग्रहों के मुसलमानों से भी बड़े पक्षधर हैं.

उक्त व्यवहार केवल राजनैतिक मिथ्याचार ही नहीं, धार्मिक मिथ्याचार भी है और इस रूप में गांधीवाद नेहरूपंथ, हिन्दूधर्म की अप्रामाणिक आस्था संतति का अंग है, जिसकी चर्चा श्रीमद्भगवद्गीता का आरम्भ बिन्दु है. ये आस्थाभास अप्रत्याशित नहीं हैं. समुद्र की लहरों में मोतियों के साथ सीपियों के खोल उछलते, खड़खड़ाते चलते रहते हैं. एक ऐसा धर्म, जो एक अविचल विधान का अनुपालन मात्र न होकर वैयक्तिक चेतना में उसका अवगाहन है, सृजन है, आस्था जो वैमत्य के प्रति सहज संवेदनशील है, और अपनी सर्जनात्मक अवगति में उसके संग्रह के लिए सतत प्रयत्नशील रहती है, उसके निषेध प्रतियोगीरूप में किसी वैमत्य को निरूपित नहीं किया जा सकता. आस्था के इस द्वन्द्वात्मक स्वरूप में 'कुफ्र' 'हैरेसी' जैसे शब्दों से अभिहित, आस्था-प्रतियोगिक अर्थ की उपपत्ति नहीं बनती. इस अवधारणा में जिस प्रकार का अन्तर स्वीकार्य हो सकता है, वह है, आस्था के प्रामाणिक और अप्रामाणिक स्वरूप का, उसके स्वरूप और प्रतिभास का. यह विवेक ही गीतोपदेश का आरम्भबिन्दु है. आज के हिन्दूधर्म के लिए, जो *आत्मोच्छेद* को संग्रह , और *समर्पण* को त्याग के रूप में प्रस्तुत करने वाले, गांधीवाद प्रभृति सिद्धान्ताभासों के जंगल में भटक रहा है, यह विवेक और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है. इसके लिए आवश्यक है कि नई चुनौतियों को ध्यान में रखते हुए, बदलते हुए सामाजिक और राजनैतिक संदर्भों में आस्था के अनवरत व्याख्यान की परम्परा. यह बात इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि हिन्दू आस्था केवल अनुपालन नहीं अवगति है, शास्त्रलब्ध-धर्म की वैयक्तिक और सामाजिक सन्दर्भों में सिद्धि. आस्था की यह गत्यात्मक अवधारणा, प्रामाणिक व्याख्यान और उसकी साधक व्यवस्था के बिना अधूरी है. इस प्रकार, युगप्रमाण साकार धर्म के व्यवस्थापक और उपदेष्टा, ऐसे ही व्यक्ति हो सकते हैं, जिन्हें शास्त्रों के अलावा इतिहास का, देश काल का, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का, संक्षेप में उपदेश के *क्षेत्र* और *परिवेश* का समुचित ज्ञान हो. ऐसे ही व्यक्ति को गीता में '*कृत्स्नवित्*' कहा गया है. *अकृत्स्नविद्* को यह अधिकार तो है कि वह अपनी आस्था में स्थिर रहता हुआ, बिना किसी व्यवधान के उसके अनुसार आचरण करता रहे. किन्तु काल विशेष के लिए आस्था के प्रामाणिक स्वरूप का निर्धारण और उपदेश

तो केवल *'कृत्स्नविद्'* का अधिकार है.

आज जहां संस्कृत पण्डितवर्ग और सम्प्रदायाचार्य, परिवेश के साथ नितान्त संवादहीनता के संसार में जी रहे हैं, वहीं पत्रकार राजनेता, पढ़े और बेपढ़े लोग अपने सुने सुनाए शास्त्रज्ञान और अधकचरी इतिहास की समझ के आधार पर सर्वत्र हिन्दूधर्म पर व्यवस्थाएं देते मिल जाएंगे. ये दोनों ही वर्ग ''अकृत्स्नविद्' कोटि में आते है, जो हिन्दू आस्था के दार्शनिक एवं साम्प्रदायिक उपादानों का मनमाने ढंग से अस्थान में विनियोग करते हुए, उसके लिए गंभीर संकट पैदा कर रहे हैं. एक उदाहरण पर्याप्त होगा. रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद के क्रम में, हिन्दुओं में ही बहुत से लोग यह कहते मिले कि राम तो अजन्मा हैं, सर्वव्यापी हैं, फिर उनकी जन्मभूमि को लेकर विवाद का क्या औचित्य हो सकता है. इस प्रकार के विचार, न केवल हिन्दूधर्म के अवतारवाद जैसे मूलसिद्धान्त के अज्ञान पर आधारित हैं, अपितु तत्त्वचिन्तन के अस्थान में प्रयोग के अधिक गम्भीर अपराध, अर्थात् *प्रज्ञावाद* का स्पष्ट उदाहरण है. यहां मूल प्रश्न है आततायियों द्वारा किए गए एक ऐतिहासिक अन्याय और अपमान के परमार्जन का. समस्या व्यवस्था के अन्तर्गत हो रहे अन्याय की है, तत्त्वचिन्तन की नहीं. अन्याय का यह एहसास इस जानकारी के साथ और भी पैना होजाता है, कि आततायियों की परधर्मोच्छेदक आस्था को, उनके अत्याचारी अतीत को, अब यहां अल्पसंख्यकाधिकार रूप में संवैधानिक संरक्षण प्राप्त है. एक संवैधानिक-व्यवस्था, जो दलितों पर हजारों साल पहले हुए अन्याय को मिटाने के लिए प्रतिबद्ध है, वह चंद सदियों पहले हिन्दू धर्मस्थलों को ध्वस्त करके, उनके स्थान पर बलपूर्वक बनाए गए, धार्मिक-अत्याचार के स्मारकों का संज्ञान तक लेने को तैयार नहीं है. अन्याय के असंज्ञान और संविधानानुमोदित साम्प्रदायिकता के विरुद्ध उठ खड़े होने को जब हिन्दू का कर्तव्य उसे पुकारता है, तो कभी तत्त्वचिन्तनाभास, कभी गांधीवादी संग्रह, कभी नेहरूपंथी समर्पण तो कभी इनके अवान्तर विकृतरूप, उसे दिग्भ्रमित करने के लिए, उसे कर्तव्यपथ से विमुख करने के लिए सामने आकर खड़े हो जाते हैं. गीता का अर्जुन, उस हिन्दू मानस का सहज प्रतीक है, जो कर्तव्य की कठिन चुनौतियों से बचने के लिए आसान रास्ते ढूंढ़ता है, और पलायन के समर्थन में दर्शनों को गढ़ लेने में माहिर है. इटैलियन मूल की श्रीमती सोनियां गांधी को भारत का प्रधानमंत्री बनाए जाने के समर्थन में जब *'वसुधैव कुटुम्बकम्'* इस शास्त्रवचन का सहारा लिया जाता है, तो यह इसी परिचित क्रम में, बौद्धिक बेईमानी, शास्त्र के अस्थान में विनियोग और विभ्रम-समुत्पाद का उदाहरण है. हिन्दू के

इस आत्मविभ्रम को उजागर करने, इससे उत्पन्न *आत्मघात* और *समर्पण* के दर्शनों के समुचित विश्लेषण करने, तथा इन धर्माभासों से भिन्न, हिन्दू-आस्था के वास्तविक स्वरूप की सिद्धि के लिए श्रीमद्भगवद्गीता ही हमारे लिए एक मात्र शरण है. इसका प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्याय के दस श्लोक, पूर्वपीठिका रूप में धर्माभासों के उद्भव की मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का रेखांकन करते हैं, तथा दूसरे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक से लेकर अठारहवें अध्याय के अन्त तक, हिन्दू-आस्था के उपादानों तथा सामाजिक एवं वैयक्तिक चेतना में उनके प्रामाणिक संग्रह की शर्तों का निर्वचन है.

कहने का मतलब यह कि गांधीवादी धर्मसंग्रह, कतिपय हिन्दूवादी संगठनों के प्रतिक्रियामूलक तेवर, इस्लामी कट्टरवाद और ईसाई प्रसारवाद के सामने, हिन्दू को बलि के पशुवत् प्रस्तुत करने वाले नेहरूपंथियों का समर्पणवाद, और सबके सिरमौर "आओ राष्ट्रीय बहस हो जाय, मगर हमसे न पूछो हम कहां खड़े हैं" इन तेवरों वाले भाजपाई, मूलतः हिन्दूधर्म के भीतर की विकृतियां हैं, जो धर्म की प्रामाणिक समझ और उसके अनुशासन के अभाव में उसकी अधिकृत पहचान के रूप में अपने को प्रस्तुत करके हिन्दूसमाज को दिग्भ्रमित कर रही हैं. यहां यह जिज्ञासा सहज मन में आती है कि आखिर हिन्दूधर्म के स्वरूप को लेकर इतना घना कोहरा, इतना दिग्भ्रम क्यों है? हिन्दूधर्म की समझ को लेकर समस्या क्यों? इस्लाम और ईसाइयत जैसे धर्मों के बारे मे तो कभी ऐसी समस्या सुनी नहीं गई. जब धर्म की समझ ही एक समस्या है, तो उसमें आचरण की व्यवस्था कैसे बनेगी ? यह और ऐसे अनेक प्रश्नों के उत्तर, हिन्दूआस्था के अन्यान्यधर्मों से विलक्षण, गत्यात्मक एवं बहुआयामी स्वरूप से जुड़े हुए हैं.

* * *

आस्था की यह बहुआयामी संरचना, उसके सरल, साम्प्रदायिक, संहिताबद्ध संस्करणों की अपेक्षा अधिक व्यापक भी है और जटिल भी. इसके स्वरूप और व्यवहार को समझना कुछ उसी तरह कठिन है, जैसे एक-कोषीय की तुलना में, जटिल जैविक संरचनाओं को समझना मुश्किल होता है, और मानव को समझ पाना तो आज की एक पहेली है. कुछ इन्हीं अर्थों में हिन्दूधर्म का स्वरूप और उसका अनवद्य निर्वचन एक समस्या के रूप में सामने आता है. हिन्दूधर्म की समझ, धर्मदर्शन की अपेक्षा रखती है.

इस रूप में डा. अम्बेडकर को हिन्दूधर्म एक पहेली लगता है, तो इसमें कुछ भी अप्रत्याशित नहीं है. किन्तु उनका यह निष्कर्ष कि हिन्दूधर्म की कोई सर्वमान्य समझ बन ही नहीं सकती उचित नहीं है. यह आश्चर्य की बात है कि डा. अम्बेडकर जैसे पैने वकील को अपने चिन्तन की यह स्थूल विसंगति दिखाई नहीं दी, कि सिद्धान्ततः हिन्दूधर्म को निर्वचन के अयोग्य मानने के बाद, उन्होंने हिन्दूधर्म पर सुविस्तृत आलोचनात्मक साहित्य लिख कैसे डाला. क्या उन्होंने हिन्दूधर्म को समझे बिना ही इतना सब लिख डाला. डा. अम्बेडकर का हिन्दूधर्म का खण्डन, आधी अधूरी एवं अप्रामाणिक समझ पर आधारित पूर्वाग्रहों का पुलिंदा है, और कतई गंभीरता से लेने योग्य नहीं है, यह निष्कर्ष स्वयं उन्हीं के लेखन की मूलमान्यताओं से प्राप्त है. किन्तु हम डा. अम्बेडकर के चिन्तन को उपेक्षणीय नहीं मानते. हिन्दू धर्मदर्शन के लिए अम्बेडकर की प्रासंगिकता से इनकार नहीं किया जा सकता. एक सर्जनात्मक विचारक या व्याख्याकार की प्रतिभा उनकी नहीं थी. उनकी प्रतिभा एक वकील की थी, जो अच्छी तरह जानता था कि प्रतिपक्ष के बारे में क्या सवाल उठाए जा सकते हैं. उन्होंने हिन्दूधर्म के स्वरूप को लेकर जो आधारभूत सवाल उठाए हैं, उन पर विचार होना चाहिए. डा. अम्बेडकर की पुस्तक "Riddles in Hinduism" के 'हिन्दूधर्म का गूढ़ रहस्य या ब्राह्मणशाही की ऊहापोह' नाम से स्वकथित सर्वाधिक प्रामाणिक अनुवाद से एक प्रासंगिक उद्धरण, विचारार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं :

"जो बात महत्व की है वह यह है कि जो पारसी है, वह पारसी क्यों है? जो ईसाई है, वह ईसाई क्यों है? जो मुसलमान है, वह मुसलमान क्यों है? जो हिन्दू है वह हिन्दू क्यों है? जहां तक पारसी ईसाई, मुसलमान का सवाल है उन के लिए प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं है। किसी पारसी से पूछिए कि वह पारसी क्यों है? उसे इस प्रश्न का उत्तर देने में कोई कठिनाई न होगी वह कहेगा कि वह इसलिए पारसी है क्योंकि वह जोराष्ट्र का अनुयाई है। यही प्रश्न किसी ईसाई से पूछिए। उसे भी प्रश्न का उत्तर देने में कुछ कठिनाई न होगी। वह ईसाई है क्योंकि वह हजरत ईसा में विश्वास करता है. एक मुसलमान से भी यही प्रश्न पूछिए। उसे भी इस प्रश्न का उत्तर देने में तनिक हिचकिचाहट न होगी। वह कहेगा कि वह इस्लाम में विश्वास करता है, इसलिए वह मुसलमान है.

अब यही प्रश्न एक हिन्दू से पूछकर देखिए । इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि वह एकदम चकरा जाएगा. उसकी समझ में न आएगा कि वह क्या उत्तर दे?

मान्यताओं और सिद्धान्तों के अत्यन्त उलझे हुए संग्रह का नाम मात्र हिन्दू धर्म है। इसकी सीमा एकेश्वरवादी, अनेक देव वादी, सर्वेश्वर वादी, शिव और विष्णु जैसे महान देवताओं के पुजारी, उनकी देवियों के पुजारी, वृक्षों की पूजा करने वाले, चट्टानों और जल धाराओं की पूजा करने वाले तथा गांव के संरक्षक

देवताओं के पुजारी आते है। इनके अतिरिक्त ऐसे लोग भी इसके अन्तर्गत माने जाते हैं जो सभी तरह की खूनी बलियों द्वारा अपने-अपने देवी देवताओं को प्रसन्न रखने का प्रयास करते हैं। ऐसे लोग भी इसके अन्तर्गत माने जाते हैं, जो किसी भी प्राणी की 'हत्या' तो करेंगे ही नहीं, बल्कि अपने मुंह से 'हत्या' शब्द तक का उच्चारण नहीं करेंगे। ऐसे लोग भी इसके अन्तर्गत माने जाते हैं जिनके कर्मकाण्ड में प्रार्थना और भजनों के अतिरिक्ति और कुछ नहीं। ऐसे लोग भी इस के अन्तर्गत हैं जो धर्म के नाम पर अकथनीय दुराचारों में संलग्न हैं । ऐसे बहुत से परम्परा विरोधी मत मतान्तरों की गिनती भी इनके अन्तर्गत होती है, जिनमें से अनेक दुर्गुणों को श्रेष्ठ पद देना स्वीकार नहीं करते अथवा अब्राह्मण ही जिनके धार्मिक नेता हैं।"

क्या यह प्रश्न प्रत्येक हिन्दू के लिए विचारणीय नहीं है कि उसके अपने धर्म को ही लेकर उसकी अपनी स्थिति क्यों इतनी अधिक डांवाडोल है. जिस सीधे प्रश्न का उत्तर प्रत्येक पारसी, प्रत्येक ईसाई प्रत्येक मुसलमान दे सकता है, क्या अब भी वह समय नहीं आया जब उसके लिए अपने आप से यह प्रश्न पूछना अनिवार्य हो कि ऐसे कौन से कारण उपस्थित हुए हैं, जिन की वजह से ऐसी धांधली मची है.''

हिन्दूधर्म का निर्वचन एक आधारभूत समस्या है, और डा. अम्बेडकर ने सही ही, इस ओर ध्यान आकर्षित किया है. किन्तु उनका यह निष्कर्ष कि हिन्दूधर्म अनिर्वचनीय उलझनों के एक अनिर्वचनीय संग्रह का नाम है, सही नहीं है, क्योंकि यह एक असमीक्षापूर्ण तुलना पर आधारित है. तुलना हमेशा सजातीय इकाइयों के बीच होती है, विजातियों के बीच नहीं. इस्लामधर्म और ईसाइयत, आस्था की सरल साम्प्रदायिक रचनाएं हैं. इस रूप में इनकी तुलना हिन्दू-आस्थासंघ की इकाइयों, जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त, सिख तथा आर्यसमाज आदि के साथ की जानी चाहिए, हिन्दूधर्म के साथ नहीं. एक जैन, बौद्ध, सिख या आर्यसमाजी से यदि हम पूछें, तो वह अपने धर्म का परिचय उसी सरलता से, उसी आत्मविश्वास के साथ देगा, जिसे डा. अम्बेडकर, हिन्दू धर्म के विरुद्ध ईसाई, पारसीक, तथा इस्लाम धर्म की विशेषता मानते हैं. इन सब से भिन्न, हिन्दूधर्म, एक सरल साम्प्रदायिक इकाई न होकर, एक आस्थासंघ है, जो सैंकडों सम्प्रदायों को अपनी गोद में समेटे है. अतः इसके लक्षण का निर्वचन एक उच्चतर बौद्धिक विमर्श की अपेक्षा रखता है. किसी से पूछा गया, "बताओ कुर्सी क्या है?" उसने कुर्सी पर हाथ रख कर बता दिया कि यह कुर्सी है. फिर उससे पूछा गया, टेबिल क्या है, उसने टेबिल पर हाथ रख दिया. इस तरह उसने सोफा, तिपाई आरामकुर्सी, हर चीज को अपने संकेत का विषय बनाते हुए दिखा दिया. लेकिन जंब उससे कहा गया कि अब इसी तरह हाथ रख कर बताओ कि फर्नीचर क्या है, तो वह परेशान हो गया, क्योंकि अगर वह कुर्सी पर हाथ रख कर कहता कि यह फर्नीचर है, तो पूछनेवाला कह सकता था, कि यह तो कुर्सी है; फर्नीचर को छू कर बताओ. फिर अगर यही

(कुर्सी) फर्नीचर है, तो यह टेबिल, तिपाई, आरामकुर्सी ये क्या हैं? क्या ये फर्नीचर नहीं हैं ?

''यह भी फर्नीचर हैं." यह क्या बात हुई ? अभी कुर्सी को फर्नीचर बता रहे थे, अब टेबिल और तिपाई को फर्नीचर बता रहे हो. अरे भाई, जिस तरह तुमने कुर्सी को छू कर, हाथ रखकर बताया था, उसी तरह फर्नीचर पर हाथ रख कर बताओ कि यह फर्नीचर है. अब बेचारा बताने वाला कैसे बताए कि जिस तरह कुर्सी को छू कर दिखाया जा सकता है, उसी तरह फर्नीचर को छू कर नहीं दिखाया जा सकता, क्योंकि यह एक सरल इन्द्रियार्थ न हो कर, संहतिबोधक भाववाचक संज्ञा है. डा. अम्बेडकर की, इस्लाम और ईसाइयत के जैसी, हिन्दूधर्म की सरल परिभाषा की तलाश, और इस सम्बन्ध में उनका वितण्डा कुछ उसी तरह का है, जैसे कोई कहे कि मुझे तो फर्नीचर को छू कर दिखाओ, वह भी, ठीक उसी तरह जैसे कुर्सी को छू कर दिखाते हो. इस्लाम, ईसाई, बौद्ध, जैन, सिख, वैष्णव, आदि धर्म, साकार आस्थायें हैं. उनके बीच अन्तर, आस्था के आकार को लेकर है, धर्मगुरू, पैगम्बर और पुस्तक को लेकर है, जिसे आसानी से दिखाया जा सकता है. हिन्दूधर्म से इनका अन्तर, आस्था के आकार को लेकर नहीं, उसके स्वरूप को लेकर है. अतः एक हिन्दू से 'तुम हिन्दू क्यों हो,' यह पूछने के बजाय, यह सवाल होना चाहिए, 'तुम्हारी धर्म की अवधारणा क्या है.' एक सामान्य हिन्दू, भले ही वह इसे परिभाषित न कर सके, यह कह कर " सियाराम मय सब जग जानी, करहुं प्रनाम जोरि जुग पानी", अपनी आस्था के स्वरूप का निदर्शन करा सकता है,. हिन्दू की, धर्म की इस तत्त्वमूलक अवधारणा को, पैगम्बरों और पुस्तकों पर टिके , उसके मूर्त, अर्थ से सहज अलग कर के दिखाया जा सकता है. उसके लिए, कर्मकाण्ड स्थल को छोड़कर, शास्त्र अनुपालन के लिए सिद्धविधान न हो कर, स्वयं अवगति का विषय हैं, अर्थात् साध्य हैं. प्रत्येक हिन्दू, अपने अनुभव और विवेक के द्वारा, शास्त्रार्थ का निर्धारण करते हुए, उसमें स्वधर्म का अनुसंधान करता है,. इसके अनन्तर ही अनुपालन की बात आती है. हिन्दू वह है जिसके लिए शास्त्र (आप्तोपदेश), सिद्धविधान न हो कर, अवगति का विषय हैं. यह लक्षण है जो हिन्दूधर्म को, न केवल इस्लाम ईसाई प्रभृति धर्मों से, अपितु स्वयं अपने सम्प्रदायों से, वस्तुतःआस्था की यावन्मात्र साकार परिच्छित्तियों से अलग करता है, क्योंकि यह लक्षण, आस्था में, शास्त्र के साथ अनुभव और विवेक की मान्यता पर आधारित, धर्म की विशिष्ट अवधारणा से प्राप्त है.

हिन्दूधर्म का आधारभूत वैशिष्ट्य है, शास्त्रलब्ध (विधान) में वैयक्तिक विवेक (अनुभव) की स्वीकृति. वैमत्य सहिष्णुता, तज्जन्य सम्प्रदाय बहुत्व, परम्परा में वैमत्य का द्वन्द्वात्मक संग्रह (आस्थासंघ) तथा आस्था की तत्त्वविद्याश्रित अवधारणा — हिन्दूधर्म का यह सम्पूर्ण प्रपञ्च, वस्तुतः वेदादि शास्त्रलब्ध आस्था में वैयक्तिक-विवेक के स्फोट की तार्किक परिणति है. यह हिन्दूधर्म का बोधसूत्र है, उसके शास्त्रीय निर्वचन की कुंजी. धर्म की इस अवधारणा को समझने के लिए धर्मदर्शन की, धर्म के सार्वभौमिक, परा-साम्प्रदायिक अर्थ की समझ आवश्यक है. जिन्हें यह समझ है, वे अच्छी तरह जानते हैं कि हिन्दू आस्था में वैमत्य-जनित बिखराव से वास्तव में कुछ भी नहीं बिखरता, क्योंकि समस्त वैमत्य आस्था के एक सामान्य, तात्त्विक आधार में प्रतिष्ठित हैं, जिसके बाहर कोई वैमत्य जा ही नहीं सकता. वस्तुतः, वैमत्य,(भेद) उसका संग्रह, इस द्वन्द्वात्मकता की सर्जनात्मक अवगति — हिन्दू आस्था की यह संरचना, विश्रान्ति के तर्कित आधार रूप में, एक परा-साम्प्रदायिक तत्त्वविद्यामूल का आक्षेप करती है :

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।। १७ ।।

(जो मनुष्य आत्मा में ही प्रीतिवाला, और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट हो, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है.)

हर हिन्दू में आस्था के इस परा-साम्प्रदायिक अर्थ की चेतना विद्यमान है. हर हिन्दू यह जानता है कि साम्प्रदायिक बिखराव वस्तुतः कुछ नहीं बिखेरते. आस्था के तात्त्विक आधार अविकृत हैं, सनातन हैं. जो व्यक्ति, "सिया राम मय सब जग जानी, करहुं प्रनाम जोरि जुगपानी", इस चौपाई को अपनी आस्था का मूलमंत्र मानता है, वह अपने धर्म को दूसरों के धर्म से अलग करके दिखा सके, यह उसके लिए सम्भव नहीं है. जिन्हें दार्शनिक चिन्तन का प्रशिक्षण है, वे सहज इस बात को समझ सकते हैं. किन्तु धर्मदर्शन के अपेक्षित अनुशासन में अप्रशिक्षित डा. अम्बेडकर तथा उन्हीं के जैसे कतिपय विचारकों की प्रज्ञा, पैगम्बरवादी, अथवा शास्त्रमात्रक धर्मों के अपर्याप्त प्रतिमानों को सामने रखकर हिन्दूधर्म के बहुआयामी विस्तार को समझने का प्रयास करती है, और सफल न होने पर सहज इस निष्कर्ष पर पहुंच जाती है कि हिन्दूधर्म एक उलझन है, जिस का युक्तियुक्त निर्वचन सम्भव नहीं है, तो इस पर किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए. स्पष्ट है कि अम्बेडकर की धर्म की अवधारणा, उनके बुद्धिवाद के बहुप्रचारित आडम्बर के वाबजूद, ठेठ

साम्प्रदायिक थी, बुद्धि-विरोधी, पुस्तकपंथी एवं कबीलाई 'माडलों' पर आधारित. कम से कम अपनी इस अक्षमता में — आस्था की साम्प्रदायिक अवधारणा से ऊपर उठकर उसके बहुसाम्प्रदायिक परिदृश्य में एकता के आधार को, आस्था के परासाम्प्रदायिक अर्थ को देख पाने की असामर्थ्य में, डा. अम्बेडकर और संस्कृत का पारम्परिक पाण्डित्य एक ही कोटि में खड़े दिखते हैं. सर्जनात्मक एवं अप्रतिबद्ध चिन्तन के प्रति सन्देह, आस्था के अनुभवनिरपेक्ष, संहिताबद्धरूप के प्रति समर्पण, एक वकील के रूप में डा. अम्बेडकर की, तथा साम्प्रदायिक दायरों में सोचने के अभ्यस्त पण्डितवर्ग की समान बौद्धिक प्रतिबद्धताएं थीं.

* * *

आस्था की सरल पुस्तकनिबद्ध अवधारणा की तुलना में, गीताधर्म (हिन्दूधर्म) न केवल एक जटिल परिकल्प है, अपितु आस्था बहुत्व और उससे उत्पन्न अन्तर्विरोधों, टकराव और अनास्था की समस्याओं तथा मानवसभ्यता के लिए उनके भयावह परिणामों के पूर्वाभास में, समय से पहले किया गया उपदेश है, जिसे समझ पाना जितना कठिन आज है, उतना ही या उससे कहीं अधिक कठिन आज से पहले की शताब्दियों में रहा होगा. मूर्त के प्रति मानव स्वभाव के सहज अभिनिवेश के कारण, साम्प्रदायिक, अवतरणों को धर्म का परमार्थ मान बैठने के कारण, उनसे सर्वथा भिन्न, अतः प्रतिमानागम्य हिन्दूधर्म को समझने की समस्या और भी कठिन हो जाती है. समझ की इस समस्या से हतप्रभ, पारम्परिक पाण्डित्य, साम्प्रदायिक अन्तर्मुखता की शरण लेता है. डा. अम्बेडकर प्रभृति विद्वानों का यह निष्कर्ष कि हिन्दूधर्म अन्तर्विरोधों का एक पुलिन्दा है, ब्राह्मणों द्वारा कुशलतापूर्वक बुनी गई एक विराट उलझन, तथा कुछ अन्य विद्वानों की यह मान्यता कि हिन्दूधर्म एक धर्म है ही नहीं, यह तो केवल एक संस्कृति है, वस्तुतः पारम्परिक पाण्डित्य की असफलता से जन्मे सहज अनुमेय निष्कर्ष हैं. डा. अम्बेडकर हिन्दूधर्म को एक पहेली, एक उलझन (रिडिल) कह कर उसे कम से कम स्वरूप की पहचान की समस्या के रूप में ही सही, मान्यता तो देते हैं, उसे चिन्तन की विषयता तो प्रदान करते हैं. अपनी आचार्य परम्परा में तो हिन्दूरूप में आस्था की इतनी भर स्वरूपचेतना भी नहीं दिखती. हिन्दुत्व के विकास की प्रक्रिया का अंग होने से हम इन अपने सम्प्रदायाचार्यों को हिन्दू-आचार्य तो कह सकते हैं, किन्तु इनमें से कोई भी हिन्दुत्व का आचार्य कहलाने की योग्यता नहीं रखते, क्योंकि उनके चिन्तन में, आस्था के संघीय, परा-साम्प्रदायिक, विराट् हिन्दू-स्वरूप की कोई स्पष्ट चेतना नहीं मिलती. आस्था के साम्प्रदायिक

बिम्बों के शिल्पी, आचार्य और उनकी पण्डितपरम्परा — जैसा कि सभी शिल्पियों के बारे में सत्य है — अपने परिकल्पित आस्था बिम्ब तथा उसके निर्माण में उपकारक साधनभूत उपकरणों की मर्यादा से बंधे थे. अपनी साम्प्रदायिक प्रतिबद्धताओं से बाहर आकर हिन्दुत्व को समझना, उसकी समस्याओं और चुनौतियों का संज्ञान लेना, यह कार्य उनके बौद्धिक प्रशिक्षण और प्रयोजन दोनों की ही मर्यादा के बाहर की बात थी. श्रीमद्भगवद्गीता जैसे आस्था के सार्वभौमिक अर्थ की प्रतिष्ठा के शास्त्र के सामने होते हुए भी, अभ्यासजनित साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से मुक्त होना तो दूर, परम्परा के परमपूज्य आचार्यचरणों में से, प्रत्येक अपने अपने भाष्यों के प्रणयन के द्वारा गीता के बहाने से अपने अपने साम्प्रदायिक अभिनिवेशों का पुनराख्यान करते हैं, उन्हीं की पुष्टि करते हैं. यह निष्कर्ष हमें इन साम्प्रदायिक भाष्यों के प्रतिज्ञात स्वरूप से अर्थतः प्राप्त है, अतः इन पर बौद्धिक मिथ्याचार का आरोप नहीं लग सकता. फिर इन साम्प्रदायिक भाष्यों का प्रयोजन क्या रहा होगा, इनके होने का निहितार्थ क्या है, इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, क्योंकि हिन्दुत्व को समझने में यह समझ महत्वपूर्ण रूप से सहायक हो सकती है. गीताभाष्य के द्वारा प्रत्येक सम्प्रदाय, धर्मदर्शन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण, दो प्रयोजनों की सिद्धि करता है. पहला यह कि वह श्रीमद्भगवद्गीता में, और तन्मुखेन हिन्दूधर्म में अपनी निष्ठा को रेखांकित करता है, और दूसरे, गीता के साथ सम्प्रदाय के सम्बन्ध और तन्मुखेन हिन्दुत्व की एक अर्थपूर्ण इकाई के रूप में अपनी अस्मिता को परिभाषित करता है. इस प्रकार गीता के साम्प्रदायिक भाष्य गीतार्थ को न कहकर उससे अपनी दूरी का, उन वैचारिक उपाधियों (शर्तों) का निर्वचन करते हैं, जिनके पूरा होने पर ही गीता में उनका तादात्म्य सुनिश्चित हो सकता है. हिन्दूधर्म के साथ अपने सम्बन्ध को परिभाषित करने के जिस कार्य को बौद्ध, जैन, सिख और आर्यसमाज जैसे सम्प्रदाय आज निहायत फूहड़ ढंग से कर रहे हैं, उसी कार्य को सम्प्रदायाचार्यों ने अत्यन्त व्यवस्थित और तर्क सम्मत ढंग से गीताभाष्यों के माध्यम से सम्पन्न किया है. अपनी इस विशिष्ट भूमिका में गीता के साम्प्रदायिक-भाष्य हिन्दू आस्थासंघ के स्वरूप तथा साम्प्रदायिक इकाइयों के साथ उसके सम्बन्धों को समझने में महत्त्वपूर्णरूप से सहायक हो सकते हैं. किन्तु गीता के भाष्यरूप में उनकी प्रामाणिकता सदैव संदिग्ध रहेगी. वे गीतार्थ को न कहकर उसके उस अर्थ को कहते है, जिसकी सिद्धि गीता को सम्प्रदाय विशेष के लिए स्वीकार्य बना सकती हैं. **हिन्दूधर्म का अभी तक कोई आचार्य नहीं हुआ, गीता पर आज तक कोई 'गीताभाष्य' लिखा ही नहीं गया है, यह कथन सुनने**

में अविश्वसनीय और अटपटे लगते हैं, किन्तु तनिक विचार करके देखें तो यह हिन्दू धर्मेतिहास के एक कटु यथार्थ को अभिव्यक्ति देने से अधिक कुछ नहीं कहते. किसी आचार्य ने साक्षात् हिन्दूधर्म को कभी चिन्तन का विषय नहीं बनाया. गीता को उसके स्वरूप में, महाभारत धर्म के सूत्र रूप में, सनातनधर्म तथा कालान्तर में हिन्दूधर्म शब्दों से व्यवहृत आस्था के प्रतिनिधिशास्त्र रूप में आज तक गीता का कोई अध्ययन नही हुआ है, ये कथन कोई अतिरंजनाएं नहीं, धर्मेतिहास के सहज तथ्य हैं.

प्राचीन आचार्यों के सामने 'हिन्दू' शब्द नहीं था, यह बात सही है. किन्तु महाभारत में सनातनधर्म नाम से आस्था की एक व्यापक बहुआयामी अवधारणा मिलती है, जिसे कालान्तर में हिन्दू नाम मिला. इस प्रकार शङ्करादि आचार्यों के सामने धर्मतत्त्व को सामने रखकर दार्शनिक चिन्तन के लिए समस्त उपादान और साधन उपलब्ध थे. उनके सामने महाभारत जैसा धर्मचिन्तन का अप्रतिम इतिहास था. विमर्श के लिए उनकी अपनी अपनी साम्प्रदायिक आस्था की इकाइयां थीं. यही नहीं, सनातनधर्म (हिन्दुत्व) के रूप में आस्था की एक व्यापक सामान्य अवधारणा का विकास हो चुका था, जो आस्था की साम्प्रदायिक इकाइयों के मध्य सहभाग और संवाद का सामान्य आधार था. इन सबके अतिरिक्त उनके सामने श्रीमद्भगवद्गीता जैसा ग्रन्थ था, जो आस्था के संघीय, पार्यावरणिक रूप में धर्म (हिन्दुत्व) की अवधारणा से लेकर, उसके सार्वभौमिक, सम्प्रदाय-निरपेक्ष, तात्त्विक स्वरूप तक को समेटने वाला, संसार में धर्मदर्शन का अप्रतिम ग्रन्थ था. इस विशाल उपादान वाङ्मय के होते हुए भी यदि धर्मदर्शन का शास्त्ररूप में विकास नहीं हो सका, तो यही कहना पड़ता है कि सम्प्रदायाचार्यों का युग हमारी जातीय सामर्थ्य और प्रतिभा के क्षरण का युग था. इस युग में पाण्डित्य तो था, किन्तु व्यास जैसा अन्तर्दृष्टि और सर्जनात्मक प्रतिभा नहीं थी, जो वाङ्मय में से 'हिन्दुत्व' या 'हिन्दू धर्मदर्शन' जैसे शब्द से अनुक्त, किन्तु प्रसिद्ध अर्थ का उद्धार करके सिद्धान्तरूप में प्रतिष्ठित कर सकती. इस दुर्वह चुनौती को स्वीकार करने अथवा पहचानने का प्रयत्न करने के बजाय, आचार्यों ने पाण्डित्य की सीमित सामर्थ्य के अनुरूप, न्याय और तत्त्वचिन्तन के अपेक्षाकृत आसान और बंधे बंधाए रास्ते को अपनाते हुए साम्प्रदायिक भाष्यों की रचना की. सम्प्रदायों के बीच संवाद का, शास्त्रार्थ रूप में परस्पर खण्डन-मण्डन का सुविस्तृत साहित्य आज परम्परा का अंग है. किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि किसी भी आचार्य ने चिन्तन की उस सामान्य भूमि की ओर ध्यान नहीं दिया, जिस पर पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों खड़े हैं, जो उनके बीच संवाद को सुनिश्चित करती है; जो पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और सिद्धान्तपक्ष का

सामान्य वैचारिक पर्यावरण है. संवाद की यह भूमि सम्प्रदाय-निरपेक्षता की भूमि है, सम्प्रदायों के संग्रह और सहभाग की भी. इस संवाद और सहभाग की भूमि में आस्थासंघ की परिकल्पना की जा सकती है, किन्तु इसका परिणत, शुद्ध तार्किक निहितार्थ है, आस्था के सम्प्रदायनिरपेक्ष आयाम की स्वीकृति. यह निश्चित रूप से श्रीमद्भगवद्गीता की विचारभूमि है. आचार्य शङ्कर ने, धर्म के विधिनिषेधरूप कर्मावबोधक अर्थ से भिन्न, तत्त्वमूलक अर्थ की स्थापना की. धर्म के यह दोनों ही अर्थ यद्यपि शास्त्र को ही धर्म में प्रमाण मानते हैं, किन्तु तत्त्वमूलक अर्थ में, आस्था के वस्तुनिष्ठ होने के कारण, शास्त्र के साथ, अनुभव और तर्क की सहकारी प्रमाण रूप में स्वीकृति अपरिहार्य हो जाती है. इस प्रकार, आस्था की तत्त्वनिष्ठा तथा शास्त्र के साथ, शास्त्रार्थ के नियामक रूप में अनुभव और विवेक की स्वीकृति —इन दो स्थापनाओं के द्वारा, आचार्य शङ्कर हिन्दूधर्मदर्शन की दो आधारभूत मान्यताओं का अधिकृत विवरण प्रस्तुत करते हैं. किन्तु उन्होंने इन स्थापनाओं का प्रयोग, धर्म के स्वरूप को समझने और व्याख्यायित करने में न करके, तत्त्वदर्शन के अद्वैत सम्प्रदाय की स्थापना में किया. इसके बाद तो आस्था के तत्त्वमूल के मूलस्वरूप का अनुसंधान, वेदान्ताचार्यों का शग़ल बन गया. मूल इसलिए मूल कहलाता है और इसलिए महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि उस पर कुछ टिका है, एक भवन बना है, एक पेड़ खड़ा है. स्वतंत्ररूप से मूल के अनुसंधान के कोई अर्थ नहीं हैं. वेदान्तसूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में 'अथ' पद का यही निहितार्थ है. इसको ध्यान में रखते हुए, परवर्ती आचार्यों ने, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा, कर्म और ज्ञान, के बीच अनिवार्य सम्बन्ध की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए, एक समग्र मूल्यदर्शन के महत्व को स्वीकार तो किया, किन्तु आचार्य शङ्कर ने वेदान्त के रूप में जिस निरपेक्ष, अन्तर्मुखी तत्त्वचिन्तन को जन्म दिया, उससे कोई भी वेदान्त सम्प्रदाय पूरी तरह मुक्त नहीं हो सका. यदि शङ्करप्रभृति आचार्य, शास्त्रार्थ के बजाय, या उसके साथ, शास्त्रार्थ द्वारा पूर्वकल्पित संवाद-भूमि की तरफ ध्यान देते, तो वे अनायास ही अपने को श्रीमद्भगवद्गीता की विचारभूमि पर खड़ा पाते, जो हिन्दुत्व और हिन्दूधर्मदर्शन की वैचारिक आधारभूमि है. किन्तु शरीरतृष्णा जिस प्रकार शरीरी (जीवात्मा) को न केवल आत्मोन्मुख होने से रोके रहती है, अपितु आत्मा को अपनी पहचान देकर तद्विषयक जिज्ञासा को अप्रासंगिक बना देती है, उसी प्रकार साम्प्रदायिक अस्मिता के व्यापक संदर्भों में पुनर्मूल्यांकन के प्रति सतत संदेहशील सम्प्रदायाचार्यों ने, गीता और महाभारत के सन्दर्भों को यथावत् स्वीकार करने के बजाय, उन्हें अपनी अस्मिता, अपनी साम्प्रदायिक पहचान पहनाने का प्रयत्न

किया. श्रीमद्भगवद्गीता, जो मूलतः हिन्दूसन्दर्भों में धर्मदर्शन का शास्त्र है, उसको, सम्पूर्ण ऐतिहासिक साक्ष्यों की उपेक्षा करते हुए पहले एक उपनिषद् के रूप में दीक्षित किया गया, और फिर वेदान्त के प्रस्थानत्रयी में प्रतिष्ठित कर दिया गया. ये एक प्रकार की जीवनरक्षक नावें थीं, जिनके बिना साम्प्रदायिक पाण्डित्य कभी गीतार्थ में उतरने का साहस नहीं कर सका. इनसे अथवा इसी प्रकार की अन्यान्य परिकल्पित व्यवस्थितियों से अनुपकृत, अपने सहज संदर्भों में गीतार्थ, हिन्दू-आस्था का दार्शनिक विवरण है, जिसके सामने गीता-पाण्डित्य, पारम्परिक और अर्वाचीन, समानरूप से हतप्रभ और असहाय दिखता है. इसका कारण है, गीता के स्वरूप के अनुरूप उपयुक्त व्याख्या परिकल्प और चिन्तन-शैली का अभाव. जहां तक गीता पाण्डित्य की बात है, कुछ अपवादों को छोड़ कर यह आद्योपान्त साम्प्रदायिक है; अर्थात् किसी एक दार्शनिक सिद्धान्त को सामने रखकर गीतार्थ को उसमें ढालने का प्रयास करता है. इससे भिन्न, जो अपवाद हैं, वे प्रसंग-प्राप्त तत्तत् स्थलों की पूर्वाग्रहरहित, सुन्दर व्याख्या तो प्रस्तुत करते हैं, किन्तु वे गीतार्थ को किसी मूल परिकल्प से, किसी केन्द्रीय अर्थ से सम्बद्ध करके प्रस्तुत नहीं कर पाते, और इस कारण इस कोटि के गीता व्याख्यान, मुक्तक-काव्य संग्रह जैसे प्रतीत होते है. सन्त ज्ञानेश्वर की भावार्थदीपिका से लेकर आधुनिक भाषाओं में लिखे गए, स्वामी विवेकानन्द, डा. राधाकृष्णन, गांधी और विनोबा के भाष्य तथा गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित सुविशाल गीता साहित्य इसी कोटि में आते हैं. कृत्रिम साम्प्रदायिक परिकल्पों में गीतार्थ को ढालना, या फिर अर्थ परमाणुओं का केन्द्रविहीन विकिरण— गीता पाण्डित्य के ये दोनों ही रूप दोषपूर्ण हैं, और हमें कतई स्वीकार नहीं हैं.

गीता-महाभारत का केन्द्रीय परिकल्प है हिन्दुत्व. हिन्दू नामधेय से पूर्व, धर्म के सनातन, सार्वभौमिक अर्थ की पहचान के रूप में, महाभारत में सनातनधर्म नाम से इसका निर्वचन हुआ है. आस्था की साम्प्रदायिक अभिव्यक्तियों के मूल में एक सामान्य अर्थ की परिकल्पना, इसको साकार करते शाश्वत मूल्यों की पहचान, जो एक आस्थासंघ के अन्तर्गत सम्प्रदाय-नानात्व का संग्रह कर सके, आस्था के संस्थागत स्वरूप का व्यवस्थामूलक निषेध (संन्यास) और अन्ततः संस्थागत के प्रति पूर्ण निरपेक्षता — यह बहुआयामी संरचना इस परिकल्प के निहितार्थ है. प्रत्येक व्यक्तिक्षेत्र में चरितार्थ होता, धर्म का यह गत्यात्मक परिकल्प, उसकी पुस्तकीय-संरचनाओं से, संसार के विविध धर्मों और स्वयं अपने सम्प्रदायों से इतना भिन्न, इतना एकाकी और विलक्षण है कि एक सामान्य लक्षण के अन्तर्गत इसे उनके साथ रख कर समझ पाना, असम्भव नहीं तो

कठिन अवश्य है. आस्था के इस गत्यात्मक स्वरूप का आधार है, आस्था के अन्तर्गत वैमत्य के अधिकार की मान्यता. इसका अर्थ है, पुस्तकनिष्ठ आस्था में वैयक्तिक अनुभव और तर्क की स्वीकृति. जहां अनुभव, शास्त्रलब्ध अर्थ को अन्तरङ्ग प्रामाणिकता देता है, वहीं तर्क उसके उन व्यापक आधारों की पहचान और निरूपण करता है, जो एक संघीय-परिकल्प में आस्था के संग्रह को सुनिश्चित करते हुए, उसे क्रमशः उन तात्त्विक आधारों में प्रतिष्ठित करते हैं, जहां समस्त जातीय, समस्त संस्थागत परिच्छित्तियां अर्थहीन हो जाती हैं.

इस बात को ठीक से समझने के लिए यह याद दिलाना आवश्यक है कि संसार के अधिकांश धर्म, यथा जूडा, ईसाई और इस्लाम धर्म — जातीय पुनरुत्थान के आन्दोलनों का हिस्सा रहे हैं. संसार के विभिन्न भागों में व्यापक प्रसार के वाबजूद, ये धर्म अपनी जन्मजात जातीय-अस्मिता, तथा कबीलाई नैतिकता से कभी मुक्त नहीं हो सके (कुरान-शरीफ में मुस्लिम भ्रातृत्व का संदेश मिलता है, मानव भ्रातृत्व का नहीं). जातीय प्रतिबद्धताओं के कारण, ये धर्म न तो आस्था में वैयक्तिक-अकांक्षा को कोई मान्यता दे सकते थे, और न ही जाति-निरपेक्ष मानववादी सार्वभौमिकता से जुड़ ही सकते थे. यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इन धर्मों की विभाजक, जातीय नैतिकता और उसकी अपर्याप्तता के एहसास की पृष्ठभूमि में योरुप में, धर्मनिरपेक्ष, मानववादी मूल्यदर्शन का विकास हुआ. हिन्दूधर्म के व्याख्याकार कृष्णद्वैपायन व्यास के सामने समीक्षा के लिए, इससे कहीं विस्तृत और वैविध्यपूर्ण परिदृष्य था. धर्मशास्त्रों के वर्णाश्रमविधान के अतिरिक्त अन्यान्य सम्प्रदायिक विधान भी थे, जो जाने अनजाने जातीय अस्मिता और तदाश्रित आचार-संहिताओं को जन्म देते थे. इन आचार-संहिताओं की सीमित अर्थवत्ता, तात्त्विक दृष्टि से उनकी अप्रामाणिकता का निदर्शन ही गीतोपदेश का प्रवृत्ति हेतु है. यतः जातीय अस्मिता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपादान है, रक्त संबन्ध की चेतना, श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम श्लोक में *'मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय'* — यह रक्त संबन्धाश्रित विवेक ही धृतराष्ट की जिज्ञासा का निमित्त बनता है. यह विवेक अर्जुन के कुलधर्मरूप जातीय मूल्यचिन्तन की पूर्वछाया है, जिसकी समीक्षा श्रीमद्भगवद्गीता का प्रस्थानबिन्दु है. जातीय मूल्यचिन्तन — सम्बोधन और प्रामाणिकता — दोनों दृष्टियों से अपर्याप्त है. जहां यह व्यक्ति की आध्यात्मिक अकांक्षा और विवेक के प्रति निरपेक्ष है, वहीं इतर जातियों तथा उनकी मूल्य-व्यवस्था के प्रति संवेदन-विहीन. संसार में धार्मिक संघर्षों, वैमत्य तथा अप्रतिबद्ध लेखन के विरुद्ध मौत के फतवों, तथा वर्ण को जाति समझने की भूल

और इसके कारण हिन्दू समाज में व्याप्त विषमताओं के मूल में, यदि कोई समान बात है, तो वह है, आस्था की जातीय अस्मिता और उसके क्षरण का भय. यही भय अर्जुन की, युद्ध के कारण सम्भावित, कुलधर्म के क्षय की चिन्ता में प्रतिबिम्बित है :

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।।३८।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिःपापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।।३९।।
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।४०।।

(यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए यह लोग कुल के नाशकृत दोष को और मित्रों के साथ विरोध करने में पाप को नहीं देखते हैं.(३८) परन्तु हे जनार्दन !कुलके नाश करने से होते हुए दोष को जानने वाले हम लोगों को इस पाप से हटने के लिए क्यों नहीं विचार करना चाहिए.(३९) क्योंकि कुल के नाश होने से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्म के नाश होने से संपूर्ण कुल को पाप भी बहुत दबा लेता है.(४०)

कौम के रूप में, अथवा एक संगठित संस्था के रूप में धर्म एक देश-काल परिच्छिन्न इकाई है, जिसका विधान स्वरूपतः सार्वकालिक और सार्वदेशिक स्वीकृति का अधिकारी नहीं हो सकता. अतः इसमें सार्वभौमिक स्वीकृति की आकांक्षा धार्मिक साम्राज्यवाद के जिन कार्यक्रमों को जन्म देती है, वे साम्राज्यवाद के जातीय, वर्गीय, आर्थिक और राजनैतिक रूपान्तरों से कम खतरनाक नहीं हैं. एक ओर, संसार में ईश्वर का राज्य स्थापित करने के लिए दुनियां के कोने कोने में, विशेषकर एशिया अफ्रीका के गरीब देशों में, सेवा की दुकानें खुल रही हैं, तो दूसरी ओर, खुदा की दुनियां को, खुदा के लिए फतह करने के लिए, मुजाहिदों की फौजें सज रही हैं. जहां तक इस्लाम की बात है, कुरानशरीफ में, अल्लाह की तरफ से बार-बार यह कहा गया है कि 'यह किताब अरब कौम के लिए भेजी जा रही है, ताकि वे बाद में यह न कह सकें, कि उन्हें अल्लाह का कोई पैगाम मिला ही नहीं"(कुरान-शरीफ़, सूरः शुअरा आ.१९५-१९९; सूरः कससि, आ.४७). स्पष्ट है अरब कौम इस्लाम की जायज हदबंदी है. लेकिन आज सारी दुनियां में इस्लामी जेहाद के नाम पर आतंकवादी गतिविधियों में लिप्त सैकडों संगठन यह भूल जाते हैं, कि इस्लाम का संदेश सारी दुनियां के लिए है ही नहीं. उनकी आतंकवादी गतिविधियां मानवता के प्रति तो अपराध हैं ही, कलाम पाक में विहित, इस्लाम की जायज हदबंदी का अतिक्रम करने

के कारण, इस्लाम धर्म के प्रति भी अपराध हैं.

यहां यह नहीं भूलना चाहिए कि आस्था के मूर्त, जातीय स्वरूप और उसके सार्वभौमिक अभिनिवेश से उत्पन्न अन्तर्विरोध की समस्या केवल इस्लाम धर्म की नहीं अपितु सभी धर्मों की है. इस दृष्टि से विचार करें तो धर्मदर्शन के क्षेत्र में श्रीमद्भगवद्गीता का योगदान, सहज स्पष्ट हो जाता है. गीता, जातीय संकोच और उसके विपरिणामों से आस्था की मुक्ति का दर्शन है. एतदर्थ, 'कुलधर्म' रूप में धर्म का जातीय संकोच गीता चिन्तन का प्रस्थान बिन्दु बनता है. 'युद्ध से कुलधर्म का विनाश होगा, अतः युद्ध त्याज्य है,' अर्जुन के इस मन्तव्य का पूर्वपक्ष रूप में परीक्षण करते हुए, भगवान् श्रीकृष्ण, धर्म के एक ऐसे अर्थ के अनुसंधान में प्रवृत्त होते हैं, जो जातीय संकोच से, और संकोचजन्य भय से मुक्त हो. गीता में यह कार्य दो प्रकार से सम्पन्न हुआ है. आस्था के जातीय संकोच का व्यक्तिपर्यन्त विस्तार, और पुस्तकीय विविधताओं से परे, आस्था के वस्तुनिष्ठ, तात्त्विक आधार की अवधारणा.

धर्मदर्शन के क्षेत्र में आस्था के सम्बोधन का यह द्विधा विस्तार गीताधर्म (हिन्दूधर्म) की अनन्य उपलब्धि है. संसार के किसी अन्य धर्म में आस्था, अपने सार्वभौमिक अर्थ की तार्किक परिणति तक नहीं पहुंचती. वर्तमान युग में, राजनीति एवं समाज दर्शन में, व्यक्ति की गरिमा की प्रतिष्ठा एवं तदनुरूप जनतांत्रिक व्यवस्था के विकास का श्रेय योरुप को जाता है. किन्तु आस्था में व्यक्ति की प्रतिष्ठा का श्रेय तो हिन्दूधर्म का, केवल हिन्दूधर्म का अधिकार है. यह समूह के संकोच से आस्था को मुक्त करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था. दूसरा कदम था, जातीय सम्बोधनों को बहुजातीय ब्रह्माण्ड की अवधारणा में समाहित करना. इससे नैतिक-बोध को सहज एक तात्त्विक आधार मिल जाता है. धर्म, किसी कौम को किसी जाति या कबीले को सम्बोधित सन्देश नहीं हो सकता, क्योंकि इससे उसके सन्देश की सार्वभौमिकता व्याहत होती है. यह केवल मानव को सम्बोधित विधान है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि मानव-जाति भी है तो आखिर एक जाति ही, इस धरती की लाखों तथा सृष्टि की अनन्त प्रजातियों में से एक. मानव द्वारा पशुओं का अनिर्बन्ध वध, मानवकल्याण के नाम पर निरीह मूक पशुओं पर विज्ञानशालाओं में होते क्रूर प्रयोग, उनके शरीर से, सौन्दर्यप्रसाधन, स्वाद और विलासिता की सामग्री प्राप्त करने के लिए मानव द्वारा किए जाते अकल्पनीय अत्याचार, मानव की बढ़ती, अनियंत्रित आबादी की जरूरतों को पूरा

करने के लिए पर्यावरण का विध्वंस — यह सभी तथ्य इस बात को उजागर करने के लिए काफी हैं कि एक जीवनादर्श के रूप में मानववाद, कबीलाई तथा साम्प्रदायिक मूल्यविधानों की तुलना में उदार भले ही हो, स्वरूपतः वह जातीय नैतिकता की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करता. हिन्दू मनीषियों ने, कबीलाई नैतिकता की संकुचित एवं आत्मकेन्द्रित प्रतिबद्धाताओं से आस्था को मुक्त करने के साधन रूप में तत्त्वदर्शन के महत्त्व को समझा. जातीय समूहों को सम्बोधित शास्त्र, सार्वभौमिक नहीं हो सकते. अतः उन्होंने आस्था को सृष्टि की अवधारणा में प्रतिष्ठित किया. धर्म सृष्टि की अन्तःसंरचना से प्राप्त विधान है, जो सृष्टि के सम्यक् संचालन में उसके अवयवभूत पार्यावरणिक देवताओं, विविध लोकों की प्रजाओं, प्राणिवर्गों, जातियों और उपजातियों के बीच परस्परोपकारक व्यवहार में नैतिक अर्थ का आधान करता है. धर्म की इस ब्रह्माण्डीय (कॉस्मिक) अवधारणा पर श्रीमद्भगवद्गीता में (३.१०-१६) गंभीर विचार हुआ है.

श्रीमद्भगवद्गीता में, यज्ञ रूप में धर्म की सामुदायिक-सहयोग मूलक वैश्विक परिकल्पना, जहां आस्था के वैयक्तिक एवं जातीय अर्थों को, एक चिरन्तन सार्वभौमिक आधार प्रदान करती है, वहीं बदलते परिवेश में उनकी प्रासंगिकता के आकलन, पुनर्मूल्यांकन, और जहां आवश्यक हो परिष्कार को औचित्य प्रदान करती है. यही सनातन धर्म है. धर्म की यह अवधारणा उसकी कबीलाई (जातीय) अवधारणा से न केवल अधिक व्यापक है, अपितु अधिक जटिल भी. कबीलाई अवधारणा का अर्थ है, कबीलाई अर्थात् जातीय नैतिकता के शास्त्रीय नियमन एवं संहिताकृतरूप को, धर्म के एक मात्र, सार्वभौमिक-परमार्थ के रूप में प्रतिष्ठित करना. इस रूप में यह आस्था की एक स्थविष्ठ, कानूनी, एक आयामी अतः अपेक्षाकृत सरल संरचना है. आसानी से पहचानी जाने वाली, इस संरचना के लिए सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग किया जाय तो अनुचित नहीं होगा. श्रीमद्भगवद्गीता धर्म की इस सरल अवधारणा में, वैयक्तिक विवेक और तत्त्वमीमांसालब्ध ब्रह्माण्डीय दायित्वबोध का निवेश करते हुए, उसका दो दिशाओं में विस्तार करती है. वैयक्तिक विवेक की स्वीकृति जहां आस्था को गत्यात्मक आयाम देती है, वहीं ब्रह्माण्डीय दायित्व-चेतना उसे सनातन सार्ववैश्विक आधार प्रदान करती है.

इसमें कोई संदेह नहीं होना चाहिए कि महाभारत धर्म ही हिन्दूधर्म है. जिस प्रकार ब्रह्मसूत्र सुविस्तृत उपनिषद् वाङ्मय को सूत्ररूप में व्यवस्थित करके प्रस्तुत करते हैं, उसी प्रकार महाभारत-धर्म का सूत्ररूप है श्रीमद्भगवद्गीता — हिन्दुओं का धर्मसूत्र. यही इस शास्त्र की सही

पहचान और इसके अध्ययन की प्रामाणिक दिशा हो सकती है. महाभारत से गीता तक — चिन्तन की सहज स्वाभाविक दिशा थी, साम्प्रदायिक चिन्तन से सर्वथा भिन्न आस्था के तात्त्विक सार्वभौमिक आधारों का अनुसंधान. अतः जब श्रीमद्भगवद्गीता को साम्प्रदायिक पहचान देकर अधिकाधिक संकुचित आधारों में उसका व्याख्यान करने का चलन वेदान्ताचार्यों से शुरू हुआ, तो यह एक प्रकार से गीता की सम्पूर्ण वैचारिक उपलब्धियों को निरस्त करके, उसके चिन्तन को उलटी दिशा में प्रवाहित करने के समान था. गीतार्थ चिन्तन को उसके सहज स्वाभाविक व्याख्यान-पथ में पुनः प्रतिष्ठित करना, प्रस्तावित परिकल्प का प्रयोजन है. इसके लिए आवश्यक है, आचार्य शङ्कर से लेकर आज तक की गीताध्ययन परम्परा की समीक्षा और उसके प्रत्याख्यान के द्वारा भाष्याभासों के जंगल से वापसी की यात्रा. धर्म के प्रवृत्ति और निवृत्ति रूपों के भेद पर नहीं अपितु अन्तःसम्बन्ध पर आधारित आध्यात्मिकता, सम्प्रदायों के क्रमशः आस्थासंघ और परासाम्प्रदायिक अवधारणा में संग्रह, एतदर्थ वैयक्तिक-अनुभव एवं तत्त्वावगतिपर्यन्त आस्था का विस्तार, समस्त मूर्त आलम्बनों की सीमित अर्थवत्ता, पुस्तकीयविधान की सर्जनात्मक अवधारणा — संक्षेप में हिन्दुत्व गीता का स्वाभाविक व्याख्यान-पथ है. गीता-महाभारत की एकवाक्यता में इसका अनुसंधान किया जाना चाहिए.

अद्यावधि धर्मदर्शन (थीयोलॉजी) अनुशासन के अन्तर्गत लिखे साहित्य का अधिकांश, या तो तत्तद् सम्प्रदायों के पुरोहितों और उपदेशकों के प्रयोग के लिए प्रकरण ग्रन्थ हैं या फिर आधे अधूरे तथ्यों पर आधारित साधारणीकरणों का संग्रह. इन धर्मदर्शनों में, यह कहना सत्य के अधिक निकट होगा कि इन धर्मदर्शनाभासों में, मुख्यतः यहूदी परिवेश के सम्प्रदायों को सामने रखकर विचार किया गया है. इन सम्प्रदायों को ध्यान में रखते हुए 'ईश्वर - नबी (संदेशवाहक) - पुस्तक' की जिस त्रिपुटी को धर्म के आधारभूत लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया है, वह लक्षण हिन्दू सम्प्रदायों में तो किसी न किसी प्रकार घटाया जा सकता है, किन्तु हिन्दूधर्म पर वह कहीं से भी घटित होता नहीं दिखता. इस विसंगति को दूर करने का सहज और युक्तिसंगत तरीका तो यह था कि लक्षण का परिष्कार किया जाता, उसे व्यापक बनाया जाता, ताकि जिस स्थल में लक्षण की अव्याप्ति है उसका ग्रहण करते हुए अव्याप्ति दोष का परिहार किया जाता. इससे धर्म और सम्प्रदाय के बीच अन्तर करते हुए धर्म की व्यापक, दोषरहित अवधारणा के रूप में वास्तविक धर्मदर्शन के सूत्रपात के लिए सैद्धान्तिक आधार मिलता . किन्तु हुआ इससे बिलकुल उलटा. दोषपूर्ण लक्षण

का परिष्कार करने के बजाय, अव्याप्ति स्थल को ही लक्ष्य कोटि से हटा कर लक्षण की रक्षा के प्रयत्न किए जाने लगे. 'हिन्दू' कोई धर्म नहीं है, यह तो एक संस्कृति है'. 'हिन्दुत्व तो केवल एक जीवन दृष्टि है, धर्म नहीं', इस प्रकार के प्रयोग जो आजकल अक्सर सुनने को मिलते हैं, कोई अनायास स्फुरित अर्थवाद, नहीं बल्कि मूलवादी, साम्प्रदायिक धर्म-चिन्तन के सुविचारित निष्कर्ष हैं. जनवरी, सन् १९९५ में पोप जान पॉल ने जब श्रीलंका यात्रा के दौरान एक बयान में बौद्ध मतावलंबियों को 'अधार्मिक' घोषित किया, तो इसके पीछे भी धर्म की यह बंधी बँधाई, त्रिपुटिमूलक अवधारणा ही काम कर रही थी. इस शताब्दी के प्रारम्भ में जर्मनी में नीत्शे नाम के एक प्रसिद्ध विद्वान् हुए हैं. उन्होंने अपने विशिष्ट अन्दाज में ईश्वर की मौत की घोषणा की थी. " ईश्वर मर चुका है " नीत्शे ने कहा, तो उनका आशय था कि जीवनदर्शन के रूप में आज धर्म अप्रासंगिक हो चुका है. स्पष्ट है, नीत्शे ने ईश्वरवाद को धर्म का पर्याय मानते हुए, 'ईश्वर की मौत' के रूपक के द्वारा, वर्तमान में मानव के लिए समस्याओं के धार्मिक समाधान की अर्थहीनता को अभिव्यक्ति दी. नीत्शे यह सोच भी नहीं सकते थे कि '*ईश्वर की मौत*' के बाद भी धर्म जीवित रह सकता है. कहीं बौद्ध और जैन धर्मों के रूप में, तो कहीं सांख्य, मीमांसा, तथा न्याय सम्प्रदायों के रूप में. जान-पॉल, अनीश्वरवाद के कारण जब बौद्धधर्म को धर्म मानने से इन्कार करते हैं, तो वे नीत्शे के ही भांति ईश्वरवाद और धर्म को समानार्थक मान कर चल रहे थे. नीत्शे का अपराध, एक सीमा तक क्षम्य था, क्योंकि वे न तो धर्मशास्त्र के विद्वान थे, और न ही, उन्हें अरब-इज़राईल उद्भव के धर्मों (यहूदी, ईसाई, इस्लाम) के अलावा संसार के अन्य धर्मों के बारे में कोई प्रामाणिक जानकारी थी. किन्तु जब पोप किसी अन्य धर्म के बारे में फैसला देते हैं, तो उसकी प्रामाणिकता और परिणाम दोनों पर गम्भीरता से विचार होना चाहिए. कोई भी '*विशेष*', अपने '*सामान्य*' का नियामक नहीं हो सकता, और न ही अपने किसी विशेष अर्थ को सामान्य अर्थ में प्रतिष्ठित कर सकता है. यदि इसकी अनुमति दे दी जाय तो सर्वत्र अराजकता फैल जाएगी और भाषा का व्यवहार अवरुद्ध हो जाएगा. ईश्वरवादी सम्प्रदाय, जैसा कि पोप जान-पॉल ने किया, ईश्वरवाद को धर्म के अर्थ में प्रतिष्ठित करते हुए, अनीश्वरवादी सम्प्रदायों में धार्मिकता का निषेध करता है, तो अनीश्वरवादी भी, अपने विशेष अर्थ को 'धर्म' शब्द का परमार्थ बताते हुए, ईश्वरवादी सम्प्रदायों में, धार्मिकता का निषेध कर सकता है. इसकी परिणति एक ऐसी स्थिति में हो सकती है, जिसमें हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई की चर्चा तो हो सकती है, किन्तु धर्म की नहीं, क्यों कि इनमें से कोई भी सम्प्रदाय किसी अन्य को धर्म का अर्थ देने

को तैयार नहीं होगा. यह स्थिति पोप जान-पॉल सहित, संसार के किसी भी प्रबुद्ध धार्मिक नेता के लिए अभीष्ट नहीं हो सकती.

उक्त प्रकरण, आस्था की साम्प्रदायिक अवधारणा के अन्तर्विरोध का सहज निदर्शन है. प्रत्येक सम्प्रदाय के अंतर में सार्वभौमिक स्वीकृति की आकांक्षा पलती है, लेकिन अधिकांश सम्प्रदाय सार्वभौमिकता के प्रतियोगी, अपने मूर्तरूप का परित्याग तो दूर की बात, मूर्तप्रतीकों और आलम्बनों के पुनर्व्याख्यान तक की अनुमति नहीं देते. यह एक प्रकार से सशरीर स्वर्ग में घुसने की जिद की तरह से है. इसकी परिणति, अपने सम्प्रदाय को, धर्म का एक मात्र परमार्थ, सभी धर्मों का सार, अपने धर्मग्रन्थ को संसार का अन्तिम धर्मग्रन्थ और अपने नबी को, आखिरी नबी, मानने जैसी बेहद खतरनाक मान्यताओं में होती है. हम इन्हें 'बेहद खतरनाक' इसलिए कहते हैं, क्योंकि ये मान्यताएं तलवार के बल पर धार्मिक साम्राज्य की स्थापना (इस्लामी जेहाद) तथा पैसे के बल पर धार्मिक प्रसारवाद के कार्यक्रमों को जन्म देती हैं एवं उनके अत्याचारों को सैद्धान्तिक औचित्य प्रदान करती हैं. आज कश्मीर में जो योजनाबद्ध तरीके से हिन्दुओं का कत्ल हो रहा है, वह सारे संसार में चल रहे, इस्लामी जेहाद के कार्यक्रम का हिस्सा है. इस जेहाद को, संसार भर के मुसलमानों का, किसी का खुला किसी का छिपा समर्थन हासिल है. लाहौर में कादियानियों का कत्लेआम, मुस्लिम देशों में बहाईयों पर वर्णनातीत अत्याचार, सिर्फ इसलिए हुए और हो रहे है, क्योंकि वे पैगम्बरे-इस्लाम को 'आखिरी-नबी' नहीं मानते. इस सदी के सातवें व आठवें दशकों में, पंजाब में निरंकारियों पर हुई ज्यादतियां भी इसी क्रम में आती हैं. बाइबिल की मान्यता से भिन्न, 'भूगोल' का प्रतिपादन करने के लिए, पोप द्वारा वृद्ध वैज्ञानिक गैलिलियो का उत्पीड़न, हिन्दू-समाज में छुआछात तथा इस विषमता के कारण क्रिया-प्रतिक्रिया का रक्तरंजित इतिहास, कट्टर धार्मिक-प्रतिबद्धताओं की अपरिहार्य परिणतियां हैं. लेकिन हिन्दू के पक्ष में यह मानना पड़ेगा कि उसने अपनी प्रतिबद्धताओं के परीक्षण, नए संदर्भों में पुनर्मूल्यांकन और पुनराख्यान की आन्तरिक यांत्रिकी विकसित कर ली है, जो वैमत्य की मान्यता और आस्था के परासाम्प्रदायिक, संघीय एवं तात्त्विक धरातलों की स्वीकृति के बिना सम्भव नहीं है. यह एक दिलचस्प अध्ययन हो सकता है कि किस प्रकार संसार के सभी सम्प्रदाय — जिनमें हिन्दू आस्थासंघ के सम्प्रदाय भी शामिल हैं — अपनी-अपनी मूर्त अस्मिताओं और उनके सर्वोपसंहारी दावों की सुरक्षा के लिए आस्था-तत्त्व की निराकार परा-साम्प्रदायिक अवधारणा पर आधारित हिन्दुत्व के विरुद्ध समान

सैद्धान्तिक मंच से अभिमुख होते हैं. जो परिच्छिन्न है, वह मूर्त है. मानव मस्तिष्क पर इस मूर्त की पकड़ कितनी मजबूत हो सकती है, इसे समझना है तो उन सम्प्रदायों को देखें जो मूर्ति को तोड़ते हैं, और 'मूर्त' को पूजते हैं, कभी गुरु के रूप में, कभी पैगम्बर के रूप में, कभी धर्मग्रन्थ के रूप में तो कभी, धर्मग्रन्थ पर आधारित व्यवस्था के रूप में. अपनी साकार प्रतिबद्धताओं के लिए कभी तलवार लेकर लड़ाइयां लड़ते हैं तो कभी वैमत्य के विरुद्ध मौत के फतवे जारी करते हैं. आस्था की तात्त्विक अवधारणा से साम्प्रदायिक मानसिकता का भय कुछ वैसा ही होता है जैसा अस्तित्व-तृष्णा से थरथराती पानी की बूंदों का समुद्र के सामने. संसार में मूर्तिभंजक सम्प्रदाय तो बहुत हुए हैं, मूर्तभंजक धर्म केवल एक है, और वह है, हिन्दूधर्म, जो आस्था की समस्त मूर्त, पुस्तकीय अवधारणाओं को उनकी हैसियत दिखाने का साहस रखता है, अपने पक्ष में बिना किसी अपवाद के, बिना किसी विशेषाधिकार का सृजन किए. श्रीमद्भगवद्गीता के यह शब्द विचार करने योग्य हैं —

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।। २.४१ ।।
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।। .४२ ।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।। .४३ ।।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।। .४४ ।।
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।। .४५ ।।

'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन,' यह वाक्य, आस्था के पुस्तकीय विधानातीत धरातल का स्पष्ट निदर्शन है. इसकी मान्यता हिन्दूधर्म का परम वैशिष्ट्य है. इस्लाम और ईसाई धर्मों में यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि कुरानशरीफ से परे या बाइबिल से परे भी आस्था का कोई रूप हो सकता है.

* * *

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, सम्प्रदायबहुत्व तथा आस्थासंघ में उसके रूपान्तर

का क्रम, वस्तुतः आप्तोपदेश (शास्त्रों) में, वैयक्तिक अनुभव और विवेक के विनियोग का स्फोट है. जहां इस विनियोग को साक्षात् अथवा परोक्षरूप में स्वीकार किया गया है, वहीं इसकी तार्किक परिणतिरूप, धर्म और सम्प्रदाय के पारिभाषिक अर्थ, और उनके भेदविमर्श की प्राप्ति होती है. किन्तु जहां शास्त्रार्थनिर्धारण में, वैयक्तिक विवेक और अनुभव की भूमिका को प्रारम्भ में ही दृढ़तापूर्वक नकार दिया गया हो, वहां आस्था के किसी व्यापक, सार्वभौमिक अर्थ में मुक्त होने की अथवा विकृत होने की (शब्दचयन अपने-अपने हिसाब से) — सम्प्रदाय बहुत्व, आस्थासंघ के आविर्भाव और तन्मूलक धर्मचेतना में प्रवेश की न कोई सम्भावना बनती है, न ही उसकी मान्यता का कोई औचित्य. अपनी मूलवादी प्रतिबद्धताओं के प्रति सतत जागरूक, ऐसे सम्प्रदायों के सन्दर्भ में, जिनमें अरब-इजराइल पृष्ठभूमि के सम्प्रदाय — यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम — उल्लेखनीय हैं, सम्प्रदाय और धर्म के बीच अन्तर नहीं किया जा सकता. किन्तु इनसे सर्वथा भिन्न, आस्था के भारतीय परिदृश्य में यद्यपि सम्प्रदायों का उद्‌भव और संरचना अन्यत्र से बहुत भिन्न नहीं थी, यहां साम्प्रदायिक चेतना वैयक्तिक विवेक और अनुभव के प्रति कभी पूरी तरह निरपेक्ष नहीं हो सकी.

''*नहि श्रुतिशतमपि शीतोऽग्निरप्रकाशो वेति ब्रुवत्प्रामाण्यमुपैति*'' (सौ श्रुतियां मिलकर भी अग्नि को शीतल अथवा प्रकाशरहित कहें, तो प्रमाण नहीं हो सकतीं — गीताभाष्य - १८.६६), आचार्य शङ्कर की यह उक्ति, भारत की उस संस्काराहित जातीय प्रज्ञा को ही अभिव्यक्ति देती है, जिसने आस्था के संहितानिबद्ध अर्थ में मानवीय संदर्भों को स्वीकार करते हुए, साम्प्रदायिक अवधारणा से भिन्न, धर्म शब्द को एक सर्वथा नया अर्थ दिया. ईश्वर ने समय-समय पर, अवतारी पुरुषों को धरती पर भेजा, उनके द्वारा संसार के मार्गदर्शन के लिए शास्त्र भेजे; यह समझ में आता है. किन्तु इस सबसे पहले, प्राणिमात्र के अन्तःकरण में ईश्वर की जिस सामर्थ्य का अवतरण हुआ, उस सनातन देवदूत का नाम है 'बुद्धि' जो जीवन की प्रतिक्षण बदलती परिस्थियों में विवेक के द्वारा उसका मार्गदर्शन करती है. इसके अनुमोदन के बिना कोई शास्त्र, कोई विधान आस्था नहीं बन सकता. जिस विवेक का अनुमोदन, प्रत्येक आस्था का पूर्वकल्पित आरम्भबिन्दु है, उसका आस्था में ही निषेध कैसे सम्भव है?

शास्त्रलब्ध आस्था में, वैयक्तिक विवेक और अनुभव की प्रतिष्ठा, हिन्दूधर्म का अनन्य वैशिष्ट्य है. यह हिन्दूधर्म की दुर्बलता भी है और उसकी शक्ति भी. हिन्दूधर्म की हतप्रभ कर

देने वाली विविधता, उसका बिखराव, उसमें सतत पनपते, अप्रामाणिक आस्थाभासों के जंगल, मूलतः आस्था में व्यक्ति की प्रतिष्ठा की ही तार्किक परिणति हैं. साथ ही यह भी सही है कि वैयक्तिक अनुभव का समर्थन, आस्था को अन्तरंग प्रामाणिकता देता है, साथ ही विवेक (बुद्धि) की भूमिका की स्वीकृति, आस्था को एक सार्वभौमिक अर्थ में प्रतिष्ठित करती है, जो न केवल हिन्दुओं की विविधता और बिखराव को एकात्मक आकार देती है, अपितु एक व्यापक परिकल्प में संसार के अन्यान्य धर्मों के संग्रह की प्रामाणिक परिस्थितियों को रेखांकित करती है.

इसमें संदेह नहीं कि बुद्धि और विवेक का विनियोग आस्था को दुर्बल करता है. समझदार आदमी प्रश्नविहीन समर्पण नहीं कर सकता. जहां प्रश्न होंगे वहां समर्पण सम्पूर्ण नहीं हो सकता. प्रश्नों के समाधान के क्रम में आस्था का पुनर्व्याख्यान सम्भव है, किन्तु पुनर्व्याख्यियित आस्था के प्रति व्यक्ति का समर्पण सम्पूर्ण होगा, इस बात की कोई गारंटी नहीं है, क्योंकि इसको लेकर सवालों का सिलसिला नहीं उठेगा, यह नहीं कहा जा सकता. कुछ मुस्लिम विद्वानों का मानना है कि — "हिन्दू धर्म उदार है, यह बात सही नहीं है. वास्तव में हिन्दू की आस्था ही कमजोर है". विचारपूर्वक देखें तो आस्था की उदारता और दुर्बलता दोनों ही समानार्थक हैं. बुद्धि का संसर्ग, पुनरावलोकन और पुनर्व्याख्यान की जिस प्रक्रिया को जन्म देता है, वह अनिवार्य रूप से तो नहीं, किन्तु समान्यतया आस्था की मूर्त प्रतिबद्धताओं को शिथिल करती है. प्रतिबद्धता की इस शिथिलता को ही हम आस्था की दुर्बलता कहते हैं. अपने विश्वास के पुनरावलोकन और परीक्षण की यह प्रक्रिया सभी धर्मों के बीच एक सामान्य, व्यापक अर्थ में अन्तर्दृष्टि को जन्म देती है. धर्म की यह व्यापक दृष्टि ही उदारता है. साम्प्रदायिक विभाजन की रेखाओं को, विशेषकर सम्प्रदायों की परधर्मोच्छेदक प्रतिबद्धताओं, एवं उनके सार्वभौमिक मानववादीमूल्य-विरोधी तेवरों को शिथिल किए बिना, धार्मिक उदारता की कल्पना भी नहीं की जा सकती. प्रतिबद्धताओं की यह शिथिलता, जिसे आस्था की दुर्बलता भी कहा जा सकता है, धर्म के उदार तर्कसंगत विवरण की अनिवार्य परिणति है. कहने का तात्पर्य यह कि जैसे ही बुद्धि और अनुभव के लिए शास्त्रलब्ध आस्था के द्वार खोले जाते हैं, साम्प्रदायिक प्रतिबद्धता की शिथिलता और धर्म की उदार अवधारणा, इसकी अनिवार्य परिणति के रूप में सामने आते हैं. धर्म की उदारता और आस्था की दुर्बलता दो अलग अलग बातें नहीं, जैसा कि कुछ धर्मशास्त्री मानते हैं, बल्कि एक ही अर्थ के अलग अलग भावबोध हैं.

आस्था में व्यक्ति की प्रतिष्ठा और विवेक का अधिकार हिन्दूधर्म की जातीय अस्मिता को उसके संस्थागत अनुशासन को कहीं दुर्बल कर देती है तो कहीं पूरी तरह तिरोहित. अतः हिन्दूधर्म, समाज सुधार के नाम पर धार्मिक व्यवस्था के धर्मनिरपेक्षी निर्धारणों के बारे में न तो कभी कोई अनुशासित सोच विकसित कर सका है, और न ही, कभी अपने भीतर पनपते, गांधीवाद और नेहरूपंथ जैसे सिद्धान्ताभासों का प्रभावी प्रत्याख्यान करते हुए अपने जातीय हितों के लिए कोई सर्वानुमत राजनैतिक कार्यक्रम प्रस्तुत कर सका है. आस्था में व्यक्ति की प्रतिष्ठा, वैमत्य का अधिकार, पुस्तकीय संहिताओं से परे आस्था की तात्त्विकमूल में प्रतिष्ठा तथा धर्म की गत्यात्मक अवधारणा — ये हिन्दूधर्म के कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो उसकी जातीय-चेतना को, उसके संस्थागत अनुशासन को न केवल दुर्बल करते हैं, अपितु तत्त्वचिन्तन के अनुचित विनियोगरूप आस्थाभासों को जन्म देते हुए तज्जनित विभ्रम परम्परा के द्वारा हिन्दू की जातीय अस्मिता को पूरी तरह तिरोहित कर देते है. जातिव्यवस्था के लिए बदनाम हिन्दूधर्म का स्वयं का जातीय भावबोध, अन्य धर्मावलंबियों की तुलना में, अत्यन्त दुर्बल और अस्पष्ट है. यही कारण है कि पाकिस्तान बन जाने के बाद भी जहां ''मुस्लिम कौम" धर्मनिरपेक्ष भारत में भी अपने अधिकारों की जंग जारी रखे हुए है, हिन्दूसमाज, गुलामी, शोषण और अवर्णनीय अत्याचारों के एक हजार साल के दौर को झेलने के बाद भी, अपने हितों के लिए संघर्ष करना तो अलग रहा, आज के संदर्भों में उन्हें ठीक से परिभाषित भी नहीं कर पा रहा है. ऐसा नहीं है, कि हिन्दूधर्म की कोई जातीय अस्मिता नहीं है, या चुनौतियों के अनुरूप इसमें धर्म की जातीय पहचान के लिए कोई मान्यता नहीं है. श्रीमद्भगवद्गीता तत्त्वदर्शन के, वैयक्तिक और जातीय संदर्भों में प्रामाणिक विनियोग की पद्धति का उपदेश और निदर्शन है. आध्यात्मतत्त्व तथा साधनापद्धतियां जिनका उपदेश श्रीमद्भगवद्गीता में हुआ है, वे निःसंदेह धर्म के सनातन उपादान हैं. किन्तु उन सबको अथवा उनमें से किसी एक को धर्म कहना, कारण और कार्य के अन्तर की अनदेखी करना होगा. तत्त्वदर्शन का *व्यक्तिक्षेत्र* में अथवा *समूह-व्यक्ति* में अवगाहन, अर्थात् देश-काल-विशिष्टचेतना में सनातन-उपादान का विनियोग, व्यक्ति के लिए कर्तव्य का उसके लिए प्रामाणिक धर्म अर्थात् स्वधर्म का निर्धारण करता है. श्रीमद्भगवद्गीता में तत्त्वदर्शन है, इस बात से इन्कार नहीं. इसमें निवृत्तिशास्त्र की चर्चा है, इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता. किन्तु गीता निवृत्तिशास्त्र का ग्रन्थ है, जैसा कि आचार्य शङ्कर का कहना है, यह बात सही नहीं है. गीता एक व्यक्ति को सम्बोधित ग्रन्थ है. यह व्यक्ति

है अर्जुन, जो अपने जीवन के निर्णायक क्षणों में, अन्तर्द्वन्द्व और कर्तव्य व्यामोह से ग्रस्त हो जाता है, और आर्त होकर भगवान श्रीकृष्ण को मार्गदर्शन के लिए पुकारता है. गीतोपदेश का समारम्भ श्लोक सीधे अर्जुन की मनः स्थिति को, उसके धर्मविभ्रम को सम्बोधित है-

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।।११।।

(हे अर्जुन! जो शोक करने योग्य नहीं हैं, उनके लिए शोक करता है और पण्डितों जैसी बातें करता है. किन्तु पण्डित, जिनके प्राण चले गए हैं, और जिनके प्राण नहीं गए हैं, उनके लिए शोक नहीं करते.)

उक्त श्लोक के दो भाग हैं : सम्बोधन के लिए व्यक्तिक्षेत्र का रेखांकन तथा उपयुक्त तत्त्वज्ञान का प्रस्ताव. श्लोक का पूर्वार्ध उस अव्यवस्थित मनःस्थिति को परिभाषित करता है, जो अर्जुन में, बौद्धिक व्यवसाय के बिना ही पण्डितों जैसे वाग्व्यवहार को जन्म दे रही है. अव्यवस्थित मनःस्थिति जिस बौद्धिक मिथ्याचार को जन्म दे रही है, उसी को गीता में प्रज्ञावाद कहा गया है. श्लोक का उत्तरार्ध तत्त्वज्ञान में प्रतिष्ठित स्वस्थ्य चित्त, तन्निरूपित बौद्धिक-व्यवसाय, तज्जन्य पण्डित व्यवहार का निदर्शन कराता है. स्पष्ट है कि ''*गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः*' यहां से जिस आत्मतत्त्व का उपदेश प्रारम्भ होता है, वह एक निश्चित व्यक्तिक्षेत्र की निश्चित मनोदशा और तज्जनित निश्चित समस्या को सम्बोधित है. इन सन्दर्भों में आत्मतत्त्व का उपदेश, अर्जुन के लिए युद्धरूप कर्तव्य के विधान में पर्यवसित होता है —

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।।१८।।

(इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप आत्मा के, यह सब शरीर नाशवान् कहे गए हैं, इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन तू युद्ध कर)

आत्मतत्त्व के निर्वचन का ''*तू युद्ध कर*'' यह फलितार्थ जिस प्रकार 'भरतवंशी अर्जुन' के लिए प्रामाणिक है, किसी अन्य व्यक्ति के लिए उसी रूप में प्रामाणिक हो यह आवश्यक नहीं है. आत्मा के अविनाशी स्वरूप तथा शरीर की नश्वरता का ज्ञान, धर्म के *प्रवृत्ति* और *निवृत्ति* दोनों रूपों का समर्थन कर सकता है. तत्त्वज्ञान प्रवृत्ति धर्म में पर्यवसित होता है या निवृत्तिधर्मरूप में, यह उस व्यक्तिक्षेत्र पर निर्भर करता है, जिसमें इसका विनियोग हुआ है. अर्जुन एक वीर पुरुष

है, योद्धा है, जो आततायी कौरवों द्वारा किए गए अन्याय के इतिहास को ढो रहा है. इस परिभाषित व्यक्तिक्षेत्र में तत्त्वज्ञान का उपदेश युद्ध रूप स्वधर्म का विधान करते हुए अर्जुन में, सिद्धान्ताभास जनित, युद्धोपरतिरूप धर्मविभ्रम का निराकरण करता है. किन्तु पक्वकषाय व्यक्तिक्षेत्र में, जैसा कि भगवान बुद्ध के जीवन में हम देखते है, शरीर के नाशवान् होने का ज्ञान, उनके लिए निवृत्तिधर्म का मार्ग दिखाता है. शास्त्र-विधान का अनुपालन या तत्वज्ञानजनित-कर्मबन्धोच्छेदक विवेक, धर्म की कर्म या ज्ञानमूलक यह अवधारणाएं मानव की सामान्य, छोटी या बडी जातीय अस्मिताओं को सम्बोधित हैं, और इस रूप में वे धर्मसंकट के वैयक्तिक-स्वरूप तथा व्यक्ति की अन्तरङ्ग आध्यात्मिक मांग, दोनों का संज्ञान लेने में स्वरूपतः असमर्थ हैं. अतः उनके संदेश अपर्याप्त समाधान हैं. शास्त्रों की व्यवस्थायें — शास्त्र हिन्दुओं के हों या अन्यान्य धर्मों के — देश काल के बदलते संदर्भों में तो अपर्याप्त लगती ही हैं, ऐसे संदर्भों की कल्पना की जा सकती है जिनके बारे में शास्त्र अपने सर्वोपसंहारी दावों के वाबजूद कोई मार्गदर्शन नहीं दे सकते. इस वस्तुस्थिति को ध्यान में रखते हुए, श्रीमद्भगवद्गीता व्यक्तिक्षेत्र में शास्त्रों के अवतरण, तथा तन्मुखेन व्यक्तिप्रमाणधर्म, अर्थात् स्वधर्म के अनुसंधान की पद्धति का निदर्शन है. इसे साक्षात् किसी शास्त्र की पहचान देना, इसे प्रवृत्ति या निवृत्ति धर्म का या फिर ज्ञान, कर्म या भक्ति के शास्त्ररूप में स्थापित करना, इसके ऐतिहासिक स्वरूप तथा विशिष्ट चिन्तन पद्धति, दोनों की अनदेखी करना है. इस विवेक को ध्यान में रख कर विचार करते हैं तो गीता का लगभग सम्पूर्ण पारम्परिक पाण्डित्य कुछ ऐसा लगता है, जैसे कोई व्यक्ति सामने रखी मिठाई को चीनी साबित करने पर तुल जाय. गुलाब-जामुन में चीनी होती है, यह सही है. लेकिन गुलाब-जामुन चीनी नहीं होती, यह सब जानते हैं. गीता में अद्वैतवेदान्त है, ज्ञान, कर्म और भक्तियोग की चर्चा भी है, इसमें कोई सन्देह नहीं. किन्तु अपनी विशिष्ट चिन्तन-प्रक्रिया में इन शास्त्रों का प्रयोग करती श्रीमद्भगवद्गीता इनमें से किसी भी एक शास्त्र का ग्रन्थ नहीं है.

श्रीमद्भगवद्गीता अनेक सम्प्रदायों के मध्य आस्था के एक सामान्य अर्थ का उद्घाटन करती है, अतः इसे ***धर्मदर्शन का ग्रन्थ*** कहा जा सकता है. यतः यह सामान्य अर्थ हिन्दू-आस्थासंघ का आधार है, गीता को हिन्दूधर्मदर्शन का ग्रन्थ भी कहा जा सकता है. इसे एक ***प्रतिनिधि हिन्दूशास्त्र*** इस अर्थ में कहा जा सकता है कि यह वेदों से प्रारम्भ हुई हिन्दूशास्त्र परम्परा के तात्पर्यार्थ का एक सर्जनात्मक संग्रह है. यद्यपि अन्यान्य धर्मग्रन्थों की भांति, अनुपालन के लिए

अवतरित विधान का रूप गीता का नहीं है, किन्तु यह वैयक्तिक और सामूहिक धरातलों पर आस्थाभासों से भिन्न, धर्म के प्रामाणिक स्वरूप के अनुसंधान में प्रत्येक हिन्दू का मार्गदर्शन करती है. आस्थाभासों का मूल है मोह. यह मोह शास्त्रों की समझ और उनके अनुपालन में मिथ्याचार को जन्म देता है —

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।। ३.६

(जो मूढबुद्धि पुरुष, कर्मेन्द्रियों को हठपूर्वक रोक कर, मन से इन्द्रियों के भोगों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी कहलाता है.)

इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि शास्त्र का अनुपालन क्वचित् स्थल में मिथ्याचार भी हो सकता है. इसे रोकने की या इसका निराकरण करने की सामर्थ्य शास्त्र में नहीं हो सकती, क्योंकि शास्त्र की सामर्थ्य विधान करने पर्यन्त ही है, जो अनुपालन के साथ ही उपक्षीण हो जाती है. अनुपालन की मनोभूमि, उसका क्रियाविसंवाद, विध्यर्थ का विषय नहीं बनते. शास्त्र, कर्म का विधान तो कर सकते हैं, यथाविधि अनुपालन को भी सुनिश्चित कर सकते हैं, किन्तु किया गया कर्म शास्त्रविधि का अनुपालन है, किसी अविहित प्रयोजन के लिए किया नाटक अथवा अनुपालनाभास नहीं है, यह निश्चित करने का शास्त्र के पास न तो कोई साधन है, और न ही अनुपालनाभासावरोधक कोई व्यवस्था. धर्माचरण में मिथ्याचार का जो एक मात्र प्रभावी निवारक हो सकता है, वह है व्यक्ति का विवेक — उसकी आत्मालोचन की सामर्थ्य और बौद्धिक ईमानदारी. हिन्दू-धर्मदर्शन, धर्म में वैयक्तिक विवेक की न केवल भूमिका को स्वीकार करता है, अपितु उसके प्रामाणिक विनियोग की परिस्थिति को भी रेखांकित करता है,. यह आत्मा की स्वाधीनता की अवस्था है जब आत्मा किसी अन्य का (शास्त्रादि का) विधेय न बन कर, स्वयं अपना विधेय होती है :

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्माप्रसादमधिगच्छति ।। गी. २.६४

(रागद्वेष से रहित, अपने वश में की गई इन्द्रियों के द्वारा, विषयों को भोगता हुआ, विधेयरूप आत्मा, अन्तःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त करता है.)

यह विवेक, जो आत्मा को विधेयात्मा बनाता है, यद्यपि योग्यता रूप में हर व्यक्ति में

विद्यमान है, इसकी सिद्धि निरन्तर आभ्यास और साधना से ही होती है. अतः जनसामान्य के लिए शास्त्रों के शासन और उसके महत्त्व को बढ़ा चढ़ा कर नहीं कहा जा सकता. जो साधना से उस स्थिति में पहुंच गए हैं, जहां से शास्त्रों की मर्यादाओं की सीमित अर्थवत्ता का अनुभव होता है, उन्हें भी यह अधिकार नहीं है कि शास्त्रों में दूसरों की आस्था को विचलित करें.

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।। गी. ३.२६
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।। गी. ३.२९

(ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों में बुद्धिभेद अर्थात् कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं स्वरूप में स्थित हुआ, सब कर्मों को अच्छी प्रकार करता हुआ, उनसे भी वैसे ही करावे. (३.२६) और प्रकृति के गुणों से मोहित हुए पुरुष गुण और कर्मों में आसक्त होते हैं. उन अल्पज्ञ मन्दबुद्धि जनों को ज्ञानी पुरुष चलायमान न करे.(३.२९).

जिस प्रकार योग्यता रूप में मानवमात्र की गरिमा, उसका अन्तरङ्ग माहात्म्य और भद्रता की मान्यता जनतांत्रिक जीवन दर्शन का मूलाधार है, उसी प्रकार हिन्दूधर्म का मूलाधार है, मानव मात्र की आध्यात्मिक गरिमा की अवधारणा. यह वैशिष्ट्य हिन्दूधर्म को उन मिशनरी धर्मों से अलग करता है जो इंसान को अपने आदि-पूर्वज आदम के ईश्वरीयाज्ञोल्लंघन रूप पाप को ढोती एक अभिशप्त संतति मानते हैं. आज के युग में, ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो अधिनायकतंत्र के त्वरित परिणामों को देखते हुए, जनतांत्रिक पद्धति को भ्रष्ट, अनुशासनहीन, गैरजिम्मेदार विपथगामी, दीर्घसूत्री तथा सर्वथा असफल घोषित करते हैं. बात बहुत गलत नहीं है. जनतंत्र विकासित मानव का जीवनदर्शन है. शिक्षित और अविपन्न समाज, इसकी सफलता की आधारभूत शर्त है. विपन्न और अशिक्षित समाज में यदि जनतांत्रिक व्यवस्था असफल हो जाती है, तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए. जो बात जनतंत्र के बारे में सही है, वही बात कुछ अधिक ही सटीक रूप में हिन्दूधर्म के बारे में भी सही है, क्योंकि आस्था के निर्धारण में, मानवीय विवेक को जो हैसियत हिन्दूधर्म ने दी है, संसार के अन्यान्य धर्मों में उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती. हिन्दूधर्म, प्रबुद्ध मानव का धर्म है. अतः वैयक्तिक और सामाजिक धरातलों पर बौद्धिक सामर्थ्य का क्षरण, अशिक्षा, धर्मदर्शन में शिक्षित केन्द्रीय अनुशासन का अभाव, वैमत्याधिकार के अविवेकपूर्ण प्रयोग, सीधे

हिन्दूधर्म के मूल पर आघात करते हैं, उसमें विभ्रम और बिखराव उत्पन्न कर देते है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार अशिक्षा और दारिद्र्य जनतांत्रिक प्रणाली को विकृत करते हुए, उसे एक भ्रष्ट गैरजिम्मेदार और अनुशासन हीन व्यवस्था में परिवर्तित कर देते हैं. विवेकाश्रित व्यवस्था, वह धर्म की हो या राज्य की, उसमें उपयुक्तशिक्षा के द्वारा विवेकोद्बोधन का अभियान निरन्तर चलते रहना चाहिए. जो हिन्दुत्व की लड़ाई लड़ रहे हैं, जो हिन्दू-हितरक्षण की बात करते हैं, या जो हिन्दूधर्म की वस्तुनिष्ठ समझ को प्रस्तुत करने के प्रयासों से जुड़े हैं, वे इस आधारभूत सत्य की उपेक्षा नहीं कर सकते. प्रस्तावित कार्य हिन्दू विवेकोद्बोधन की दिशा में एक संक्षिप्त सा प्रयास है. गीताभाष्य की समस्या आज भी लगभग उसी रूप में है, जिस रूप में आचार्य शङ्कर ने उसे महसूस किया था, और हमें विश्वास है, आगे भी इसी रूप में रहेगी, ताकि प्रत्येक युग गीता में अपने लिए प्रामाणिक धर्म का अनुसंधान कर सके. अपनी बात को हम आचार्य शङ्कर के ही शब्दों में कहते हुए समाप्त करते है :

तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्. तदर्थाविष्करणाय अनेकैः विवृतपदपदार्थ-वाक्यार्थन्यायमप्यत्यन्तविरुद्धानेकार्थत्वेन लौकिकैः गृह्यमाणमुपलभ्य अहं विवेकतः अर्थनिर्धारणार्थं संक्षेपतो विवरणं करिष्यामि।

(सम्पूर्ण वेदार्थ का सार-संग्रहभूत यह गीताशास्त्र अत्यन्त दुर्विज्ञेयार्थ है. उस अर्थ को प्रकट करने के लिए अनेकों (विद्वानों) के द्वारा पदच्छेद, पदार्थ, वाक्यार्थ आक्षेप और समाधानपूर्वक इसकी विस्तृत व्याख्याएं की गई हैं, तो भी मनुष्यों के द्वारा उस गीताशास्त्र के परस्पर अत्यन्त विरुद्ध अनेक प्रकार के अर्थ ग्रहण किए जाते देखकर, मैं अपने विवेक से अर्थनिर्धारण करने के लिए संक्षेप में व्याख्या करूंगा.)

■ ■ ■

उपोद्घातः

ॐ श्री परमात्मने नमः

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ।।

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ।।

अहैतुककृपारूपं, प्रज्ञाजलजभास्करम् ।
गोपाललालनासक्तं बिठ्ठलेशगुरुं भजे ।।

शङ्करात्मविभावाय चिन्मयानन्दरूपिणे ।
अर्प्यते भावसम्भारः गीताविवरणाञ्जलिः ।।

१. श्रीमद्भगवद्गीतायाः हिन्दुधर्मस्य प्रतिनिधिधर्मग्रन्थत्वादस्याः व्याख्यानं प्रस्तौमि हिन्दुधर्मस्वरूपपरिज्ञानलाभाय।

संकोचप्रसारशीलः धर्मपदार्थः, सामान्यविशेषार्थानाम् आस्थाघटक-घटकसंहतीनाञ्च समर्पकत्वात्तत्तत् स्थले प्रयोगादेवास्य अर्थनिर्धारणं कर्तव्यम्। ननु विद्यन्ते बहूनि आचार्यप्रणीतानि गीताभाष्याणि; किं तैः हिन्दुधर्मस्यापेक्षितं ज्ञानं न भवति? उच्यते, वेदान्तादिसम्प्रदायपराणि, न तु हिन्दुत्वपराण्येतानि पारम्परिकगीताभाष्याणि, हिन्दुधर्मस्य गीतायाः वा एकपक्षीयं साम्प्रदायिकं सत्यं उद्घाटयन्ति स्वरूपविप्रकृष्टमतो स्फुटमेवाप्रयोजकत्वमेतेषां हिन्दुत्वजिज्ञासाप्रकरणे । हिन्दुधर्मस्य किं स्वरूपम्, कः विशेषः इतरेभ्यो धर्मेभ्यः स्वकीयेभ्यः सम्प्रदायेभ्यश्च इति प्रश्नानालक्ष्य धर्मदर्शनानुशासनरूपं श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्यानमिदं प्रस्तूयतेऽस्माभिः ।

धार्मिकास्थायाः किं स्वरूपम्, काः न्यूनतममूलमान्यता आलम्बते इयम्, आस्थायाः प्रमाणं केवलं पुस्तकीयं तन्निरपेक्षमपि वा किमपि, धर्मग्रन्थस्य प्रामाणिकतायाः क आधारः, तर्कस्यानुभवस्य वा किं स्थानम् आस्थायाम्, धार्मिक-सार्वभौमिकतायाः कोऽर्थः, साम्प्रदायिकेषु आस्थाविशेषेष्वपि को वाऽनुसन्धेयः सामान्यपदार्थः — इमे सर्वे प्रश्नाः धर्मदर्शनमिति अनुशासनस्य जिज्ञासाधिकारः। अस्त्यत्र अस्माकं चिन्तनपरम्परायां विधिसंहितारूपं धर्मशास्त्रं किमपि, किन्तु धर्मदर्शनस्य स्वतंत्रानुशासनरूपेण विकासो नैवाभवदत्र।

धर्मस्वरूपविमर्शस्य आधारभूतवैचारिक-यान्त्रिक्या अभावः न केवलं बाधते हिन्दुधर्मस्य अन्यान्यैः स्व-पर-सम्प्रदायैः सह सार्थकं सम्वादम्, अपितु अप्रतिहतं प्रोत्साहयति बहुविधधर्माभासान् अपरीक्षितान्। हिन्दुधर्मस्य अनन्यतमा दार्शनिक-पृष्ठभूमिरपि साहाय्यं न विदधात्यत्र, भिन्नानुशासनत्वात्। अथातोऽत्र गीतार्थानुसंधानं हिन्दुधर्मदर्शनानुशासनपरम्।

हिन्दुधर्मस्य विस्तारं साम्प्रदायिकवैविध्यञ्चालक्ष्य महाभारतीयपरिमाणम्, परं महत्त्वं भजते श्रीमद्भगवद्गीताया एकत्वाधाररूपधर्मतत्त्वानुसंधानप्रवृत्तिः। अन्यत्रैतादृशी प्रवृत्तिः साम्प्रदायिक- कोट्युल्लंघनेऽनीशा, सामान्यतया एकस्य अपरसम्प्रदायस्य जन्मन्येव प्रतिफलति। एतत्तु श्रीमद्भगवद्गीताया एव वैशिष्ट्यं यदियं धर्मस्य साम्प्रदायिक-निर्धारणानि अनस्वीकुर्वन्त्यपि, उद्घाटयति धर्मस्य काञ्चिद् परां साम्प्रदायिकीं कोटिम्, तत्त्वसंग्रहरूपा या च सर्वेषां सम्प्रदायानां सापेक्षामर्थवत्तां निदर्शयन्ती तेषां प्रतिष्ठायाः, सहभागस्याविरोधस्य च भूमिरूपेण परिकल्पयति हिन्दुधर्मम्। यतः श्रीमद्भगवद्गीता अनुसन्दधाति परं साम्प्रदायिकाधाररूपमास्थातत्त्वम्, अस्याः धर्मदर्शनस्य ग्रन्थरूपेणापि निर्वचनं भवितुं शक्यते हिन्दुधर्मग्रन्थरूपेण, पुनः हिन्दुधर्मदर्शनस्य, धर्मदर्शनसामान्यस्य च ग्रन्थरूपेण अस्याः निर्धारणेषु न कोऽपि विरोधः, भिन्न-कोट्यात्मकत्वादेतेषाम्।

१. श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्य की परिकल्पना :

श्रीमद्भगवद्गीता हिन्दूधर्म का प्रतिनिधि शास्त्र है. जो स्थान बाइबिल का ईसाइयों के लिए है और कुरानशरीफ का मुसलमानों के लिए है, वही स्थान श्रीमद्भगवद्गीता का हिन्दुओं के लिए है. अतः हिन्दूधर्म के प्रामाणिक ज्ञान के लिये गीता के धर्मदर्शनभाष्य का प्रस्ताव करते हैं. यहां धर्म पद का तीन अर्थों में प्रयोग किया गया है. (१) सामान्य अर्थ में आस्था-तत्त्व के लिए,

जो सभी सम्प्रदायों का सामान्य लक्षण है, (२) सम्प्रदाय विशेष के लिये, तथा (३) सम्प्रदायसंध के लिये, यथा हिन्दूधर्म. यहां सहज यह प्रश्न मन में आता है, कि सम्प्रदायार्चों तथा प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा प्रणीत अनेक गीताभाष्य प्राप्त हैं, क्या उनसे हिन्दूधर्म का अपेक्षित ज्ञान नहीं होता जो इस अभिनव भाष्य का प्रस्ताव किया जा रहा है. उत्तर में कहते हैं : आचार्यपरम्परा प्रणीत जो भी गीताभाष्य हैं, वे गीता के वेदान्तादि-सम्प्रदायपरक अर्थ को बताते हैं, हिन्दुत्वपरक अर्थ को नहीं. यतः पारम्परिक गीताभाष्य, हिन्दूधर्म के अथवा गीता के, एकपक्षीय साम्प्रदायिक अर्थ का उद्घाटन करते हैं, अतः स्वरूपविप्रकृष्ट होने से, हिन्दूधर्म की जिज्ञासा के प्रकरण में उनकी अप्रायोजकता स्पष्ट है. हिन्दूधर्म का क्या स्वरूप है, अन्यान्यधर्मों से तथा स्वयं अपने सम्प्रदायों से यह किस प्रकार भिन्न है, इन प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए, धर्मदर्शनानुशासनरूप इस गीताभाष्य का प्रस्ताव करते हैं.

धार्मिक आस्था का क्या स्वरूप है, इसके लिए किन न्यूनतम मूलमान्यताओं की आवश्यकता होती है, धर्म में केवल शास्त्र प्रमाण हैं, अथवा तद्भिन्न अन्य प्रमाण भी हैं, धर्मग्रन्थ की प्रामाणिकता के क्या आधार हैं, तर्क अथवा अनुभव का आस्था में क्या स्थान है, धार्मिक सार्वभौमिकता का क्या अर्थ है, क्या सम्प्रदाय विशेषों के मध्य कोई सामान्य आस्थातत्त्व विद्यमान है — ये सभी प्रश्न 'धर्मदर्शन' अनुशासन की जिज्ञासा के अधिकार में आते हैं. हमारी चिन्तनपरम्परा में विधिसंहितारूप धर्मशास्त्र तो हैं, किन्तु धर्मदर्शन का स्वतंत्र अनुशासनरूप में विकास हमारे यहां नहीं हो सका है. धर्म के स्वरूपविमर्श की आधारभूतवैचारिक-यान्त्रिकी का अभाव न केवल हिन्दूधर्म के अन्य धर्मों के साथ सार्थक संवाद को बाधित करता है, अपितु बिना समुचित परीक्षण के अनेकविध धर्माभासों को प्रोत्साहित करता है. हिन्दुधर्म की अनन्यसाधारण दार्शनिक-पृष्ठभूमि भी हमारी कोई सहायता नहीं कर सकती, क्योंकि धर्मदर्शन एक सर्वथा भिन्न अनुशासन है. अतः यहां हिन्दूधर्मदर्शनानुशासनपरक गीतार्थ के अनुसंधान का उपक्रम करते हैं.

हिन्दूधर्म के विस्तार एवं महाभारतीयपरिमाण के साम्प्रदायिक वैविध्य को देखते हुए, एकत्व के आधारभूत धर्मतत्त्व के अनुसन्धानशास्त्र रूप में श्रीमद्भगवद्गीता की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाती है. अन्यत्र जब भी धर्म के परा-साम्प्रदायिक स्वरूप के अनुसन्धान के प्रयत्न हुए हैं, वे साम्प्रदायिक चेतना की अस्मितातृष्णा से मुक्त नहीं हो सके, और कालान्तर में उनकी पहचान

सम्प्रदायों के बीच एक अतिरिक्त सम्प्रदाय के रूप में बन कर रह गयी. कबीरपंथ हो या सिखधर्म, बहाई सम्प्रदाय हो या रामकृष्णमिशन, आस्था के साम्प्रदायिक विभाजनों के विरुद्ध उठे ये सभी आन्दोलन अन्ततः इतरव्यतिरेकी सम्प्रदायिक इकाइयों के रूप में विजड़ित हो कर रह गये. यह केवल गीता का वैशिष्ट्य है कि यह धर्म के साम्प्रदायिक निर्धारणों को अस्वीकार न करते हुए, धर्म की परासाम्प्रदायिक कोटि का उद्घाटन करती है. तत्त्वसंग्रहरूपा यह कोटि समस्त सम्प्रदायों की सीमित अर्थवत्ता का निदर्शन कराते हुए, उनकी प्रतिष्ठा की, उनके परस्पर सहभाग और अविरोध की जिस आधारभूमि की कल्पना करती है, उसकी पहचान हिन्दूधर्म के ही रूप में ही हो सकती है. यतः श्रीमद्भगवद्गीता आस्थातत्त्व का एक परासाम्प्रदायिक आधार के रूप में अनुसंधान करती है, इसका धर्मदर्शन के ग्रन्थरूप में, निर्वचन किया जा सकता है. हिन्दूधर्म के शास्त्ररूप में, हिन्दूधर्मदर्शन के ग्रन्थ रूप में, पुनः धर्मदर्शन के ग्रन्थरूप में श्रीमद्भगवद्गीता के निर्धारणों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ये अध्ययन के भिन्न-कोटिक अनुशासनों की ओर संकेत करते हैं, जिनके अन्तर्गत गीता पर विचार किया जा सकता है.

२. 'वेदानध्यापयामास महाभारतपंचमम्' इति वेदप्रामाण्यप्रतिष्ठाप्रतिष्ठितं महाभारतं नेदिष्ठः प्रसङ्गः गीतायाः, महाभारत-कलेवरांशभूतत्वादस्या इति विज्ञजनसाधारणं वृत्तमेतद्। तदुपेक्ष्य उपनिषत्स्वेवैकवाक्यतानुसंधानसमुत्सुकाः गीतार्थनिर्धारणप्रयासाः परमोदारचरितानां सम्प्रदायप्रवर्तकाचार्यचरणानां तलस्पर्शिप्रतिभोत्थिता अपि समालोचनतां काञ्चिद् भजन्त एव, प्रस्तुतहानिरप्रस्तुतकल्पनाप्रसङ्गत्वात्। गीतार्थस्य सुविस्तृतं काव्यमयं किमपि विवरणं महाभारतं नाम। एनां स्थापनां सम्मुखीकृत्य गीतामहाभारतयोरेकवाक्यतानिदर्शनपरो महाभारतश्लोकानाम् एतादृशः समालोचितसंग्रहः कृतो वर्तते यश्च यथाटिप्पणं गीतार्थस्य अविनष्टान्तरङ्गसन्दर्भस्य उपकारकत्वं भजतेतराम् ।

एतदर्थम् अवलम्ब्यते सुनिश्चिता पद्धतिः सोपानत्रयात्मिका यत्क्रमानुसार-मध्ययनमिदं विभागत्रये नियोजितं वर्तते, यथा – (१) क्रमागतस्य गीताध्यायस्य चिन्तन-संरचनाविश्लेषः, तन्निरूपितः (२) महाभारतसन्दर्भसंग्रहः (३) गीतार्थविमर्शश्च ।

प्रथमं सोपानम् – अष्टादशाध्यायिन्यां गीतायां वेदैकवाक्यतानिदर्शनसमुत्सुकेषु वेदज्ञानविभागमनुसरत्सु पारम्परिकेष्वध्ययनेषु कर्मोपास्तिज्ञानेति त्रिषट्कात्मकं काण्डत्रयमनुसन्धीयते। तन्नोचितम्, तत्र कल्पितैकवाक्यतायाः विचारासहत्वात्, रेखाक्रमभिन्नत्वात्, आवर्तरूपत्वाच्च गीताचिन्तनप्रसरस्य । तदालक्ष्य गीताध्यायाः

विचारैककेषु विभाजिता अत्र प्रस्तूयन्ते। विचारैककस्त्वत्र न्यूनतमः घटकः, यस्य सिद्धिः अन्तःसंरचनासंगत्योः निदर्शनाधीना। अथ च – चिन्तन संरचनाविश्लेषणपरस्य प्रथमविभागस्यायं सोपानक्रमः – (१) अध्यायविश्लेषः साकाङ्क्षविचारैककसंग्रहरूपेषु, (२) विचारैककसिद्धिः (क) संरचनानिदर्शनमुखेन (ख) संगतिनिदर्शनमुखेन।

द्वितीयं सोपानम् – यतः अन्तःसंरचनासंगत्योः निदर्शनाधीना विचारैककसिद्धिः, तदनन्तरं तत्क्रमानुसारमेव महाभारतसन्दर्भसंकलनं द्वितीयसोपानविषयत्वेन प्रस्तावितः। अस्य गीतार्थपरत्वमपि निदर्शितं वर्तते टिप्पणीभिः सामान्यविशिष्टाभिः। अभिलिख्यन्तेऽत्र काश्चन सामान्यरूपेणप्रयुक्ताः टिप्पण्यः –

(१) शब्दविन्याससाम्यम् (२) शैलीसाम्यम् (३) आवृत्तिः (४) पूर्वार्धावृत्तिः (५) उत्तरार्धावृत्तिः (६) पदव्यतिरेक्यावृत्तिः (७) पदव्यतिरेकिपूर्वार्धावृत्तिः (८) पदव्यतिरेक्युत्तरार्धावृत्तिः (९) पदार्थः (१०) भावार्थः (११) भावार्थसंग्रहः (१२) समासोक्तिः (१३) अर्थव्यत्यासः (१४) अर्थव्यासः (१५) निदर्शनम्

तृतीयं सोपानम् – पूर्वसोपानाभिज्ञातैककगुम्फितमहाभारतसन्दर्भाः यथाटिप्पणं गीताव्याख्यानमार्गं निर्दिशन् अग्रिमसोपानाय कल्पते अधिगम्यतेऽत्र महाभारतसन्दर्भ-निरूपितं स्वाभिमतं भाषाविवरणोपेतं श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शनभाष्यम्, अध्ययनस्यास्य फलाधिगमरूपम्। चिन्तनसूत्राणि अवच्छेदरूपेण प्रस्तुताःसन्त्यत्र।

पुस्तके विषयप्रवर्तनस्य क्रमः नानुसरत्यध्ययनविधिक्रमम्। लक्ष्याः अत्र काश्चिद् विगमविशेषाः। अव्यवहित-भाष्यार्थ-प्रतिपत्त्यर्थम्, परिशिष्टे दीयते महाभारतसन्दर्भ-संग्रहः, विशेषजिज्ञासाविषयत्वात्। सोऽपि, स्थानकृच्छ्रतानुरोधेन संक्षेपेणैव दीयते केवलं पद्धतिनिदर्शनाय। तत्र स्त्रीपर्वसन्दर्भस्तु गीतार्थोपकारकत्वातिरिक्तं विश्वसाहित्ये युद्धविभीषिकाविषयकं सार्वकालिकं सर्वोत्कृष्टं काव्यम्। अतः सन्दर्भोऽयं सविस्तरमुद्धृतो वर्तते सन्दर्भसंग्रहे सहृदयपाठकानां सौविध्याय हिन्द्यनुवादसहितः।

२. पद्धति-विमर्श :

श्रीमद्भगवद्गीता *'वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमम्'* इस वेद प्रामाण्यप्रतिष्ठा से विभूषित, महाभारत की कलेवरांशभूत रचना है, और इस कारण से महाभारत गीता का अन्तरङ्ग सन्दर्भ है. यह एक ऐतिहासिक तथ्य है, जिसमें विज्ञजनों के लिये कोई नई बात नहीं है.

सम्प्रदायाचार्यों ने, इस तथ्य की उपेक्षा करते हुए गीता की उपनिषदों के साथ एक-वाक्यता की स्थापना करते हुए जो गीतार्थ निर्धारण के प्रयास किए हैं, वे उनकी तलस्पर्शि-प्रतिभा के प्रमाण होते हुए भी, *'प्रस्तुतहानिरप्रस्तुतकल्पना'* दोष से संक्रमित होने के कारण, आलोचना का विषय होने से नहीं बच सकते. 'प्रस्तुतहानिरप्रस्तुतककल्पना प्रसङ्ग' एक पद्धतिदोष है, जिसका अर्थ है, जो साक्षात् अथवा निकट सन्दर्भरूप में प्राप्त है, उसका परित्याग और जो विप्रकृष्ट तथा व्यवहित है उसका ग्रहण. प्रकृत में, उपनिषद् और महाभारत न केवल साहित्येतिहास के भिन्न युगों की घटनाएं हैं, अपितु वे परम्परा में चिन्तन के भिन्न अनुशासनों का प्रतिनिधित्व करते हैं. अतः श्रीमद्भगवद्गीता को उसके महाभारत सन्दर्भ से अलग करके, एक उपनिषद् की पहचान देना, इतिहास का विपर्यास है, जो उपनिषदों के साथ एकवाक्यता पर आधारित, गीताध्ययन की दोषपूर्ण पद्धति को जन्म देता है. इस पद्धति में जो गीता को वेदान्त का प्रस्थान ग्रन्थ मानकर उसकी व्याख्या का विधान करती है, गीता के ऐतिहासिक सन्दर्भों का कोई महत्त्व नहीं हो सकता. यही कारण है कि आचार्य शङ्कर ने गीता के प्रथम अध्याय को अपने भाष्य का विषय नहीं बनाया. गीता का शाङ्करभाष्य द्वितीय-अध्याय से प्रारम्भ होता है. दोषपूर्णपद्धति के कारण प्रस्तुतहानि का इससे अधिक स्पष्ट उदाहारण क्या हो सकता है?

महाभारत, गीतार्थ का सुविस्तृत काव्यमय विवरण है, या यों कहें कि गीता महाभारत का धर्मसूत्र है- दोनों कथनों में विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि वे गीता और महाभारत के अन्तःसम्बन्ध और तन्निरूपित उपकार्य-उपकारकभाव को रेखाङ्कित करते हैं. इस मान्यता को सामने रखकर, गीता महाभारत की एकवाक्यता का निदर्शन कराने वाले, महाभारत के श्लोकों का एक ऐसा समालोचित संग्रह प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है जो अक्षत अन्तरङ्ग सन्दर्भों में गीतार्थ का उपकारक हो सके. यह उपादान सामग्री है, जिसको आधार बनाकर प्रस्तावित अध्ययन प्रवृत्त होता है. एतदर्थ एक सुनिश्चित, सोपानत्रयात्मिका पद्धति का सहारा लिया गया है, जिसके क्रम के अनुसार यह अध्ययन तीन भागों में विभाजित है. यथा - १. क्रमागत गीताध्याय का चिन्तनसंरचना विश्लेषण २. गीतार्थोपकारक महाभारत-सन्दर्भ-संग्रह ३. तथा महाभारत सन्दर्भोपकृत गीतार्थ-विचार।

वैदिक वाङ्मय को विषय के अनुसार कर्म, उपासना और ज्ञान, इन तीन काण्डों में बांटा गया है. तदनुसार, वेदैकवाक्यता निदर्शनसमुत्सुक साम्प्रदायिक-भाष्य गीता के अठारह अध्यायों को

छः छः अध्यायों के तीन वर्गों में बांटते हैं, और उन्हें क्रमशः कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड रूप में निर्धारित करते हुए, गीता के व्याख्यान में प्रवृत होते हैं. किन्तु इस प्रकार का निर्धारण, गीता के स्वरूप और चिन्तन शैली से मेल नहीं खाता, अतः इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता. गीता की चिन्तन संरचना, रेखाक्रम में नहीं, अपितु आवर्तक्रम में है. ऐसा नहीं है, कि गीता में पहले छः अध्यायों में 'कर्म' पर विचार हुआ, फिर अगले छह अध्यायों में उपासना पर और फिर ज्ञान पर. दूसरे अध्याय से ही ज्ञान की, आत्मा के स्वरूप की चर्चा प्रारम्भ हो जाती है. पांचवें और छठे अध्यायों में जो योग का उपदेश हुआ है, उसे हम कर्मकाण्ड में मानें या उपासनाकाण्ड में , यह तय कर पाना आसान नहीं है. ग्यारहवें अध्याय के '***मयैवेते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाची***' तथा '***मया हतांस्त्वं जहि मा व्यतिष्ठा, युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्***', इन विधायक वाक्यों के विषय उपासना के नहीं अपितु कर्मयोग के अधिकार में आते हैं, जिस पर द्वितीय और तृतीय अध्यायों में विस्तार से विचार हुआ है. तात्पर्य यह कि श्रीमद्भगवद्गीता में विचार-बिन्दु प्रस्तुति के सरल रेखाक्रम में न होकर, परस्पर गुंथे हुए हैं, और जैसे काव्यबिम्ब दूर से एक दूसरे को छूते हुए अभीष्ट अर्थ को उद्भासित करते हैं, जैसे किसी तराशे हुए रत्न के कोने दूर से एक दूसरे को देदीप्यमान करते हैं, उसी प्रकार घनीभूत योगानुभव को अभिव्यक्ति देते, श्रीमद्भगवद्गीता में विचारबिन्दु एक दूसरे से उलझते, एक दूसरे को अपने में आत्मसात् करते आगे बढते हैं. कभी कभी तो इस क्रम में गुम हुआ विचार बिन्दु अनेक अध्यायों के व्यवधान के बाद एकाएक तल पर उभर कर ऊपर आ जाता है, और सरल रैखिक क्रम में सोचने की अभ्यस्त बुद्धि स्तब्ध रह जाती है. इसी को हमने गीताचिन्तन-संरचना का आवर्त-क्रम कहा है. यह चिन्तन-संरचना, अपने अर्थ और स्वरूप में, 'काण्डत्रयात्मक' जैसे साधारणीकरण को स्वीकार नहीं कर सकती. इस वस्तुस्थिति को सामने रखते हुए, प्रस्तावित अध्ययन में गीताध्यायों को विचार एककों में विभाजित करके प्रस्तुत किया गया है. एकक यहां न्यूनतम विचार-घटक है. इसके अवयवों को उपैकक नाम दिया गया है. विचारैकक की सिद्धि अन्तःसंरचना एवं संगति के निदर्शन के आधीन है. इस प्रकार चिन्तनसंरचना विश्लेषणरूप प्रथम भाग का यह सोपानक्रम है : अध्याय में एककों की पहचान, तथा अन्तःसंरचना और संगति के निदर्शन के द्वारा एककसिद्धि.

दूसरे भाग में, यथोक्त एकक क्रम में, महाभारत के गीतार्थोपकारक सन्दर्भों के संकलन का प्रस्ताव है. इन सन्दर्भों का गीतार्थोपकारकत्व दिखाने के लिए इनके साथ सामान्य और विशिष्ट

टिप्पणियां दी गयी है. सामान्यरूप से प्रयुक्त कुछ टिप्पणियां निम्नवत् हैं —

(१) शब्दविन्यास-साम्य (२) शैलीसाम्य (३) आवृत्ति (४) पूर्वार्धावृत्ति (५) उत्तरार्धावृत्ति (६) पदव्यतिरेक्यावृत्ति (७) पदव्यतिरेकिपूर्वार्धावृत्ति (८) पदव्यतिरेकि उत्तरार्धावृत्ति (९) पदार्थः (१०) भावार्थ (११) भावार्थसंग्रह (१२) समासोक्ति (१३) अर्थव्यत्यासः (१४) अर्थव्यास (१५) निदर्शन

यथोक्त एकक-गुम्फित महाभारत-संदर्भों का यथाटिप्पण संकलन गीताव्याख्यान मार्ग का निदर्शन कराते हुए अध्ययन के अग्रिम सोपान को प्रस्तावित करता है. यहां महाभारत-सन्दर्भ निरूपित श्रीमद्भगवद्गीता का महाभारत प्रमाणित स्वाभिमत धर्मदर्शन-भाष्य प्रस्तुत किया गया है. भाष्य में विचार बिन्दुओं को अवच्छेदरूप में प्रस्तुत किया गया है, और उन्हीं के क्रम में भाष्य का भाषा विवरण भी दिया गया है ताकि गीतोपदिष्ट हिन्दूधर्म की समझ अधिकाधिक लोगों तक पहुंच सके, तथा उसकी मूलमान्यताओं का अधुनातन सन्दर्भों में निर्वचन एवं आकलन सम्भव हो सके.

पुस्तक में विषय-प्रवर्तन का क्रम अध्ययन-विधि के क्रम का यथावत् अनुसरण नहीं करता. महाभारत सन्दर्भ-संग्रह को ग्रन्थ के अन्त में दिया गया है, ताकि जिन्हें विशेष रुचि हो उनके लिये वह उपलब्ध रहे, मुख्य ग्रन्थ के अनुशीलन में बिना कोई व्यवधान उत्पन्न किये. सन्दर्भ संग्रह में, केवल स्त्रीपर्व (अ.१६-२५) से दिये गये उद्धरणों के साथ हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है. इनमें महाभारत युद्ध की भयावह परिणति का मर्मस्पर्शी वर्णन है. गीता-महाभारत की एकरूपता की सिद्धि में, गीता के महाभारत में बाद में जोड़ दिये जाने की अटकलों के निराकरण में , तथा गीतोपदेश की भावभूमि की समझ में उपकारक होने के कारण इन्हें संग्रह के लिये चुना गया है. किन्तु इनका महत्त्व इससे कहीं अधिक है. युद्ध की समाप्ति पर गान्धारी व्यास द्वारा दी गई दिव्य दृष्टि की सहायता से, योद्धाओं की लाशों से पटे युद्धस्थल को देखती है. एक एक योद्धा के क्षतविक्षत शव को देखती, उसमें आत्मीय सम्बन्धों को जीवित करती, कृष्ण से उनकी पहचान करवाती गान्धारी का विलाप, अनायास एक मर्मस्पर्शी काव्य को जन्म दे गया है. युद्ध की विभीषिका को लेकर लिखा गया यह संसार का सर्वोत्कृष्ट काव्य है. सहृदय पाठक, जो संस्कृत नहीं जानते, वे भी इसका आस्वादन कर सकें, इस प्रयोजन से इनके साथ हिन्दी अनुवाद दे दिया गया है.

३. महाभारतं हि धर्मस्य सार्वभौमिकार्थानुसंधानस्येतिहासः। स्थाने स्थाने संस्थागतस्य धर्मस्य परीक्षणं कृतं लक्ष्यते अस्याम्। परस्परविरोधिव्यवस्थाहेतुत्वाद् बहुत्वाच्च शास्त्राणां तेषां विचारणीयतां निदर्शयन्महाभारतं 'वेदः स्मृतिःसदाचारः, स्वस्य च प्रियमात्मनः' इति मनुमनुसरत्, समर्थयति आस्थायां विवेकस्य – वैयक्तिकानुभवतर्कयोः प्रतिष्ठाम्। धर्मे अयं प्रमाणविस्तरः धर्मस्य द्विधा अर्थविस्ताराय कल्पते– (१) वैयक्तिकानुभवः शास्त्रलब्धार्थस्य व्यक्तिक्षेत्रे निष्पत्तिं साधयति, (२) तर्कश्चास्य साधयति सार्वभौमिकार्थस्यानुसंधानम्। लभ्येते आभ्यां, व्यक्तिप्रमाणस्य स्वधर्मस्य, सार्वभौमिकमूल्यसंग्रहरूपसनातनधर्मस्य च अवधारणे। सनातनधर्मस्य ऐतिहासिक-सन्दर्भपरिभाषिते व्यक्तिक्षेत्रे(समाज-व्यक्तौ वा) परामर्शः समर्पयति धर्मस्यावगति-रूपावधारणां सर्जनात्मिकाम्, यदुदाहृतं वर्तते महाभारते सर्वत्र विप्रकीर्णेषूपाख्यानेषु।

धर्मस्यावगतिरूपेयमवधारणा, अपेक्षते शास्त्राणां सर्जनात्मकावतरणम्। अतो महाभारते गीताशास्त्रपरम्परायाः आविर्भावः। तत्र प्रामुख्यं भजते श्रीमद्भगवद्गीताशास्त्रं 'सर्ववेदार्थसारसंग्रहभूतम्'। कथं गीतायाः सर्ववेदार्थसारसंग्रहभूतत्वमिति कथम्भावा-काङ्क्षायां शास्त्राणां सर्जनात्मकावगाहनं उपपादकरूपेण लभ्यते निर्विकल्पम्। तद्विना अनुपपन्नं गीतायाः सर्ववेदार्थसारसंग्रहभूतत्वम्।

गीतानामधेयं समर्पयति धर्मस्य व्यक्तेः समष्ट्या सह संवादरूपम्। अनेन लभ्यन्ते धर्मदर्शनदृशा त्रयः निहितार्थाः – आस्थायाः तत्त्वनिष्ठा, व्यक्तिनिष्ठा, सर्जनात्मकञ्च स्वरूपम्।

एतेषां प्रत्येकम् आक्षिपति कांश्चिद् उपसिद्धान्तान्। महाभारतानुशीलनगीता-नामधेयविश्लेषणलब्धानामेतेषां मूलमान्यतानां सोपपत्तिकसंग्रहः प्रयुक्तोऽस्माभिः गीतार्थनिर्धारणे, सुखबोधाय हिन्दुधर्मस्य। महाभारतसन्दर्भसंग्रहोऽपि, स्थानकृच्छ्रतानुरोधेन संक्षेपेणैव दीयते परिशिष्टे, पद्धतिनिदर्शनाय।

शास्त्रलब्धास्थायां वैयक्तिकविवेकस्य संग्रहादाविर्भवति द्वन्द्वात्मको विस्तरः हिन्दुधर्मस्य। शास्त्रम्, तत्र वैमत्यम्, वैमत्यस्य द्वन्द्वात्मकस्संग्रहः, संग्रहस्य च सर्जनात्मकावगाहनं गीतात्मकम् – अर्पयत्ययं पदक्रमः हिन्दु- आस्थायाः प्रपञ्च-संरचनाम्। नाम्ना स्वरूपेण चास्य अभ्रान्तनिदर्शनत्वात् श्रीमद्भगवद्गीता हि एकमेवाद्वितीयं

हिन्दुशास्त्रम्। गीतायाः स्वरूपस्यास्य विवरणाय कल्पत इदं श्रीमद्भगवद्गीताधर्मदर्शन-भाष्यम् इति शम्।

३. श्रीमद्भगवद्गीता – एकमेवाद्वितीय हिन्दूशास्त्र :

महाभारत, धर्म के सार्वभौमिक अर्थ के अनुसन्धान का इतिहास है. इसमें पद पद पर धर्म की पारम्परिक-व्यवस्थाओं को परीक्षण का विषय बनाया गया है. शास्त्रों के बहुत्व और उनकी परस्पर विरोधी व्यवस्थाओं को देखते हुए, महाभारत उनकी विचारणीयता का बोध कराता है. भगवान् मनु ने शास्त्र – वेद और स्मृति – के साथ सदाचार तथा वैयक्तिक विवेक को धर्म में प्रमाण माना है (**वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः, एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्.- मनु. २.१२**). इस परम्परा का अनुसरण करते हुए महाभारत का धर्म-चिन्तन आस्था में , शास्त्र के साथ विवेक की – वैयक्तिक अनुभव और तर्क की – प्रतिष्ठा का समर्थन करता है. धर्म में यह प्रमाण विस्तार दो दिशाओं में उसके अर्थ का विस्तार करता है- (१) आस्था में वैयक्तिक अनुभव की ग्राह्यता, शास्त्रलब्ध अर्थ के व्यक्तिक्षेत्र में परामर्श को जन्म देती है, जबकि (२) तर्क की स्वीकृति, आस्था के सार्वभौमिक अर्थ के अनुसन्धान में साधक बनती है. विवेक के इस द्विधा परामर्श से क्रमशः व्यक्ति-प्रमाण 'स्वधर्म' की और सार्वभौमिक मूल्यों के संग्रहरूप 'सनातन धर्म' की अवधारणाएं प्राप्त होती हैं.

सनातन-धर्म का ऐतिहासिक सन्दर्भ-परिभाषित व्यक्तिक्षेत्र में (अथवा समाज-व्यक्ति में), परामर्श, धर्म की अवगतिरूप अवधारणा को जन्म देता है. धर्म की यह एक सर्जनात्मक अवधारणा है, जिसके उदाहरण महाभारत में सर्वत्र बिखरे उपाख्यानों में आसानी से ढूंडे जा सकते हैं.

अवगतिरूप में धर्म की अवधारणा, शास्त्रों के सर्जनात्मक अवतरण को पूर्वकल्पित करती है. अतः महाभारत में वेदादिशास्त्रों के अवतरण रूप में गीताशास्त्र परम्परा का आविर्भाव हुआ. इनमें सर्व-प्रमुख है श्रीमद्भगवद्गीता शास्त्र जिसे *'सर्ववेदार्थसारसंग्रहभूतम्'* - अर्थात् समस्त वेदों के अर्थ के सार का संग्रह कहा गया है. गीता में समस्त वेदों के सार का संग्रह कैसे हुआ ऐसी कथम्भावाकाङ्क्षा होने पर, शास्त्रों के सर्जनात्मक अवगाहन की उपपादकरूप में कल्पना अपरिहार्य हो जाती हैं. उसके बिना गीता का 'सर्ववेदार्थसारसंग्रहभूतत्व' बनता नहीं है.

गीता-नामधेय धर्म के संवादरूप को बताता है, जो व्यक्ति और समष्टि के बीच हो सकता है. इस संवादरूपता के धर्मदर्शन की दृष्टि से तीन निहितार्थ हैं — आस्था की (१) तत्त्वनिष्ठा (२) व्यक्तिनिष्ठा और उसका (३) सर्जनात्मक स्वरूप. इनमें से प्रत्येक मान्यता कुछ उपसिद्धान्तों को जन्म देती है. महाभारत के अनुशीलन तथा स्वयं गीतानामधेय से प्राप्त मूलमान्यताओं का यह सोपपत्तिक संग्रह प्रस्ताविक गीताभाष्य का सैद्धान्तिक आधार है. इसके द्वारा निर्धारित गीतार्थ हिन्दूधर्म का वस्तुनिष्ठ एवं प्रामाणिक निर्वचन होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं होना चाहिए.

परिशिष्ट में 'महाभारत-सन्दर्भ-संग्रह' दिया गया है, ताकि पद्धति के क्रम का निदर्शन हो सके. इसे संक्षिप्त करके दिया गया है. पूरा सन्दर्भ संग्रह यहां दे पाना न तो सम्भव है, और सामान्य पाठक के लिए उसकी सीमित उपयोगिता को देखते हुए, न ही इसकी आवश्यक है.

शास्त्रलब्ध आस्था में वैयक्तिक विवेक के संग्रह से हिन्दूधर्म के द्वन्द्वात्मक विस्तार का अविर्भाव हुआ है. शास्त्र, शास्त्र में वैमत्य, वैमत्य का द्वन्द्वात्मक संग्रह और संग्रह का सर्जनात्मक अवगाहन जो गीतात्मक है — यह क्रम हिन्दू-आस्था की द्वन्द्वात्मक संरचना को बताता है. गीता अपने नाम और स्वरूप में इसका अभ्रान्त निदर्शन है, और यही अनन्य विशेषता उसे एकमेवाद्वितीय हिन्दूशास्त्र की प्रतिष्ठा देती है. गीता के इस विशिष्ट-स्वरूप के प्रमाणिक विवरण हेतु, इस 'श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्य' का प्रणयन किया जा रहा है.

■ ■ ■

प्रथम एककः

ॐ श्री परमात्मने नमः

अथ श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः

श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रथमाध्यायस्य प्रथमः श्लोकः प्रस्तूयतेऽत्र प्राथमिकैककरूपेण —

[१]धृतराष्ट्र उवाच

[२]धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे [३]समवेता युयुत्सवः ।
[४] मामकाःपाण्डवाश्चैव [५]किमकुर्वत [६]संजय ।।१।।

(धृतराष्ट्र ने कहा, 'हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में इकट्ठे हुए युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?')

१. **श्रीमद्भगवद्गीतायां धृतराष्ट्रोक्तोऽयमेक एव श्लोकः। अद्वितीयत्वान्महाभारतीय-संदर्भोपपादकत्वाच्च युक्तमस्यैककत्वव्यवस्थापनम्। तच्चात्र निरुपायं केवलं संदर्भाधीनम्, अन्तःसम्बन्धनिदर्शनाश्रितसिद्धेरप्राप्तत्त्वात्, एककरूपेण एकस्यैव संग्रहत्वात् तत्सदृशस्यान्यस्याभावत्वाच्च गीतायाम्।**

एकक-विमर्श

चिकीर्षित भाष्य के लिए परिकल्पित अध्ययनपद्धति, गीता के प्रत्येक अध्याय को विचार एककों में विभाजित करते हुए उनके क्रमशः व्याख्यानप्रस्तुत करने का विधान करती है. इनमें से

प्रत्येक विचारैकक, क्रमागत श्लोकों का ऐसा संग्रह है, जिसे युक्तिपूर्वक विचार की इकाई के रूप में निरूपित किया जा सकता है. इस निरूपण के मोटे तौर पर दो आधार हैं, संदर्भ तथा अन्तःसम्बन्ध, जिन्हें हम विचारैकक के क्रमशः बाह्य तथा आभ्यन्तर नियामक कह सकते हैं. पद्धतिविमर्शरूप यह निरूपण, व्याख्यान का ही एक सोपान है, और इसी रूप में इसे स्वीकार किया जाना चाहिए. प्रकृत एकक में केवल एक ही श्लोक है, अतः इसमें अन्तःसम्बन्ध निरूपितत्व तो बनता नहीं, ऐसे में केवल संदर्भ की अपेक्षा से ही इसकी स्वरूपसिद्धि सम्भव है. इसमें सन्दर्भार्पित-अर्थसंभार का प्रसंग प्राप्त विवरण तथा आकलन, जहां व्याख्यानसम्बन्धिनी, अनुबन्धचतुष्टयादि-विषयक महत्त्वपूर्ण जिज्ञासाओं के समाधान का अवसर देते है, वहीं परिकल्पित एकक के औचित्य, स्वरूप तथा अर्थवत्ता को रेखांकित करते हैं.

२. **महत्त्वं भजते नितरां गीताया धार्तराष्ट्रिकोपक्रमः सोपस्करं वस्तुनिर्देशात्मकत्वात्, पूर्वपीठिकासूत्राधारत्वात् सिद्धान्तचिन्तनस्य। अनेन लभ्यन्तेऽर्थाः ग्रन्थस्य नामधेय-सार्थक्यैतिहासिकस्वरूपान्तः संरचना- पात्रानुसंधानपुरस्सरपूर्वपक्षोपपत्तिविषयकाः। अस्ति हिन्दुधर्मदर्शनं गीताया विषयः, प्रयोजनमस्य प्रतिपत्तिः, श्रीमद्भगवद्गीतयैवापेक्षित-प्रतिपत्तिर्भवतीति सम्बन्धः, हिन्दुधर्मजिज्ञासवः धर्मसंकटापन्नाः स्वधर्मानुसंधान-समुत्सुकार्जुनसदृशजना वा अत्राधिकारिणः इति ग्रन्थानुबन्धाः, महाभारतैकवाक्यताश्रितां प्रमाणिकीं व्याख्यानपद्धतिं चाक्षिपन्त इमे विचारार्थाः उपक्रमश्लोकाधिकारे विव्रियन्तेऽत्र यथाक्रमम्।**

२. श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम श्लोक की अर्थसम्पदा : अनुबन्ध चतुष्टय, नामधेयसार्थक्य, पद्धतिविमर्श

गीतोपदेश का समारम्भ, उपस्करसहित वस्तुनिर्देशात्मक होने से तथा सिद्धान्तचिन्तन की पूर्वपीठिका का सूत्रधारक होने के कारण महत्त्वपूर्ण है. इससे ग्रन्थ के नामधेयसार्थक्य, ऐतिहासिकस्वरूप, अन्तःसंरचना, पात्रानुसंधान तथा पूर्वपक्षोपपत्ति-विषयक अर्थों की साक्षात् अथवा आक्षेपलभ्य प्राप्ति होती है. ये विचारबिन्दु हमें ग्रन्थ के अनुबन्धचतुष्टय का बोध कराते हैं, साथ ही ग्रन्थ के अध्ययन की जो प्रामाणिक पद्धति हो सकती है, उसका भी परिज्ञान कराते हैं. सामान्य पाठकों की सुविधा के लिए स्पष्ट कर दें कि 'अनुबन्धचतुष्टय' शास्त्रीयपरम्परा का एक पारिभाषिक शब्द है, जो ग्रन्थारम्भ में ही उसके विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध तथा अधिकारी के निर्वचन का विधान

करता है. श्रीमद्भगवद्गीता का प्रतिपाद्य विषय है हिन्दूधर्मदर्शन; उसकी सम्यक् प्रतिपत्ति ही इसका प्रयोजन है, तथा केवल गीता के द्वारा ही यह प्रतिपत्ति सम्भव है, यह 'सम्बन्ध' है. हिन्दुधर्मदर्शन के जिज्ञासु अध्येता, अथवा अर्जुन की भांति धर्मसंकटापन्न, स्वधर्मानुसंधानसमुत्सुक कोई भी व्यक्ति गीता में अधिकारी हो सकता है, यही ग्रन्थ में अधिकार की मर्यादा है. इस रूप में अनुबन्धचतुष्टय की व्यवस्था इस मान्यता के साथ कि गीता और महाभारत की एकवाक्यता ही गीताध्ययन की प्रामाणिक-पद्धति का आधार हो सकती है', ही भाष्य में सिद्धान्तचिन्तन की पूर्वपीठिका है. यह मान्यताएं व्याख्याकर द्वारा आरोपित सुविधाजनक कल्पनाएं नहीं है, अपितु गीता के प्रथम श्लोक से सीधे प्राप्त हैं; उसकी सुव्यक्त अर्थ-सम्पदा का ही अंग हैं. 'पूर्वपीठिकासूत्राधारत्व' विशेषण का यही आशय है.

३. संवादलक्षणं गीतम्, अनेकविधमपि मुख्यतया द्विविधं तत्स्वरसंवादरूपम्, विचारसंवाद-रूपञ्च। अत उपक्रमोन्मीलितं संवादरूपं गीताया नामधेयतां व्यनक्ति,स्वरूप वैलक्षण्य-ञ्चापि विश्वस्यान्येभ्यो धर्मग्रन्थेभ्यः । नास्ति गीता आदेशात्मकः दिव्यसंदेशः, नापि तत्त्वज्ञानोपदेशः निश्चिन्तारण्यकपृष्ठभूमौ संवादो वा औपनिषदिकः, अपितु युद्धक्षेत्रस्य निर्णायकभूमौ कोऽपि वास्तविकधर्मसंकटभावापन्नः संवादः यत्रार्जुनस्य तात्कालिकः प्रणोदः संवादस्वरूपं नियन्त्रयत्याद्यन्तम्। अहो सव्यसाचेः निमित्तमात्रता। तत्त्वजिज्ञासो-पदेशे निर्णायकभूमिका तु गुरोरेव, साक्षात्कारात्मके तत्त्वज्ञाने तस्यैव प्रमाणभूतत्त्वात्. उपदेशानन्तरं जिज्ञासायाः पर्यवसानम्, न कापि कर्तव्यभावना अवशिष्यते तदनन्तरम्। किन्तु धर्मव्याधिप्रकरणे निर्णयाधिकारः शिष्यमेव श्रयते न तु गुरुम्, उपदेशानन्तरं यत् कर्तव्यनिर्धारणं भवति तत्तु श्रोतुः विशुद्धः वैयक्तिकाधिकारः अविभाज्यः, धर्मव्याधेरत्र वैयक्तिकरूपत्वाद्विधानाविषयत्वाच्च। भगवान् श्रीकृष्णः स्वयमेवोपसंहरति गीतायां 'विमृश्यैदशेषेण यदिच्छसि तथा कुरु'। स्फुटयतीदं गीतोपदेशस्य स्वरूपं वैयक्तिक-संदर्भविमर्शात्मकं वैयक्तिकेतिहासनिष्ठधर्मलक्षणम्, निदर्शयति च गीतायाः वैलक्षण्यं न केवलम् उपनिषद्भ्यः अपितु जातीयसम्बोधनपरेभ्यः संसारस्यान्येभ्यो धर्मग्रन्थेभ्यः साम्प्रदायिकशास्त्रेभ्यश्चापि हिन्दूनाम्।

गीतायाः नामधेयसार्थक्यपरं संवादरूपमिदं धर्मदर्शनाधिकारे उपक्षिपति तिस्रो मूलमान्यताः, यथा – आस्थायाः तत्त्वनिष्ठा, व्यक्तिनिष्ठा, जातिनिष्ठा वा, जातेः कल्पितव्यक्तिरूपत्वात्, धर्मस्य अवगाहनरूपं गत्यात्मकं स्वरूपञ्चेति। संवादेति

शब्दार्थे पूर्वकल्पिताः इमाः विव्रियन्तेऽत्र यथाक्रमम्।

३.१ इयं सृष्टिः प्राग्धर्मग्रन्थान् युगपद्वा, धर्मस्य प्राथमिकोद्बोधनमिति आस्थायाः तत्त्वनिष्ठा(सृष्टिविज्ञाननिष्ठा)। इयं सृष्टिः एका सुविचारिता कृतिः इति सृष्टिरचनानिरूपितकृतित्वहेतुत्वादस्याः कर्तारमीश्वरं तर्कयन्ति प्रायः सर्वे धार्मिकाः ईश्वरवादिनः। किन्तु सृष्टिविधानं वैश्विकधर्मविधानरूपेण स्वीकरोति केवलं हिन्दुधर्मः।

अवयवावयविनोःपरस्परोपकारकोद्देश्यपूर्णसमवायो नाम सृष्टिरिति सृष्टिविज्ञाननिष्ठास्थायाः मूलमान्यता। तया विना गीतानामधेयकल्पितसंवाद-सम्बन्धस्यानुपपन्नत्वात्। निराकरोतीयं संसारस्य विसंवादोद्भवमीश्वरीयाज्ञोल्लंघनरूपं पापहेतुकम्। तादृशोद्भवपरेभ्यः धर्मेभ्यः व्यावर्तयन्ती हिन्दुधर्मम्, उद्घाटयतीयं मान्यता शुद्धव्यक्तेः समूहव्यक्तेः वा समष्ट्या सह संवादाधारानुसंधानपरं धर्मस्य सृष्टिविज्ञाननिष्ठं स्वरूपं गत्यात्मकम्।

यथानिरूपितं सृष्टिरियं आत्मप्रपञ्चस्य सम्यक्प्रवृत्त्योपपत्यर्थं स्वात्मावयवभूतानां विविधलोकान्तर्वर्तिदेवदानवमानवादिसमुदायानां पार्यावरणिकदेवानाञ्च परस्परोपकारकं व्यवहारमपेक्षते,'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' इति (गीता ३. १०)। अत्र भगवान् श्रीकृष्णः सृष्टेः दिव्यप्रयोजनोद्दिष्टं व्यापारमनूद्य, तत्र साधनभूतं सार्ववैश्विकं प्रजासहयोगात्मकं यज्ञरूपधर्मं विदधाति। विधानस्यास्य त्रयः पूर्वकल्पितार्थाः — धर्मस्य सत्तामूलकावधारणा सृष्टिविधानरूपा, वैश्विकसन्दर्भार्पित-श्रेयोऽवधारणा, समाजस्य वैश्विकी परिकल्पना च। लक्ष्याः एतेषां उपपत्तयः धर्मदर्शनाधिकारे।

धर्मस्य सृष्टिप्रयोजनानुबन्धः ददाति धर्मं तत्त्वनिष्ठां शब्दप्रमाणपूर्वां तात्त्विकीं च प्रामाणिकताम्। तदेव धर्मस्य सनातनस्वरूपम्, धारयति यः देशकालपरिच्छिन्नान् विविधशास्त्रलब्धानर्थान्, प्रमाणयति तेषां समीक्षां पुनर्व्याख्यानानि च सन्दर्भसापेक्षानि। धर्मे शास्त्रमेव हेतुः, न केवलं ज्ञापकः अपितु कारकोऽपीति शास्त्रवादः. तद्भिन्नं गीतामतं सृष्टिविधानं श्रेयसः कारकरूपेण प्रस्तौति. धर्मदर्शनदृशा महत्त्वपूर्णोऽयं विकर्षः।

समाजस्य वैश्विकी परिकल्पना आत्मोपमसिद्धान्तस्य निरुपाधिकव्यवहाराय कल्पते, तद्विना तस्यानुपपत्तित्वात्। समूहव्यक्तये शुद्धव्यक्तये च श्रेयसः भिन्ने न तु विरोधिन्यावधारणे प्रतिफलति तत्, वैश्विकसमाजपरिकल्पना- जन्यत्वात्समस्तमूल्य-विधानस्य। परिकल्पनेयं निदर्शयति मानववादपर्यन्तानां जातीयश्रेयोऽवधारणानाम्,

साम्राज्यलिप्सुधर्मवादानाञ्चापर्याप्तत्वम्, अनौचित्यं च तेषां सार्वभौमिकप्रतिष्ठाभिनिवेशस्य, आत्मोपमसिद्धान्तविरुद्धत्वाद्।

विश्वयागस्य जातीयसहयोगरूपपरिकल्पना ददाति जातीयास्मितां सर्वजनहिताय सहयोगाचाररूपां काञ्चिदभूतपूर्वां भूमिकाम्, निराकरोति च पराभिभवात्मोत्कर्षपरां साम्राज्यवादि-जातीय-श्रेयोऽवधारणाम्।

यथोक्तवैश्विकदायित्वचेतना न केवलं सामुदायिक-नैतिकतायाः अपितु पारिवारिकवैयक्तिकनैतिकतयोरपि सामान्यनियामिका। उक्तं गीतायाम् - 'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्', 'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः' इत्यनवद्यम्।

उपकार्योपकारकसम्बन्धनिबद्धेयं सृष्टिरिति मान्यतैव आस्थायाः संवादनिष्ठा 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' इति। निराकरोतीयं सृष्टेः विसंवादोद्भवमीश्वरीयाज्ञोल्लंघनरूपं पापहेतुकम्। तादृशोद्भवपरेभ्यः व्यावर्तयन्ती हिन्दुधर्मम्, उद्घाटयतीयं मान्यता व्यक्तेः समष्ट्या सह संवादाधारानुसंधानपरं धर्मस्य स्वरूपं गत्यात्मकम्।

हिन्दुधर्मस्य सम्पूर्णदार्शनिकपृष्ठभूमिः समर्थयति समष्ट्याः एकरूपतां तत्राधिष्ठितव्याकृतस्योपकार्योपकारक- भावरूपां संहतिम्, तन्निरूपितसंवादसम्भावनाञ्च तत्रावयवावयविनोः अवयविनाञ्चापि परस्परम्।

३.२ पुनः इदमेव संवादरूपमुपक्षिपत्यास्थायाः स्वरूपोपपत्त्यौ व्यक्तेः भावरूपां भूमिकां (आस्थायाः व्यक्तिनिष्ठाम्) व्यक्तिसहभागनिरपेक्षस्य संवादस्याऽनुपपत्तित्वात्। आस्थायां व्यक्तेः व्यक्तिरूपेण प्रतिष्ठा व्यक्तिनिष्ठेति। अपर्याप्तं व्यक्तेः सामूहिकं सामान्यधर्मावच्छिन्नमभिज्ञानं तदाश्रितः धर्मोपदेशोऽपि, सामान्यधर्मारोपव्यवहितस्य व्यक्त्यर्थस्यानुपलब्धित्वादांशिकोपलब्धित्वाद् वा। समूहसम्बोधकाः बहुशः धर्मग्रन्थाः। तद्भिन्नं श्रीमद्भगवद्गीता प्रतिष्ठापयति धर्मस्य वैयक्तिकं संबोधनमव्यवहितम्, निर्माध्यमं निर्मध्यस्थं यथा भगवतः श्रीकृष्णस्योपदेशः अर्जुनं प्रति। यथा तत्त्वनिष्ठा कारकहेतुताम्, तथैव व्यक्तिनिष्ठा, निराकरोति धर्मे शास्त्रस्य निरुपाधिकज्ञापकहेतुताम्, वैयक्तिकविवेकस्य नियामकत्वेन अभ्युपगतत्त्वाद्।

व्यक्तिनिष्ठायाः त्रयः फलितार्थाः – प्राप्तधर्मस्य अनुमोदनवैमत्यरूपा व्यक्तिः, आस्थायां तस्याः द्वन्द्वात्मकस्संग्रहः, संग्रहस्य च सर्जनात्मकावगाहनं गीतरूपम्,

सार्थकसंवादस्य रसात्मकत्वात्।

३.३ यथोक्तव्यक्तिनिष्ठायाः फलपर्यन्तव्यापार एव आस्थायाः गत्यात्मकता। अवगतिरूपा हि सा। अवगतिर्नाम आप्तोपदेशस्य व्यक्तिक्षेत्रे परामर्शः, तज्जन्यस्वधर्मबोधश्च। समुच्चिनोतीयं व्यक्तिनिष्ठायाः व्यापारं फलञ्च।

३. गीता नामधेय की सार्थकता : ग्रन्थ की संवादरूपता और धर्मदर्शन की दृष्टि से इसके निहितार्थ :

गीता शब्द का अर्थ है 'जो गाई गई हो' ऐसी रचना अर्थात् गान या गीत. गीत का लक्षण है 'रसात्मक संवाद' जो माध्यमानुसार अनेकविध होते हुए भी मुख्यतया दो प्रकार का होता है, स्वरसंवादरूप, तथा विचारसंवादरूप. अतः 'धृतराष्ट्र उवाच' इस रूप में उपक्रमोन्मीलित गीता की विचारसंवादरूपता, उसके नामधेयसार्थक्य के ही साथ विश्व के अन्यान्य धर्मग्रन्थों से इसके अन्तर को, अन्य धर्मों से गीताधर्म के वैलक्षण्य को अनायास अभिव्यक्ति दे जाती है. आस्थावान् हिन्दुओं के लिए यह एक दिव्य संदेश है, किन्तु यह एक आदेशात्मक शास्त्र नहीं है, बाइबिल, कुरानशरीफ और स्वयं हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों की भांति, अपितु एक गान है, जिसे हर किसी को अपनी धुन पर गाना है. न ही यह औपनिषदिक परम्परा में तत्त्वज्ञानोपदेश है, जो एक निश्चिन्त आरण्यकपृष्ठभूमि में गुरुशिष्य संवाद के रूप में साकार होता है. उपनिषदों को ध्यान से पढें तो यह स्पष्ट होते देर नहीं लगेगी कि कर्मकाण्डों की जटिल व्यवस्था से ऊबे बौद्धिक वर्ग की जिज्ञासा ही उपनिषदोपदेश में प्रायोजक रही है. ये सुकोमल बौद्धिक प्राणी मंहगे यज्ञायोजनों के सुदीर्घ सत्रों से, उनके शोरगुल और धुऐं से परेशान, प्रकृति की मनोहारी गोद में स्थापित, कोलाहल से दूर आश्रमों में शरण लेते और वहां गुरु के सान्निध्य में आत्मा तथा ब्रह्म की दार्शनिक समस्याओं पर विचार करते. जीवन की तात्कालिक समस्याओं और संघर्षों से सुरक्षित, आश्रमपरिवेश में पल्लवित सहज मानवीय जिज्ञासा ही मुख्यरूप में, औपनिषदिक चिन्तन का प्रवृत्ति-हेतु रही. इससे सर्वथा भिन्न, गीता का प्रवृत्ति निमित्त तत्त्वजिज्ञासा नहीं है. युद्ध के लिए तत्पर सेनाओं के मध्य खड़े जीवन के निर्णायक क्षणों में कर्तव्यविमूढ हो चले एक योद्धा की वास्तविक त्रासदी गीतोपदेश की प्रवृत्ति में हेतु है. अर्जुन का आर्तस्वर, धर्मसंकट में डूबते-उतराते उसकी छटपटाहट, कर्तव्य के असंदिग्ध बोध के

लिए उसकी आतुरता - *'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः, यच्छ्रेयस्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'* - गीता का प्रस्थानबिन्दु ही नहीं, अपितु उसका सांवेगिक मर्म है, जो संवाद को संगीत में बदलता है, और उसकी दिशा और गति को आद्यन्त नियन्त्रित करता है. धन्य है, सव्यसाची की यह निमित्तमात्रता. तत्त्वजिज्ञासोपदेश में निर्णायक भूमिका गुरु की ही होती है, क्योंकि सन्देहनिवृत्ति पर्यन्त तत्त्वज्ञान के निर्वचन में वही प्रमाण हैं. उपदेश के अनन्तर शिष्य की जिज्ञासा का पर्यवसान हो जाता है और उसके क्रम में कोई कर्तव्य भावना शेष नहीं रहती. किन्तु धर्मव्याधिप्रकरण में निर्णयाधिकार शिष्य में निहित है, गुरु में नहीं. उपदेश के अनन्तर कर्तव्य-निर्धारण शिष्य का अधिकार है, सर्वथा अविभाज्य और अन्तरंग. गीतोपदेश का उपसंहार करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते है- *'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु'*. इससे गीतोपदेश में धर्मचिन्तन के वैयक्तिक-इतिहासनिष्ठ स्वरूप का निदर्शन होता है, जो श्रीमद्भगवद्गीता को न केवल संसार के अन्यान्य धर्मग्रन्थों से अपितु स्वयं हिन्दुओं के उपनिषदों तथा धर्मशास्त्रों से सर्वथा भिन्न एक अप्रतिम व्यक्तित्व प्रदान करता है. बाइबिल तथा कुरानशरीफ आदेशात्मक ग्रन्थ हैं. अनुयायी के लिए 'आज्ञापालन' अथवा 'दंड' के अतिरिक्त ये कोई विकल्प नहीं छोड़ते, किसी पहल का अवसर नहीं देते. इन धर्मग्रन्थों के भेजने वाले खुदा से हम स्वप्न में भी यह आशा नहीं कर सकते कि वह कहेगा-. "यह धर्मग्रन्थ मैं भेजता हूँ, इस पर पूरी तरह से विचार करके, जैसा उचित समझो करो" व्यक्ति को यह गरिमा, उसके विवेक को यह हैसियत केवल गीता ही दे सकी है. गीत स्वरों का समुदाय मात्र नहीं होता, गत्यात्मक इकाई के रूप में स्वरों का संवाद ही गीत को जन्म देता है. स्वरसमुदाय को यह गत्यात्मकता अन्तर्निविष्ट भावभूमि से, व्यक्तित्व के सर्जनात्मक उत्स से प्राप्त होती है. गीता में केवल अर्जुन ही नहीं, कोई भी सहृदय पाठक उपदेश की सार्थक अवगति हेतु जब तक उपयुक्त भावभूमि में, एक उद्बुद्ध, अकृत्रिम चैतन्यबिन्दु के रूप में, अपनी पहचान नहीं तलाशता तब तक उसे गीतापाठ में सहभागी नहीं कहा जा सकता.

गीतानामधेय : हिन्दूतत्त्वदृष्टि का प्रतिबिम्ब :

धर्मग्रन्थों के अतिरिक्त, दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने इस सृष्टि के प्रपंच के अलग अलग विवरण प्रस्तुत किए है. यह सृष्टि ईश्वर की रचना हो सकती है, जैसी कि धार्मिकों की सामान्य

मान्यता है, या यथा वेदान्तदर्शन, किसी परमतत्त्व का आत्मप्रपंच, या फिर पंचभूतों के संयोग से उत्पन्न प्रपंच के बीच जूझती चेतना की एकाकी किरण की करुण गाथा, जैसा कि पदार्थवादी मानते हैं, अथवा सांख्यमतानुरूप चेतन-अचेतन के द्वन्द्व से उत्पन्न एक उद्देश्यपूर्ण विकास. सृष्टि के बारे में यह सभी विकल्प सम्भव हैं. इन्हीं को लेकर आस्तिक, नास्तिक और पदार्थवादी दर्शनों का विकास हुआ है. सृष्टि की इन समस्त सम्भावनाओं के बीच अपने लिए जगह बनाना, अपनी हैसियत तलाशना, समष्टि के साथ अपने अस्तित्व के संवाद और सार्थक सम्बन्ध के आधार का अनुसंधान करना ही यावन्मात्र मूल्यचिन्तन का प्रवृत्ति-हेतु रहा है. धर्म इसी तलाश का एक रूप है. स्मरण रहे, न तो ईश्वरवादी विवरण सृष्टि का एक मात्र विवरण है, और न ही ईश्वरवाद को धर्म का पर्याय माना जा सकता है. जब हम हिन्दूधर्म की बात करते हैं तो हम एक ऐसे धर्म की बात करते हैं, जिसमें ईश्वरवादी, वैष्णव, शैव शाक्तादि सम्प्रदायों के साथ अनीश्वरवादी, जैन और बौद्ध जैसे सम्प्रदाय, एक ही आस्थासंघ के सार्थक सहभागी के रूप में प्रतिष्ठित हैं. आस्था की यह संघीय अर्थवत्ता ही हिन्दुत्व है. संघ और उसकी इकाइयों के बीच संवाद, अर्थात् सहभाग और निर्भयता के न्यूनतम वैचारिक आधार इस अर्थवत्ता का स्वारस्य हैं. हिन्दूधर्म की दार्शनिक पृष्ठभूमि, आस्था के इस स्वरूप का तत्त्वचिन्तन के धरातल पर समर्थन करते हुए, हिन्दूधर्म-दर्शन को एक अनन्य समग्रता प्रदान करती है. वेदान्त हो या सांख्य-दर्शन, वैदिक कर्मकाण्ड का दर्शन (मीमांसा) हो या योग का — समष्टि की एकरूपता, उसमें भेद बुद्धि का आविर्भाव, भेद-प्रतियोगियों के मध्य संवाद एवं तन्मुखेन उनका द्वन्द्वात्मक (बौद्धिक) संग्रह, तथा समष्टि के साथ व्यष्टि की निर्द्वन्द्वावगति — तत्त्व की यह सक्रम अवधारणा, हिन्दू तत्त्वदर्शन तथा मूल्यदर्शन दोनों का सामान्य आधार है. वैयक्तिक चेतना में इनकी अवगति क्रमशः तत्सापेक्ष कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति की साधना-पद्धतियों को जन्म देती है. गीता, भारतीय-दर्शन की इन सामान्य सम्भावनाओं का संज्ञान लेते हुए, समष्टि की एकरूपता, अवयवावयवि में तन्निरूपित-प्रयोजनबद्ध-संगति की मूलमान्यता से, अंशभूत व्यक्ति में प्राप्त संवाद के आधारों अर्थात् व्यक्ति (जो समूहव्यक्ति भी हो सकता है) के लिए निर्व्याज मूल्यसंहिता के अनुसंधान की, और तदनुसार उपयुक्त साधना-पद्धति के निर्धारण हेतु उपदेश के जिस मूलमान्यता-फलक को प्रस्तुत करती है, उसमें ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी, वैदिक, आगमिक, पौराणिक, तान्त्रिक और स्मार्त — आस्था के सभी रूप सहज सहभागी हो जाते हैं. गीता का यह मूल-मान्यता फलक ही हिन्दूधर्म का आधार है. इस फलक

के अन्तर्गत आए विविध सम्प्रदायों के बीच, चाहे उनमें परस्पर कितना ही विरोध क्यों न हो, मूल्यचिन्तन, आचरणसंहिता और उपासना पद्धति के धरातल पर अन्तर की कोई स्पष्ट चेतना, प्रयास करने पर भी बन नहीं पाती. यही इस बात का प्रमाण है कि आस्थारूप में, या यों कहें कि आस्थासंघ के रूप में हिन्दुत्व एक वास्तविकता है, कोरी कल्पना नहीं. श्रीमद्भगवद्गीता इस आस्था का प्रामाणिक निर्वचन है. विशेष बात यह है कि गीता में आस्था के वैचारिक आधारों का द्वन्द्वात्मक संग्रह बिना किसी बिखराव के, बिना किसी विसंवाद के जिस अद्वय-भाव में पर्यवसित होता है, उसकी रचना रागरूप अर्थ के सृजन अथवा अभिव्यक्ति में समर्पित विविध स्वरों के संग्रह से ही की जा सकती हैं. यही गीता की गीतात्मकता है, गीताधर्म के सार्वभौमिक संवाद का रहस्य.

नामधेय के सैद्धान्तिक निहितार्थ :

श्रीमद्भगवद्गीता के नामधेय को सार्थक करनेवाला, उसका संवादरूप, धर्मदर्शन के अनुशासन के लिए तीन मूलमान्यताओं का आक्षेप करता है, यथा — आस्था की (१) *तत्त्वनिष्ठा अथवा सृष्टिविज्ञाननिष्ठा* (२) *व्यक्तिनिष्ठा अथवा जातिनिष्ठा,* क्योंकि जाति भी कल्पितव्यक्तिरूपा ही होती है तथा (३) धर्म का व्यक्तिक्षेत्र में अवगाहन अर्थात् *आस्था की गत्यात्मकता.* ये मूलमान्यताएं 'संवाद' शब्द के अर्थ में पूर्वकल्पित हैं, और कोई नई बात न कह कर उसी का उद्घाटन करती हैं. श्रीमद्भगवद्गीता की संरचना और नामधेय (संवादरूपता) से प्राप्त हिन्दूधर्म-दर्शन के लिए आधारभूत इन मूलमान्यताओं का यथाक्रम विवरण निम्नवत् है :

३.१ आस्था की तत्त्वनिष्ठा (सृष्टिविज्ञाननिष्ठा) :

यह सृष्टि धर्मग्रन्थों से पहले अथवा उनके युगपत् ही धर्म का प्राथमिक उद्बोधन है, यह मान्यता ही आस्था की सृष्टि-विज्ञाननिष्ठा है. यह संसार एक सुविचारित रचना है, कृति है. जिस प्रकार घटपटदि कृतियां अपने बनाने वाले कर्ता की ओर संकेत करती हैं, उसी प्रकार यह सृष्टि अपने कर्ता ईश्वर के होने का प्रमाण है. इस प्रकार सृष्टि की संरचना से प्राप्त कृतित्व हेतु से उसके कर्ता ईश्वर की सिद्धि प्रायः सभी ईश्वरवादी सम्प्रदाय करते हैं. किन्तु सृष्टि की व्यवस्था को एक मूर्त विधान मानकर उससे प्राणिमात्र के लिए निसर्ग-धर्म की सिद्धि केवल हिन्दूधर्म और उसके सम्प्रदायों में ही सम्भव हो सकी. संसार के अधिकतर धर्म, वैश्विक-युक्तिवाद का सहारा केवल ईश्वर की सिद्धि के लिए करते हैं. धर्म में केवल शास्त्र को प्रमाण मानने वाले सम्प्रदाय,

धर्मविधान के लिए वैश्विक-युक्तिवाद की सम्भावनाओं पर विचार करना अवश्यक नहीं समझते. किन्तु विचार करके देखें तो सृष्टि की रचना, मानवीय-विवेक, और शास्त्र, कार्यभूत इन तीनों में ही ईश्वरीय ज्ञान और प्रयोजन की हेतुता समानरूप से प्राप्त है. अतः धर्म में इन तीनों की ही समन्वित प्रामाणिकता बनती है. पुनः उपदेश केवल वाचिक ही नहीं होता. बिना कुछ कहे, निदर्शन के द्वारा भी उपदेश होता है. ग्रन्थ में अवतरित, वाचिक उपदेश को तो ईश्वरीय मानकर 'धर्म' कहा जाय, और सृजन में निदर्शित विधान की उपेक्षा की जाय, इसमें कोई नियामक नहीं है. वस्तुतः पुस्तकीय धर्मो की तुलना में आस्था की सृष्टिविज्ञाननिष्ठा की विशेषता यह है कि जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते उन्हें भी प्रकृति के मार्गदर्शन को स्वीकार करने में कोई सैद्धान्तिक आपत्ति नहीं हो सकती. सृष्टि की प्रयोजनगर्भित संरचना का महत्त्व केवल इतना ही नहीं है कि यह ईश्वर की सिद्धि में एक युक्ति है. इसका वास्तविक महत्त्व इस बात में है कि यह धर्म की आस्तिक-नास्तिक साधारण, एक सार्ववैश्विक अवधारणा का सूत्र है. गीता ने आस्था को पुस्तकीय धर्मों की संकुचित प्रतिबद्धताओं से मुक्त करने में इसके महत्त्व को समझा है और इसके आधार पर एक ऐसा सार्ववैश्विक मूल्यदर्शन प्रस्तुत किया है, जो न केवल समस्त पुस्तकीय धर्मो का पूर्वकल्पित आधार है अपितु उनकी समीक्षा और पुनर्व्याख्यान को सैद्धान्तिक औचित्य प्रदान करता है.

तर्कित उपपत्तियां :

(क) ईश्वर की अवज्ञारूप-विसंवादोद्भव एवं पापमय सृष्टि-रूप में मानव की अवधारणा की अस्वीकृति :

सृष्टि का दर्शन इस संसार की उत्पत्ति तथा इसमें मानव की क्या हैसियत है, एतद्विषयक मान्यताएं सभी धर्मों का आरम्भ बिन्दु हैं. सृष्टि में परिभाषित मानव की हैसियत बहुत हद तक यह तय करती है कि उस धर्म विशेष की मूल्य व्यवस्था क्या होगी और उसकी उपासना पद्धति कैसी होगी. इस बात को ध्यान में रख कर विचार करें तो श्रीमद्भगवद्गीता का नाम और संवादरूपता उसके सृष्टिदर्शन का निर्भ्रान्त प्रतिबिम्ब हैं. यहां संवादरूपता का सीधा अर्थ यह है कि इंसान इस संसार में किसी विसंवाद, अवज्ञा या पाप की उत्पत्ति नहीं है. पैगम्बरवादी धर्मों का मानना है कि यह संसार आदि मानव द्वारा कभी ईश्वर के आदेश की अवज्ञा के कारण उसके स्वर्ग से पृथ्वी पर पतन और अपने इस पूर्वज के पापों का फल भोगती मानव जाति के प्रायश्चित्त और

उद्धार की कहानी है. गीता मानव की विसंवादी, पापपूर्ण सृष्टि रूप में उसकी अवधारणा को अस्वीकार करती है. मानव सहित, इस सम्पूर्ण संसार की रचना, एक दिव्य प्रयोजन को साकार करने के लिए हुई है. इस प्रयोजन में सहभाग, जो सृष्टि की अवयवभूत-इकाइयों में परस्परोपकारक व्यवहार के द्वारा प्राप्त होता है, धर्म का प्राथमिक अर्थ है, जो गीतोपदेश की संवादरूपता में ध्वनित है.

(ख) सृष्टि के दिव्यप्रयोजन में सहभाग - मूल्यचेतना का आधार :

सृष्टि की एकरूपता का अर्थ है उसकी उद्देश्यपूर्ण संरचना, जो उसके अवयवभूत समुदायों के लिए अनुशासन का विधान करती है. सृष्टि का उद्देश्य है, अपने स्वरूप में निहित (सृष्टिकर्ता के) दिव्यप्रयोजन को साकार करना. समष्टि का यह अन्तर्निहित दिव्य प्रयोजन ही यावन्मात्र मूल्य-चेतना का आधार है. इसमें सहभागी होकर सृष्टि का व्यापार, उसकी अवयवभूत प्रजाओं का, समुदायों और व्यक्तियों का आचरण एक नैतिक अर्थ ग्रहण कर लेता है. दिव्य प्रयोजन में सहभाग का अर्थ है, सृष्टि की व्यवस्था से जुड़ना, जिसमें यह प्रयोजन साकार हो रहा है. यह व्यवस्था, समष्टि की अवयवभूता, विविध लोकों में निवास करती देव, दानव, मानवादि प्रजाओं, उनके व्यक्तिपर्यन्त जातीय समुदायों, तथा पार्यावरणिक तत्त्वों के बीच अनेक पक्षीय सहयोग एवं परस्परोपकारक विधान पर टिकी है. श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में, यज्ञधर्म के अभिनव व्याख्यान के द्वारा, वस्तुतः सृष्टि के इस परस्परोपकारक विधान का ही उपदेश किया गया है

''सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।।
देवान्भावयतानेन ते देवाः भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।। गी. ३.१०-११

प्रजापतिब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ के साथ प्रजाओं को रचकर कहा, 'इस यज्ञ के द्वारा तुम लोग वृद्धि को प्राप्त होवो और यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित कामनाओं का देनेवाला होवे. तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा देवताओं की उन्नति करो और वे देवता तुम लोगों की उन्नति करें. इस प्रकार परस्पर उन्नति करते हुए तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त होओगे.

यहां भगवान् श्रीकृष्ण, सृष्टि के दिव्य प्रयोजनोद्दिष्ट व्यापार का अनुवाद करके, उसमें साधनभूत सार्ववैश्विक वर्ग-सहयोग के रूप में यज्ञधर्म का विधान करते हैं. इस विधान की परस्पर

सम्बद्ध तीन मूलमान्यतायें हैं — सृष्टि की नैतिक संरचना से प्राप्त, धर्म की 'सृष्टिविधानरूपा अवधारणा', 'समाज की वैश्विक परिकल्पना', तथा 'श्रेय की वैश्विक-सन्दर्भार्पित अवधारणा'. प्रकृत में, धर्मदर्शन के लिए इनकी प्रासंगिक उपपत्तियों का संज्ञान लेना आवश्यक है.

यज्ञधर्म : वैश्विक-सहभाग का मूर्तरूप : मूलमान्यताएं

सृष्टि के विधानरूप में धर्म की अवधारणा : धर्म का सृष्टि प्रयोजनानुबन्ध, अर्थात् सृष्टि के प्रयोजन से धर्म का निगमन, उसे सत्ता की प्रतिष्ठा और प्रामाणिकता देता है. अवतरित शास्त्रों से पूर्व, धर्म की यह तत्त्वनिष्ठा ही उसका सनातन स्वरूप है, जो देशकाल परिच्छिन्न विविध शास्त्रों और उनसे प्राप्त सम्प्रदायों (धर्मों) का एकात्मक आधार है, साथ ही उनकी समीक्षा एवं संदर्भ-सापेक्ष पुनर्व्याख्यानों के औचित्य का सैद्धान्तिक आधार भी. यहां यह कहा जा सकता है कि सृष्टिविज्ञान से प्राप्त विधान, स्वतंत्र रूप से धर्म में प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि सृष्टि के प्रयोजन, उसकी उद्देश्यपूर्ण अन्तःसंरचना, यहां तक कि उससे धर्म-विधान के निगमन में शास्त्र ही प्रमाण हैं. ऊपर दिए गए उदाहरण में, प्रजाओं के परस्परोपकारक आचरण में श्रेय का परिज्ञान हमें गीताशास्त्र से ही होता है, किसी सृष्टि विज्ञान से नहीं. ऐसी स्थिति में धर्म की शास्त्रनिरपेक्ष निष्ठारूप में सृष्टिविज्ञान की मान्यता का कोई औचित्य नहीं बनता.

उक्त आपत्ति केवल आंशिकरूप में सही है. मूल प्रश्न यह है कि प्रकृत में शास्त्र से जो ज्ञान हो रहा है, वह अनुवाद है या अप्राप्तप्रापक है. यदि शास्त्र, एक सिद्ध-विधान का अनुवाद मात्र कर रहा है, तो उसमें, शास्त्र और अनुभव दोनों ही प्रमाण होंगे, केवल शास्त्रप्रमाण नहीं चलेगा. आचार्य शंकर ने, कुछ भिन्न संदर्भों में यह बात उठाई है, और बडे ही सुन्दर ढंग से, कर्मविधायक केवल-शास्त्रनिष्ठा से भिन्न, आस्था की तत्त्वनिष्ठा की, उसके वस्तुनिष्ठ स्वरूप की स्थापना की है (शां.भा.१.१.२). शुद्धशास्त्रवादी धर्मदर्शन की यह मान्यता है, कि धर्म में केवल शास्त्र ही हेतु है, ज्ञापक भी, और कारक भी. तात्पर्य यह कि शास्त्र से श्रेय का ज्ञान भी होता है और उत्पत्ति भी. इस मत से भिन्न, आचार्य शंकर धर्म के उस स्थल की पहचान करते हैं जहां श्रेय, वस्तुरूप में सिद्ध है. श्रेय को वस्तुस्वरूप मानने की तीन सैद्धान्तिक परिणतियां सामने आती हैं : (१) शास्त्र श्रेय के ज्ञापक तो हो सकते हैं, किन्तु सर्वत्र कारक भी हों यह आवश्यक

नहीं, (२) शास्त्र द्वारा श्रेय की यह ज्ञप्ति अनुवादरूपा होगी और यह कि (३) श्रेय की यह शास्त्रीय ज्ञाप्ति, इतर प्रमाणनिरपेक्ष स्वीकृति की अधिकारी नहीं हो सकती, क्योंकि सिद्धवस्तु में प्रमाणों का समन्वित, अन्तर्विरोध-रहित साक्ष्य ही स्वीकार्य होता है. आस्था की इस वस्तुनिष्ठ अवधारणा को, जिसे उक्त उपसिद्धान्तों सहित, आचार्य शङ्कर ने पूर्वमीमांसा प्रतिपादित यज्ञधर्म से भिन्न, अद्वैत वेदान्त की स्थापना के लिए प्रस्तुत किया था, हिन्दूधर्मदर्शन का अंग है, और संसार के अन्य धर्मों से इसके अन्तर को समझने में महत्त्वपूर्णरूप से उपयोगी है. गीता का वैशिष्ट्य इस बात में है कि वह सीधे यज्ञधर्म में ही आस्था के वस्तुनिष्ठ स्वरूप की सिद्धि करती है. गीता में, यज्ञ को सृष्टि की नैतिक संरचना से प्राप्त विधानरूप के रूप में प्रस्तुत किया गया है, और इस प्रकार आस्था की वस्तुनिष्ठा की सिद्धि ठीक उस स्थल में की गई है, जिसे सम्पूर्ण वेदान्त परम्परा, वस्तुनिष्ठा का अपवाद मानती है. इस प्रसंग को आगे बढायेंगे तो असमाहार्य प्रसंगान्तर हो जाएगा, अतः बात को इतना कह कर समाप्त करते हैं कि आस्था की वस्तुनिष्ठ अवधारणा, हिन्दूधर्म को न केवल एक सार्वभौमिक अर्थ देती है, अपितु पोथी-पार्यन्तिक आस्थाओं की मूर्तसीमाओं और सार्वभौमिक आकांक्षाओं के अन्तर्विरोध का निदर्शन कराते हुए, हिन्दूधर्म के अनन्यसाधारण स्वरूप को बताती है.

समाज की वैश्विक परिकल्पना यज्ञ की अवधारणा की दूसरी महत्त्वपूर्ण उपपत्ति है, समाज की वैश्विक परिकल्पना. यह परिकल्पना आचार-दर्शन के आत्मौपम सिद्धान्त के निरुपाधिक व्यवहार के लिए अपरिहार्य है. 'दूसरों के प्रति वह व्यवहार करो जो तुम उनसे अपने लिए चाहते हो', यह आचरणमीमांसा का सर्वमान्य सिद्धान्त है, जिसे पश्चिम में इम्मैनुअल कान्ट नाम के प्रसिद्ध दार्शनिक ने प्रस्तुत किया. भारतीय चिन्तन परम्परा में, '**आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः**' इस आत्मौपमसिद्धान्त रूप में, गीता और महाभारत में इसकी स्थापना कान्ट से सहस्रों वर्ष पूर्व हो चुकी थी. जहां तक सिद्धान्त के भारतीय निर्वचन की बात है, इसमें कोई अस्पष्टता नहीं है. 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' कह कर प्राणिमात्र को विहित साधारणीकरण के दायरे में ले लिया गया है. किन्तु इसका पाश्चात्य निर्वचन इतना स्पष्ट और निरापद नहीं कहा जा सकता. *'दूसरों के प्रति वह व्यवहार करो जो तुम उनसे अपने लिए चाहते हो'*, इस सूत्र में 'दूसरों' इस पद से अभिहित पदार्थ की सीमाऐं अस्पष्ट है. जब तक इसे परिभाषित नहीं किया जाता, यह सूत्र कोई एकरूप विधान नहीं कर सकता. इस बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है कि 'दूसरे' के दायरे में परिवार

के लोग हैं, या अपनी बिरादरी या कबीले के लोग हैं, एक राष्ट्र या धर्म के लोग, या सम्पूर्ण मानव जाति या इससे अधिक कुछ. 'मुस्लिम भ्रातृत्व', 'ईसाई भ्रातृत्व', 'दलित एकता' से ले कर मानवमात्र के भ्रातृत्व और समानता की मानववादी अवधारणा – 'दूसरों' इस पदार्थ के विविध निरूपणों से प्राप्त, इतरविद्वेष का आक्षेप करते, ये परस्पर विरोधी मूल्यविधान, वस्तुतः आत्मौपम सिद्धान्त के, सोपाधिक प्रयोग की ही परिणतियां हैं. योरुप के लिए मानवसमाज, सामाजिकता की आखिरी हद है, और मानववाद समाजदर्शन का परमार्थ. अतः यह कहा जा सकता है कि काण्ट के नीतिसूत्र में 'दूसरों' इस पद का अर्थ सम्पूर्ण मानव जाति है. यदि ऐसा है तो यह कोई बहुत आश्वस्त करने वाला निष्कर्ष नहीं है. विचारपूर्वक देखें तो मानववाद, जातीय और कबीलाई नैतिकता का ही विस्तार है, जिसका मानवजाति केन्द्रित मूल्यविधान, लोकान्तरों की बात छोड़िए, इस धरती के ही पर्यावरण को, उसमें रहने वाले मानवेतर प्राणियों तक को अपनी दायित्वचेतना में स्थान नहीं दे पाता.

वैश्विक समाज की परिकल्पना पर आधारित श्रेय की अवधारणा : आचरण मीमांसा के सार्वत्रिक-सूत्र के अव्यवहित व्यवहार और उससे, अन्तर्विरोधमुक्त निरुपाधिक आचरण विधान की प्राप्ति के लिए समाज की सार्ववैश्विक अवधारणा कितनी अपरिहार्य है यह बात ऊपर दिए गए विवरण से स्पष्ट है. गीता में सार्ववैश्विक समाज की अवधारणा, तदन्तर्भूत प्रजाओं के मध्य परस्परोपकारक आचरण रूप कर्म का यज्ञरूप में विधान, यज्ञ की, सृष्टि के दिव्यप्रयोजन निबद्ध अवधारणा, एक समग्र धर्मदर्शन भी है, और आचरण दर्शन भी. इससे व्यक्तियों और छोटे बड़े समूह-व्यक्तियों के लिए श्रेय के भिन्न, किन्तु परस्पर अविरोधी विधानों की प्राप्ति होती है, क्योंकि यावन्मात्र मूल्यविधान एक वैश्विक समाज के एकात्मक स्वरूप और प्रयोजन से प्राप्त हैं. यतः प्रत्येक व्यापक हित, संकुचित हित की अपेक्षा, वैश्विक प्रयोजन के अधिक निकट है, व्यापक हित के लिए संकुचित का त्याग, सृष्टि की नैतिक व्यवस्था का अंग है. मूल्यचिंतन का यह सार्ववैश्विक फलक जहां मानववादपर्यन्त श्रेय की जातीय अवधारणाओं का, साम्राज्यलिप्सु धर्मवादों की अपर्याप्तता का, सार्वभौमिक प्रतिष्ठा के लिए उनके हिंसक अभिनिवेश के अनौचित्य का निदर्शन कराता है, वहीं एक नई भूमिका में उनके पुनराख्यान का मार्ग भी दिखाता है. विश्वयाग की जातीय सहयोगरूप परिकल्पना, दूसरों के पराभव तथा केवल स्वजातीयोत्कर्ष की सम्राज्यवादी,

जातीय-श्रेयोवधारणा का निराकरण करते हुए, जातीय अस्मिताओं को, सर्वजनहित के लिए समर्पित सहयोगाचाररूप एक अभिनव भूमिका में प्रतिष्ठित करती है.

यथोक्त वैश्विकदायित्व चेतना केवल सामुदायिक नैतिकता की नियामक है, ऐसा नहीं है. यह परिवारिक और वैयक्तिक नैतिकता में भी समानरूप से नियामक है. **'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्** (जो केवल अपने लिए भोजन बनाते हैं, वे पाप खाते हैं), तथा **''तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः''** (उन देवताओं के द्वारा दिए भोगों को जो पुरुष बिना इनके लिए कुछ दिए भोगता है, वह चोर है) इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है.

यज्ञ के अर्थ से प्राप्त, उक्त वैश्विक दायित्व चेतना हिन्दू उपासना पद्धति में सर्वत्र देखी जा सकती है. प्रातः उठकर पृथ्वी को नमन करने और पादस्पर्श के लिए क्षमा मांगकर धरती पर पैर रखने वाला हिन्दू, गौ तथा अन्य पशुओं को ईश्वरावतार रूप में पूजने वाला हिन्दू, वृक्षों को पूजने वाला हिन्दू, पितृश्वरों के लिए श्राद्ध, पिण्डदान और तर्पण करने वाला हिन्दू, अपने भोजन की थाली में से, भूतबलि के रूप में अन्यान्य प्राणियों का हिस्सा लगाने वाला हिन्दू, मूलतः एक वैश्विक याग में अनवरत आहुति दे रहा है. सृष्टि के कण कण में दिव्यता बिखेरते उपासना के बोझ को लेकर, और उसके दिखने में अतर्कित, मानव-निरपेक्ष, पशुपूजक मूल्यदर्शन को लेकर, हिन्दूधर्म की अन्यधर्माविलम्बियों द्वारा और स्वयं अपने तथाकथित बुद्धिवादियों द्वारा अक्सर तीखी आलोचनाएं सुनने को मिलती हैं. किन्तु ये आलोचनाएं पूरी तरह अज्ञानमूलक हैं, और बहुआयामी उपासना वितान के एकात्मक नैतिक आधार, और हिन्दू की वैश्विकदायित्व चेतना की समझ के अभाव में पैदा हुई हैं. आज का मानव, मानवाधिकारों की बातें करके फूला नहीं समाता, और इसे सभ्यता की परम उपलब्धि बताता है. जरा कल्पना करें उस सभ्यता की, जिसने हजारों साल पहले यह व्यवस्था दी कि इस धरती पर केवल मानव ही नहीं, अन्य प्राणी भी रहते हैं ; उनके भी इस धरती पर कुछ अधिकार हैं. मानव के उनके प्रति भी कुछ दायित्व हैं. इतना ही नहीं मानव का दायित्व केवल इस धरती पर रहने वालों तक ही सीमित नहीं है. इस अनन्त ब्रह्माण्ड में, अन्यान्य लोकों में रहने वाली प्रजाओं के साथ भी मानव, सृष्टि के परस्परोपकारक विधान के द्वारा जुड़ा हुआ है, जो इस धरती की सीमाओं के परे मानव के दायित्व को निर्धारित करता है. सुनते है, मुगल सम्राट शाहजहां, यमुना जल पीने का शौकीन था. कालान्तर में अपने पुत्र

औरंगजेब द्वारा सत्ताच्युत हो कर आगरा के किले में बंदी बनाए गए शाहजहां को जब पीने को यमुना जल का मिलना बंद हो गया, तब उसने अपने पुत्र को इन शब्दों में अपनी शिकायत लिख कर भेजी, ''बेटे ! तुम कैसे मुससलमान हो? तुमसे तो वे हिन्दू अच्छे जो अपने मरे बाप को पानी देते हैं. एक तुम हो जो अपने जीवित बाप को पानी के लिए तड़पा रहे हो". यह आख्यान, हिन्दू की दायित्व-चेतना के विस्तार पर एक सटीक टिप्पणी है. हिन्दुओं में श्राद्ध तथा मंहगे मृतक भोजों की सामाजिक उपादेयता को लेकर बहुत कुछ कहा गया है, और बहुत कुछ कहा जा सकता है. किन्तु इतना निर्विवाद है कि ये मृतक-कर्मकाण्ड, जिनकी वर्तमान संदर्भों में समीक्षा और पुनराख्यान की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता, हिन्दू की दायित्वचेतना के पराभौमिक विस्तार को रेखांकित करते हैं. संसार के अन्य किसी धर्म में न तो लोकहित की कोई व्यापक अवधारणा मिलती है, और न ही प्राणिमात्र के प्रति दायित्वचेतना की कोई परिकल्पना.

यह सृष्टि, स्वयं में एक संदेश है, ठीक वैसे ही, और उतना ही प्रामाणिक, जितना कोई धर्मग्रन्थ हो सकता है. यही आस्था की सृष्टिनिष्ठा का सार है. सृष्टि को पढ़ने का, उसकी एकरूपता से, धर्मविधान के निर्धारण का जो कार्य हिन्दूधर्म (गीता) में हुआ है, उसका संक्षिप्त विवरण गीता (३.१०-१६) में दिया गया है. संसार के अन्य धर्मों में ऐसा कोई प्रयास नहीं मिलता.

३.२ आस्था के केन्द्र में व्यक्ति की प्रतिष्ठा : गीतोपदेश, ईश्वर और इंसान के बीच सीधे संवाद की आह्लादमयी अभिव्यक्ति :

संवाद कभी एकपक्षनिष्ठ नहीं हो सकता. यहां तक कि नाटकीय स्वगत में भी पात्र अपने में ही एक 'पर' को कल्पित करते हुए ही प्रवृत्त होता है. उभयपक्षीय अथवा बहुपक्षीय सहभाग संवाद की आत्मा है, जिसे हम उसकी पक्षधर्मिता कह सकते हैं, और जो स्वर अथवा विचार रूप माध्यम में, एक अभिनव अर्थ को जन्म देते हुए , प्रत्येक सहभागी में अस्तित्वनिर्व्यूढ आस्था के सृजन के आनन्द को जन्म देता है. यह आह्लादमय-पक्षधर्मी-अर्थावगम ही गीतत्व है. इसके द्वारा जिस तात्पर्यार्थ की प्रतिपत्ति होती है, उसे किसी एक पात्र अथवा अनेक पात्रों की, चाहे वे कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों, उक्तियों के संग्रह के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता. संगीतरचना में अपनी स्थानीय मूल्यवत्ता के कारण, गीत के सभी स्वर महत्त्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि वे एक

अभिनव अर्थ के सृजन की प्रक्रिया का अंग हैं. 'श्रीमद्भगवद्गीता' अर्थात् 'भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा गायी गयी' विद्या या उपदेश, इस संज्ञार्थ पर विचार करें, तो संसार के धर्मग्रन्थों के बीच गीता का वैलक्षण्य अनायास स्पष्ट हो जाता है. यह बात नाम और ग्रन्थसंरचना से ही स्पष्ट है कि गीता एक पक्षीय आदेश या फर्मान नहीं है. यह तो गान है — ईश्वर और इंसान के बीच सीधे संवाद की आह्लादमयी अभिव्यक्ति — जिसमें प्रत्येक आर्त पुकार के लिए, ऐसे संवाद का आश्वासन है, बिना किसी बिचौलिए के, बिना किसी मध्यस्थ के. हिन्दू का भगवान् पुकारे जाने पर, माध्यमों की तलाश नहीं करता, स्वयं दौड़ पड़ता है. वह हिन्दू का भगवान् नहीं हो सकता जो इंसान से सीधे मुंह बात भी न करे; बात करे तो हमेशा हरकारों के जरिए, जो अलग-अलग बोली बोलते हैं, और जिन्होंने दुनियां में समझ के बजाय समस्यायें ही ज्यादा पैदा की हैं. संसार में जो भी पैगम्बर या धर्मगुरु आए, उनके सामने कुछ स्पष्ट सामाजिक संदर्भ थे, जो उनके उपदेशों में, सार्वभौमिकता के प्रतिबन्धक, एक जातीय आकार का निवेश करते हैं, और उन्हें एक जन्मना सीमित अर्थवत्ता से जोड़ते हैं.श्रीमद्भगवद्गीता इस यथार्थ को सहज स्वीकार करती है, और बिना अपने पक्ष में किसी अपवाद के, सभी धर्मग्रन्थों की, सीमित प्रायोजकता को रेखांकित करते हुए, आस्था के भावरूप की स्थापना करती है. *'त्रैगुण्यविषया वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'*, पुस्तकीय को उसकी हैसियत दिखानेवाला यह उद्घोष, एक ऐसे ग्रन्थ में ही सम्भव हो सकता था, जिसके पास आस्था की एक सर्वथा नई समझ हो. इस नई समझ का आधार था, आस्था की इकाई रूप में व्यक्ति की मान्यता, धर्म के वैयक्तिक अर्थ की मान्यता, तथा ईश्वर के साथ व्यक्ति के अव्यवहित संवाद की परिकल्पना. गीतोपदेश का उपसंहार करते हुए, भगवान् श्रीकृष्ण का यह उद्बोधन ध्यान देने योग्य है —

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।। १८.६३

'इस प्रकार, मेरे द्वारा तुम्हें इस परम गोपनीय ज्ञान का उपदेश सम्पन्न हुआ. इस पर पूरी तरह से विचार करके, जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो.'

बताने की आवश्यकता नहीं है कि यह उपसंहार, आस्था की निर्णायक भूमिका में ग्रन्थ की नहीं, व्यक्ति की प्रतिष्ठा कर रहा है. श्रीमद्भगवद्गीता संसार का पहला धर्मग्रन्थ है, जो कौम को नहीं बल्कि एक वैयक्तिक संदर्भ को सम्बोधित है. यह नबियों की शैली में ईश्वरीय आदेश

का ईमानदार आलेख मात्र न होकर, संवाद द्वारा व्यक्ति के लिए उपयुक्त धर्म का अनुसंधान है. व्यष्टि का समष्टि के साथ, व्यक्ति का दिव्यचेतना के साथ संवाद 'स्वधर्म' में जिस अन्तर्दृष्टि को जन्म देता है, उसकी प्रामाणिकता का लक्षण है अह्लाद (गीतत्व), जो हर सफल सृजन या अनुसंधान का सामान्य लक्षण है. युद्धभूमि में सेनाओं के मध्य किंकर्तव्य विमूढ, विषाद-जर्जर अर्जुन के रूप में गीता उन परिस्थितियों का प्रारम्भ में ही रेखांकन कर देती है, जिनमें गीता का अवतरण कहीं भी, कभी भी, किसी भी अन्तःकरण में सम्भव हो सकता है. धर्मसंकटापन्न व्यक्ति के जीवन में ऐसे क्षण आते हैं, जब व्यक्ति को संस्थागत धर्म और उसकी व्यवस्थाएं अपर्याप्त लगने लगती हैं, उसका अपना विवेक तो पहले ही साथ छोड़ चुका होता है. धर्मसंकट के इन अत्यन्त एकाकी क्षणों में उसका सम्पूर्ण अस्तित्व, निश्चित श्रेय की पहचान और निर्व्यलीक धर्मपथ के साक्षात् उपदेश के लिए व्याकुल हो उठता है. जहां तक आस्था के उपलब्ध आलम्बनों और व्यवस्थाओं की अपर्याप्तता के एहसास की बात है, बुद्ध ईसा और मुहम्मद जैसे मनीषियों की साधना और धर्मोपदेश में भी इसकी प्रवृत्तिहेतुता देखी जा सकती है. किन्तु अर्जुन का संत्रास और धर्मानुसंधान दो रूपों में इनसे विलक्षण था. पहला तो यह कि पैगम्बरवादी धर्मों (ईसाइयत और इस्लाम) में, ईश्वर द्वारा निर्धारित भूमिका के लिए चुने गए थोड़े से लोगों का विशेषाधिकार था हर किसी का नहीं; और दूसरे यह कि उनके द्वारा साक्षात् प्राप्त धर्मोपदेश, व्यक्ति को नहीं जाति (कौम) को सम्बोधित था, और इसलिए वह अधिमुद्रित (टाइप्ड), परिवर्तनासहिष्णु वैधानिक सांचे के रूप में था. इनके उपदेश में नई बात थी तो सिर्फ इतनी कि वे पुराने सांचों के स्थान पर नए सांचे प्रस्तुत कर रहे थे. इनसे सर्वथा भिन्न, अर्जुन का धर्मानुसंधान, उसके अपने लिए है, और इसीलिए गीता एक अधिमुद्रित (टाइप्ड) या सांचे में ढला धर्मोपदेश नहीं है, अपितु प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के लिए धर्मानुसंधान की पद्धति का निदर्शन है, जिसे वैयक्तिक मार्गदर्शन की तलाश है. गांधीजी कहते थे कि जब उन्हें किसी समस्या का समाधान नहीं सूझता था, वे गीता की शरण में जाते थे और उन्हें समाधान मिल जाता था. इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि गीता में हर समस्या का समाधान लिखा हुआ है. मानवीय संदर्भों की कोई ऐसी सूची नहीं बन सकती जो सम्पूर्ण हो. फिर एक सम्पूर्ण धार्मिक विधान का तो प्रश्न ही नहीं उठता. गीता केवल एक संदर्भ को लेकर उस पद्धति का निदर्शन कराती है, जिसके द्वारा व्यक्ति के निर्णय दिव्य-व्यवस्था के अंग बन सकते हैं. गीता में समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने का तात्पर्य है गीता की उस पद्धति में निष्णात

होना, जिसके द्वारा कोई भी व्यक्ति अपने को दिव्य प्रेरणा से जोड़ सकता है. इसी अर्थ में उसे विद्या या ब्रह्मविद्या कहा है. गीता उस विद्या का उपदेश है जिसके द्वारा सामान्य व्यक्ति भी थोड़े से प्रयास से, दिव्य प्रेरणा का संवाहक बन जाता है. जो बातें कभी असंभव समझी जाती थीं, वे आज वैज्ञानिक उपायों के द्वारा सहज साध्य बन चुकी हैं. धर्म की व्यवस्थाओं को वैज्ञानिक चिन्तन का विषय बनाना, जिन मूल्यों को एक विप्रकृष्ट, परोक्ष व्यवस्था का अंग माना जाता है उपाय द्वारा व्यक्ति को उनके साक्षात् स्रोत के निकट ले जाकर खडे कर देना, इतना ही नहीं, योगादि उपायों के द्वारा अभीष्ट मूल्यों का सृजन भारतीय धर्मदर्शन का वैशिष्टय है. ईश्वर के साथ संवाद, जो कभी केवल नबियों और पैगम्बरों का विशेषाधिकार था, उपाय के द्वारा सर्वजन सुलभ हो सकता है. श्रीमद्भगवद्गीता की संवादरूपता, भारतीय धर्मविद्या की इस महत्त्वपूर्ण उपलब्धि को रेखांकित करती है.

आस्था का व्यक्तिक्षेत्र में निर्धारण और उपयुक्तता की संपुष्टि, ईमानदार हिन्दू पर इतना बडा दायित्व डाल देती है, कि उसे संभाल पाना हर किसी के बस की बात नहीं है. सामान्य जन, बंधे बंधाऐ रास्ते पर चलना या किसी विश्वसनीय मसीहा के द्वारा हांक कर ले जाया जाना ही पसन्द करता है.

आस्था के व्यक्तिप्रमाण स्वरूप (स्वधर्म) के लिऐ चाहिए, अपने व्यक्तित्त्व की निष्कपट समझ, अपने मनोवैज्ञानिक उपादानों की अकृतिम पहचान और मूल्यांकन. अपने बारे में इस प्रकार की सही समझ बना पाना, असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है. अपने को समझने के लिए एक विशेषज्ञ की दृष्टि और प्रशिक्षण चाहिए. यही कारण है कि मिथ्या व्यक्तित्व-दर्शन पर आधारित धर्म-निर्धारण, अधिकांशतः पाखण्ड में ही परिणत होता है. यह स्थिति हिन्दूधर्म में औरों की अपेक्षा कुछ अधिक ही है. हम आसानी से वैष्णव हो सकते है, शैव और शाक्त हो सकते है, रामानन्दी या आर्यसमाजी हो सकते है; जैन और बौद्ध होना मुश्किल नही है, लेकिन हिन्दू होकर जीना बहुत मुश्किल है, क्योंकि उपयुक्त आस्था के चुनाव की जिम्मेदारी डालता है आप पर. इसके लिए चाहिए अपने आपकी, अपने व्यक्तित्त्व की अकृतिम पहचान, तदनुसार एक मसीहा की खोज और उपयुक्त साधना पथ का वरण. यह अनुसंधान और वरण, सर्वथा नवीन कुछ हो यह आवश्यक नहीं; प्राप्त की अनुभव में सम्पुष्टि भी अनुसंधान ही होती है. यहां प्रश्न यह है कि जो इस प्रकार

प्रबुद्ध नही है. जिनका चैतन्य उक्त रूप से जागृत नही है, क्या वे हिन्दू कहलाने के अधिकारी नहीं है? दरअसल कोई भी अप्रबुद्ध हिन्दू इतना अप्रबुद्ध नहीं होता कि उसमें अपनी सम्प्रदायिक प्रतिबद्धताओं से परे,विविध सम्प्रदायों के सहभाव के धरातल की चेतना न हो. यह चेतना, एक हिन्दू को सामान्यतः अपने पारिवारिक परिवेश से ही मिलती है, जहां अलग अलग आस्थाओं से जुड़े लोग, उपासना की भिन्न पद्धतियों का अनुसरण करते हुए, सौहार्दपूर्वक एक ही परिवार के सदस्य रूप में रहते हैं. हिन्दू, दरअसल एक साथ आस्था के दो, तीन धरातलों पर जीता है. एक है, आस्था का संस्थागत, विधिनिषेध मूलक रूप – जो एक सामान्य, अप्रबुद्ध व्यक्ति की धर्म विषयक अवधारणा है. दूसरा है, आस्था की अपेक्षाकृत व्यापक संघीय-चेतना का धरातल, जिसे सामान्य जन साम्प्रदायिक अविरोध और सहभाव की भूमि के रूप में स्वीकार करते हैं. किन्तु प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए यह उपयुक्त धर्म के अनुसंधान की भूमि है. आस्था के इन दोनों धरातलों का निदर्शन, तथा उनको साथ लेकर कैसे जिया जाए, गीतोपदेश इस समस्या के समाधान को सम्बोधित है.

व्यक्तिनिष्ठा के तीन फलितार्थ हैं : प्राप्त धर्म की, अनुमोदन या वैमत्य रूप में ***व्यक्ति,*** तद्रूपाव्यक्ति का आस्था में ***द्वन्द्वात्मक संग्रह,*** उस संग्रह का गीतरूप में ***सर्जनात्मक अवगाहन.*** यहां ''गीतरूप' कहने का तात्पर्य है, धर्मविगति की रसात्मकता, जो संवाद की सार्थक परिणति को, उसकी सर्जनात्मकता को प्रमाणित करती है. व्यक्तिनिष्ठा के यह क्रमिक सोपान, वस्तुतः हिन्दूधर्म की आस्तरणिक संरचना की सिद्धि के सोपान हैं. आगे इस विषय पर विशेष विचार होगा.

३.३ आस्था की गत्यात्मक अवधारणा - परोक्ष (शास्त्र) से अपरोक्षानुभव की ओर

जैसे ही हम ईश्वर के साथ व्यक्ति के साक्षात् संवाद की बात करते है, हम आस्था की एक सर्वथा नई अवधारणा में प्रवेश करते हैं, जो उसके स्थिर, संहिताबद्ध, और परोक्षधर्मी प्राक्तन स्वरूप को अनुभवोन्मुख बनाते हुए, उसे एक गत्यात्मक आयाम देती है. हम इसे धर्मचेतना के विकास के क्रम का एक अग्रिम तार्किक सोपान भी कह सकते हैं, जो आस्था के परोक्षधर्मी रूप की सीमित अर्थवत्ता, और मानव में आस्था के निर्णायक, अपरोक्ष आधारों के लिए बेचैन तलाश की सैद्धान्तिक परिणति है. यहां परोक्षधर्मी आस्था से तात्पर्य उन धर्मों से है जो यह मानते हैं कि धर्मतत्त्व नित्य-परोक्ष है. मनुष्य सीधे, साक्षात् ईश्वर से धर्म का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता.

उचित माध्यम — जो मीमांसकों के मत में केवल शास्त्र (वेद) ही हो सकता है, तथा अन्य मतावलंम्बियों के अनुसार संदेशवाहक (जो पैगम्बर, गुरु अथवा कोई अवतारी पुरुष हो सकता है) और उसके द्वारा लाए गए धर्मग्रन्थ(शास्त्र) — से होते हुए ही ईश्वर का मार्गदर्शन व्यक्ति तक पहुंचता है. इसके अतिरिक्त, पैगम्बरवादी मत — यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम धर्म — पैगम्बर और उसके द्वारा अवतरित शास्त्र के लिए जातीय संदर्भों को भी स्पष्ट मान्यता देते हैं, जिनके सम्बन्ध से संदेश व्यक्ति तक पहुंचता है. इन धर्मो के अनुसार, ईश्वर प्रत्येक कौम में एक या कुछ चुने हुए लोगों को अपना संदेशवाहक (पैगम्बर) बनाकर, उस कौम के लिए संदेश भेजते हैं. यह दिव्यसंदेश ही उस कौम के लिए ईश्वरीय-विधान अर्थात् धर्मशास्त्र का स्थान लेता है. यह संदेश साक्षात् जाति (कौम) विशेष को सम्बोधित होता है, और उस 'कौम' की इकाई के रूप में पहचान के माध्यम से 'व्यक्ति' का उसमें अधिकार बनता है. इस प्रकार दिव्यसंदेश के स्रोत ईश्वर तथा प्राप्तकर्ता व्यक्ति के बीच एक मध्यस्थ परम्परा — पैगम्बर, ग्रन्थ तथा कौम — के रूप में, विद्यमान रहती है, जिसमें से प्रत्येक 'बिखरती कड़ी' पर आस्था की गांठे बांधते चलना, उन्हें सहेजते चलना, आस्थावान् की जीवन भर की जिम्मेदारी है. इस व्यवस्था में न केवल व्यक्ति और ईश्वर के बीच सीधे संवाद की कल्पना अर्थतः निषिद्ध है, अपितु इसके अन्तर्गत व्यक्ति अपनी उस अन्तरंग वैयक्तिक चेतना को भी मान्यता नहीं दे सकता, जिसमें उस सामाजिक इकाई (कौम) से भिन्न कोई स्वरूपाकांक्षा पलती हो, जिस इकाई को उद्देश्य करके संदेशवाहक और संदेश का अवतरण हुआ है, क्योंकि इसको मान्यता देने का अर्थ है, आस्था के लिए कौम से भिन्न एक सम्बोधन-फलक को स्वीकार करना, जिसके लिए पैगम्बरवादी आस्था में कोई स्थान नहीं हो सकता. जैसा कि ऊपर दिए उद्धरण से स्पष्ट है, गीता न केवल धर्म के व्यक्तिक्षेत्र (विवेक और अनुभव) को मान्यता देती है, अपितु स्वधर्मरूप में तत्प्रमाणित धर्म की अवधारणा भी प्रस्तुत करती है.

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि आस्था की गत्यात्मकता का अर्थ है, प्राप्त धर्म की वैयक्तिक सन्दर्भों में अवगति. 'व्यापार' और 'फल' रूप में इस अवगति के दो भाग हैं. व्यापार रूप में अवगति, व्यक्तिक्षेत्र में, आप्तोपदेश का परामर्श है. फलरूप में यह स्वधर्मबोध है, जो इस परामर्श से उत्पन्न होता है. इस प्रकार, अवगति की अपरपर्याय, आस्था की गत्यात्मकता को हम व्यक्तिनिष्ठा की व्यावहारिक उपपत्ति कह सकते हैं, जो उसके फलपर्यन्त व्यापार का संग्रहीत रूप है. संक्षेप

में, आस्था की गत्यात्मकता का अर्थ है, व्यक्ति और समूह के लिए, देशकालसापेक्ष, प्रमाणिक धर्म का विधान. सामान्य व्यक्ति के लिए यह विधान शास्त्रों से प्राप्त होता है, जबकि प्रबुद्धजन, शास्त्र, अनुभव, स्वविवेक तथा गुरुजनों की सहायता से, तत्तत् परिस्थिति में अपने लिए स्वधर्म का अनुसंधान करते हैं. शास्त्रों में यद्यपि वर्णाश्रम व्यवस्था के रूप में सामुदायिक आचार विधान उपलब्ध हैं, कोई भी विधान, कितना भी व्यापक क्यों न हो, इतना व्यापक कभी नहीं हो सकता, कि यावन्मात्र सामाजिक संदर्भों को सूचीबद्ध कर सके, और उन पर व्यवस्था दे सके. नए राजनैतिक और सामाजिक संदर्भों में, उठती अपूर्वकल्पित समस्याओं, नई सामुदायिक पहचानों के लिए, शास्त्रविधान, अपर्याप्त ही नहीं, नितांत अप्रासंगिक लगते हैं. नए संदर्भों में शास्त्रों के व्याख्यान, नई समस्याओं को ध्यान में रखते हुए, कर्तव्य का विधान — यह कार्य एक प्रबुद्ध धर्मपीठ ही कर सकता है. हिन्दूधर्म की गत्यात्मकता, एक केन्द्रीय धर्मपीठ के अनुशासन की कल्पना करते हुए ही प्रवृत्त होती है. इसके अभाव में हिन्दू धर्म का अपेक्षित विकास अवरुद्ध हुआ है. सतीप्रथा, हरिजनों का मंदिर प्रवेश, अस्पृश्यता, दहेज प्रथा, हिन्दुओं के वैयक्तिक कानून, उनके देवालयों की व्यवस्था आदि समस्याएं, जिन्हें हिन्दुओं के धार्मिक अनुशासन का विषय होना चाहिए था, अपेक्षित धर्मपीठ के अभाव में, आज एक धर्मनिरपेक्ष सरकार के कानूनों का विषय बन चुके हैं. यह एक दुःखद स्थिति है, जो हिन्दूधर्म के विघटन और उसके धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को तेज कर रही है. अतः समस्त धर्माचार्यानुमोदित, हिन्दूधर्मपीठ की स्थापना, किसी भी हिन्दू कार्यक्रम की मुख्य प्राथमिकता होनी चाहिए. जब तक ऐसे पीठ की स्थापना सम्भव न हो, 'मुस्लिम ला बोर्ड' की भांति, हिन्दू-विधिसभा जैसी संस्था के गठन के द्वारा भी काम चलाया जा सकता है, जिसमें उन समस्त सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व हो, जिन पर हिन्दू विधि लागू होती है. इस सम्बन्ध में विश्वहिन्दूपरिषद् जैसी संस्थाओं को विचार करना चाहिए. सम्प्रति आस्था की गत्यात्मकता के इस व्यावहारिक परिकल्प की चर्चा को यहीं छोड़ कर, अपने मूल विषय गीताधर्म-दर्शन, की चर्चा को आगे बढ़ाते हैं.

गीता में धर्म की अवधारणा न तो वैदिक कर्मकाण्ड से ली गई है, और न ही उपनिषदों से, और न ही यह धर्म के प्रवृत्ति और निवृत्ति रूपों का संग्रह है, जैसा कि आचार्य शङ्कर का मानना है. गीता में धर्म की अवधारणा का आधार है, मनुस्मृति. अतः मनु के संक्षिप्त किन्तु

आधारभूत योगदान का संज्ञान लेना आवश्यक है.

४. **मनोः धर्मचिन्तनं खल्वैतिहासिकमूलाधारः गत्यात्मकावधारणायाः आस्थायाः 'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः' इति धर्मलक्षणे शास्त्रभिन्नस्यानुभवविवेकभूतस्य व्यक्तिक्षेत्रस्यापि धर्मनियामकत्वेन गृहीतत्वात्। ऐतिहासिकमिदं योगदानं गीतार्थकल्पित-व्यक्तिनिष्ठायाः पूर्वोक्तिरूपत्वात्, सम्प्रदायबहुत्वोद्भवस्य, बहुत्वस्य च आस्थासंघे संग्रहस्य च सैद्धान्तिकाधारसमर्पकत्वाच्चास्य।**

४. गीताधर्मदर्शन और मनु की विरासत : असमीक्षापूर्ण आलोचनाएं :

आचार्य शङ्कर वेदोक्त धर्म के प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण यह दो विभाग करते है. वे श्रीमद्भगवद्गीता को मूलतः निवृत्तिशास्त्र का ग्रन्थ मानते हुए, उसके भाष्य की प्रस्तावना करते हैं. इस भाष्यपरिकल्प में मन्वादि शास्त्रों की गीतार्थ निर्धारण में अप्रासंगिकता, उसके मूलसंकल्प से ही प्राप्त है. किन्तु गीता में धर्म की अवधारणा, हिन्दूधर्म की भांति, इतनी व्यापक और बहुआयामी है कि उसे प्रवृत्ति (कर्म) और निवृत्ति (ज्ञान) के सरल, एक आयामी विभागों में संग्रहीत नहीं किया जा सकता. जैसे हिमालय के उत्तुंग शिखर से निकलती भागीरथी की पतली धार, प्रयाग पहुंच कर त्रेवेणी गंगा के विस्तार को ग्रहण करती है, उसी प्रकार सरल वैदिक धर्म, महाभारत काल तक आते आते, बहुआयामी हिन्दू आकार ग्रहण कर लेता है. महाभारत में इसकी पहचान सनातन धर्म के रूप में हुई है, जो सर्वसम्प्रदाय-सामान्य, आस्था के संघीय मूल्यों का संग्रह है. सनातनधर्म, आस्था के महाभारतीय विस्तार की, ओझिल होती सीमाओं का, उसकी मूल प्रतिबद्धताओं का एक तर्कपूर्ण संग्रह है. किन्तु यह केवल एक संग्रह है, विचार-परिकल्प नहीं, जो इस विस्तार के स्वरूप में अन्तर्दृष्टि दे सके, उसके एकात्मक स्वरूप की समझ का आधार बन सके. यह अपेक्षित परिकल्प हमें मिलता है, मनुस्मृति में. आचार्य शङ्कर ने, धर्म के प्रवृत्ति-निवृत्ति मूलक वैदिक अर्थों का संग्रह करते हुए, जो गीता व्याख्यान का परिकल्प प्रस्तुत किया, वह गीता की समझ के लिए उसी तरह अपर्याप्त था, जिस तरह, आर्यसमाजी चिन्तन, हिन्दूधर्म की समझ के लिए अपर्याप्त है. मनु की धर्म की अवधारणा, हिन्दू-वास्तविकता के अधिक निकट है, और, जैसा कि नीचे दिए विवरण से स्पष्ट है, गीता धर्म, तदाश्रित हिन्दूधर्म, के वस्तुनिष्ठ अध्ययन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त परिकल्प है.

संसार के प्रमुख धर्मों की भांति, हिन्दुओं के अधिकांश सम्प्रदाय धर्म को नित्यपरोक्ष तथा पुस्तकीय विधान का विषय मानते हैं. इनमें मीमांसक प्रमुख हैं. किन्तु धर्मशास्त्र के प्रणेता, भगवान् मनु ने धर्म के उपपादक प्रमाण के रूप में वेद के साथ स्मृति, सदाचार, तथा अन्तरात्मा के अनुमोदन को भी मान्यता दी, जो आगे चलकर धर्म की समझ में क्रान्तिकारी परिवर्तन का आधार बनी **(वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः, एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्. म. स्मृ. २.१२).** यतः मनु की व्यवस्था में शास्त्र (श्रुति, स्मृति) आस्था का ऐकान्तिक नियामक नहीं है, अतः उसका विधान प्रश्नविहीन, अविचारित अनुपालन का अधिकारी नहीं हो सकता. शास्त्र का विधान निरपेक्ष नहीं है; स्मृति, अर्थात् तर्कसंगत व्याख्यान, परम्परा, तथा वैयक्तिक विवेक के प्रति उत्तरदायी होते हुए ही शास्त्र की मर्यादा, आस्था का विषय बनती है, और धर्मरूप में स्वीकार्य होती है. यह कहा जा सकता है कि मनु द्वारा कहे गए वेदेतर धर्म स्रोत, केवल वेदाविरुद्ध रूप में ही, स्वीकार्य हो सकते हैं. स्मृत्यादि की वेदविरुद्ध व्यवस्थाओं को स्वीकार नहीं किया जा सकता. हो सकता है बात सही हो, लेकिन इससे मनु के चिन्तन की, धर्मदर्शन की दृष्टि से व्यापक, क्रान्तिकारी सम्भावनाएं कम नहीं हो जातीं. कारण स्पष्ट हैं; पहली बात तो यह कि वेदाविरुद्ध का दायरा, जिसके अन्तर्गत धर्मशास्त्रों (स्मृति) से लेकर, इतिहास (रामायण, महाभारत) तथा अष्टादश पुराणपर्यन्त, परम्परा के वेदभिन्न शास्त्र संकलित हैं, इतना व्यापक है कि व्यवहार में वह वेद के समानान्तर एक ऐसे शास्त्रतंत्र को मान्यता देता है, जो वेद के शासन को समाप्त तो नहीं करता, किन्तु बहुत हद तक दुर्बल अवश्य कर देता है. दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है कि मनु की व्यवस्था में अन्तरात्मा के अनुमोदन (स्वस्य च प्रियमात्मनः) की मान्यता, वैयक्तिक विवेक को आस्था के निर्धारण में एक ऐसी निर्णायक हैसियत दे देती है, जिसे, मानवाधिकार और वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की राजनैतिक अवधारणा की सार्वभौमिक मान्यता के वाबजूद, हिन्दू अपवाद को छोड़कर, आज भी आस्था के धरातल पर कोई भी धर्म स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं. मनु द्वारा प्रस्तुत, धर्म की व्यापक परिकल्पना, न केवल गीताधर्म का अपितु बुद्धधर्म सहित अनगिनत वैमत्य-मूलक-सम्प्रदायों का पूर्वकल्पित तार्किक आधार है. धर्म की मनुवादी अवधारणा के बिना इनकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं थी.

मनु को आज वर्णव्यवस्था के व्यवस्थापक के रूप में अक्सर तीखी आलोचनाओं के लिए ही याद किया जाता है, जो आज के संदर्भों में सर्वथा अप्रत्याशित न होते हुए भी किसी

भी तरह से वस्तुनिष्ठ समीक्षा की कोटि में नहीं आतीं. बाबासाहब अम्बेडकर का तथाकथित 'मनुवाद' के विरुद्ध प्रतिक्रियामूलक चिन्तन न हुआ होता, तो सामान्य हिन्दूमानस मनु को भुला चुका होता. बाबा साहब ने, मनु को पूर्वपक्षरूपेण ही सही, वैचारिक परिदृश्य के केन्द्र में पुनः स्थापित किया. इसके लिए हिन्दूसमाज को इनका आभारी होना चाहिए. बौद्धधर्म सहित, अनेक सम्प्रदाय जिनमें से कुछ का आज केवल नाम बाकी है, सदियों तक अपने परमशत्रु सम्प्रदायों के ग्रन्थगर्भो में पलते रहे, पूर्वपक्षरूप में सांस लेते रहे, और समय आने पर पुनरुज्जीवित हो उठे. अम्बेडकर के नफरत के पंथ के खण्डहरों पर 'प्रादुर्भूयान् नवो मनुः' यह स्वप्न साकार होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं. कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस प्रतिक्रियामूलक, विकृत-जातिवाद को बाबासाहब का चिन्तन अनजाने ही जन्म दे गया है, उसकी तुलना में, समीक्षार्ह होते हुए भी, मनु की वर्णव्यवस्था कहीं अधिक न्यायपूर्ण और संतुलित प्रतीत होती है. वस्तुतः मनु के योगदान को समझने के लिए बाबासाहब को बौद्ध होने की बजाय मुसलमान होकर देखना चाहिए था; और फिर, जिस शैली में उन्होंने हिन्दू-आस्था के परम आलम्बन राम और कृष्ण के चरित्रों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है, उसी शैली में यदि वे इस्लाम और उसके संदेश का भी विश्लेषण करते, तो संसार को उनके वैचारिक साहस का, और उन्हें मनु के महत्त्व का एक साथ परिचय मिल जाता. हिन्दुओं ने यदि किसी **महात्माबुद्ध** को वैदिक धर्म के प्रति उसकी अश्रद्धा के लिए सूली पर नहीं चढ़ाया, यज्ञ धर्म का उपहास उड़ाने के लिए, किसी अर्हत को संगसार नहीं किया, किसी गैलिलियो को इसलिए प्रताड़ित नहीं किया, क्योंकि उसके अनुसंधान धर्मग्रन्थों की शिक्षा के प्रतिकूल थे, किसी अम्बेडकर के विरुद्ध, आस्थालंबनों के अश्रद्धेय विश्लेषण के लिए, मौत का फतवा जारी नहीं किया, तो इसका कारण था मनु का वैमत्यसहिष्णु धर्मदर्शन. मनु से इस देश को धर्म की एक ऐसी अवधारणा प्राप्त हुई है, जिसमें वैमत्य के अधिकार को आस्था के ही धरातल पर प्रतिष्ठित किया गया था. आज के भारत की धर्मनिरपेक्षी राजनीति की अल्पसंख्यकाधिकार जैसी मान्यता से, इसके अन्तर को, स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए. अल्पसंख्यकाधिकारों की साम्प्रतिक अवधारणा में, अल्पसंख्यकरूप में मान्यता प्राप्त धार्मिक समूहों के अधिकार तो सुनिश्चित किए गए हैं, किन्तु अल्पसंख्यकों के भीतर जो अल्पसंख्यक हैं, या उनमें जो वैयक्तिक वैमत्य के उदाहरण हैं, जिन्हें अल्पसंख्यकों के भीतर अल्पसंख्यकतम कहा जा सकता है, उनके अधिकारों की न कोई मान्यता है, और न उनकी रक्षा की कोई संवैधानिक प्रतिबद्धता. सल्मान रश्दी जैसे इस्लाम पर

अप्रतिबद्धचिन्तन करने वालों का वैचारिक स्वतंत्रता का अधिकार, सर्वोपसंहारी अल्पसंख्यकाधिकारों से व्याहत है. अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार हो, या नारी स्वतंत्रता व समानता के अधिकार, इन्हें अल्पसंख्यक घेरे में बंद व्यक्ति तक पहुंचने की अनुमति नहीं है. अल्पसंख्यकाधिकारों की यह असंतुलित एवं स्पष्टतया अन्यायपूर्ण मान्यता न केवल समस्त मानववादी, जनतांत्रिक मूल्यों के विरुद्ध है, अपितु धर्म की एक समूहपर्यवसायी, संकुचित एवं एकांगी समझ पर आधारित है. धर्म की एक इकाई समूह हो सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं. किन्तु समूह, धर्म की एक मात्र इकाई नहीं हो सकता. धर्म, धर्म के भीतर सम्प्रदाय, सम्प्रदायों के भीतर पंथ, पंथ के भीतर आस्था की वैयक्तिक समझ और परम्परागत से वैमत्य के वैयक्तिक दायरे, जो कालान्तर में सम्प्रदाय अथवा पंथ का रूप ले सकते हैं – यह सभी आस्था की प्रामाणिक इकाइयां हैं, जिनके बीच विरोध प्राप्त होने पर, सहभाग और समन्वय के आधारों की तलाश तो हो सकती है, किन्तु इन में से किसी भी इकाई के उच्छेद का, उसके होने के अधिकार के निषेध का अनुमोदन नहीं किया जा सकता. आस्था के धरातल पर वैमत्य और वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की स्थापना, आस्था की प्रामाणिक इकाई के रूप में व्यक्ति की मान्यता, यह धर्मदर्शन के क्षेत्र में मनु का अप्रतिम योगदान था, जिसके बिना, मानवाधिकार अथवा नागरिक अधिकारों की संवैधानिक व्यवस्थाएं आज भी अधूरी और अप्रभावी हैं, और तब तक अप्रभावी रहेंगी, जब तक कि धर्मसमूह, व्यक्ति के वैमत्य के अधिकार को, आस्था के भीतर अपनी आस्था को परिभाषित करने के अधिकार को, मान्यता नहीं दे देते.

उक्त विवरण का यह तात्पर्य नहीं है, कि मनु का विधान सर्वथा दोषरहित था, या आज के संदर्भों में जो मनु की आलोचनाएं हो रही हैं वे सर्वथा निराधार हैं. सभी विधान देशकालसापेक्ष होते हैं, और इस दृष्टि से, प्रत्येक युग में उनकी प्रासंगिकता का आकलन,और तदनुसार पुनर्व्याख्यान एक प्रबुद्ध समाज की पहचान है. हमारा कथ्य तो केवल इतना है कि भगवान् मनु ने व्यक्तिक्षेत्र को मान्यता देते हुए, देश-काल एवं व्यक्तिसापेक्ष, धर्म की जो गत्यात्मक अवधारणा प्रस्तुत की है, वह सदियों से चले आ रहे, धार्मिक एवं समाजिक सुधार के आन्दोलनों का हेतु भी है, और उनका औचित्य भी; भारतीय समाज में धर्मनिरपेक्ष, जनतांत्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की मनोभूमि भी, और अपने भीतर पनपते धर्माभासों तथा आयातित धर्मों की इतरधर्मोच्छेदक एवं प्रसारवादी गतिविधियों के सामने इसकी असहायता का कारण भी. **'जयेद्धर्ममवेक्षया'** (धर्म को विवेक से जीते), महाभारत (१२.२६६.९) का यह धर्मसूत्र, मनु के **'स्वस्य च प्रियमात्मनः'** का ही रूपान्तर

है, जिससे दिशा ज्ञान प्राप्त करके, गीता और महाभारत के धर्मचिन्तन का विकास हुआ है. याद रहे, महाभारतकार के सामने, धर्मचिन्तन के लिए, न केवल विविधताओं से भरा और पूरी तरह से विकसित, एक समृद्ध साम्प्रदायिक परिदृश्य था, अपितु इसे समझने के लिए धर्म की वैदिक और अवैदिक, ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी, अनेक अवधारणाएं भी उपलब्ध थीं. इस समृद्ध परिदृश्य को समझने के लिए मनु का कोई विकल्प नहीं था, क्योंकि इसके द्वारा आस्था में वैयक्तिक विवेक की मान्यता, न केवल भारत के धर्मेतिहास में सम्प्रदायबहुत्व का विवरणसूत्र है, अपितु महाभारत में सनातनधर्म (कालान्तर में हिन्दू) नाम से कल्पित आस्थासंघ में उनके संग्रह के लिए लघुतम सैद्धान्तिक परिकल्प भी है. इसमें संदेह नहीं कि महाभारत का धर्मचिन्तन, मनु के धर्मनिर्णय की उदार सम्भावनाओं का तार्किक अनुसंधान है, जब कि श्रीमद्भगवद्गीता इस अनुसंधान का परिणत फल.

मनु के प्राकरणिक महत्त्व को समझने के लिए, हमें धर्मदर्शन के कुछ मूलभूत संदर्भों पर, यथा — धार्मिक आस्था के स्वरूप, उसकी मूलमान्यताएं, और उनमें अन्तर्निहित सैद्धान्तिक समस्याओं पर शुरू से विचार करना आवश्यक है.

५. **विश्वासो हि खलु ज्ञानस्याविनाभावी धर्मः। तथा हि ज्ञानम्, ज्ञातृज्ञेययोः स्वात्मनश्च भावरूपपुष्ट्या सहैव जायते, तद्विना व्यवहारस्यानुपपन्नत्वात्। अन्तर्निहितमूलविश्वासस्यैव समर्थननिराकरणसम्बन्धेन प्रमाऽप्रमारूपेण द्विप्रकारकं तद्। पुनः प्रमायाः विभागद्वयमनुभवशब्देति प्रमाणाश्रितम्। अनुभवशब्दजन्ययोः ज्ञानयोः प्रमासामान्यविश्वासः ज्ञानस्य क्रमशः विज्ञानधर्मरूपयोः पर्यवसतीति। वैज्ञानिकविश्वासस्य आनुभविकं परीक्षणं भवितुं शक्यते यथा, न तथा धार्मिकविश्वासस्य, शास्त्रप्रतिपादितस्याननुभूताऽर्थस्य भावरूपालम्बनत्वात्तस्य।**

५.१ **शब्दप्रमाणलब्धपरोक्ष एव आस्थायाः सार्थकः विनियोगः भवितुं शक्यते, प्रत्यक्षादि प्रमाणलब्धे तु आस्था(विश्वास)-विषयस्य सिद्धत्वात्। सत्यपरोक्षे निराकाङ्क्षे, आस्थाविनियोगयोग्यस्य परोक्षस्य तु सन्देहगर्भितत्त्वात्, अपरोक्षानुभवसाकांक्षत्वाच्च, अनुपपन्ना धार्मिकास्था। इयं विरुद्धार्थग्रन्थिः (पैराडाक्स) धर्मदर्शनस्याधारभूता समस्या, यस्याः समाधानमपेक्षते अनुभवधर्मयोः सम्बन्धस्य विवेचनमाधारभूतम्। अतो शास्त्रबुद्ध्यनुसारं निरपेक्षसापेक्षशास्त्रवादीति धर्माणां द्वौ विभागौ।**

५. आस्था का प्रमाणशास्त्रीय स्वरूप : तन्निष्ठ विरुद्धार्थग्रन्थि :

विश्वास ज्ञानमात्र का अविनाभावी धर्म है. प्रत्येक ज्ञान अपने संवित् स्वरूप तथा ज्ञाता और ज्ञेय की भावरूपा पुष्टि के साथ पैदा होता है. इस भावरूपा प्राथमिक पुष्टि को स्वीकार किए बिना ज्ञान के व्यवहार — प्रामाणिकता का अनुसंधान, अर्थप्रवृत्ति और आध्यात्म — को समझा नहीं जा सकता, क्योंकि किसी प्रस्ताव की आधाररूपा प्राथमिक स्वीकृति के बिना व्यवहार में प्रवृत्ति नहीं बनती. यह ज्ञान प्रमा और अप्रमाणरूप से दो प्रकार का होता है; ज्ञान का अविसंवादी व्यवहार (अर्थक्रियाकारित्व) उसके प्रामाणिक स्वरूप को बताता है, जिसका तात्पर्य है, ज्ञान में अन्तर्निहित मूल विश्वास की पुष्टि, जबकि उसका विसंवादी व्यवहार उसकी अप्रामाणिकता का निदर्शन कराते हुए उसके साथ आए मूल विश्वास का निराकरण करता है. पुनः इस प्रामाणिक ज्ञान को ज्ञेय पदार्थों के आधार पर अनुभवगम्य और शब्दगम्य, इन दो भागों में बांटा जासकता है. जिन पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होता है, वे अनुभव गम्य हैं, और जिनका ज्ञान शास्त्र के द्वारा होता है वे शब्द गम्य. इस प्रकार अनुभव और शब्द, ये प्रमाण की दो कोटियां बनती हैं. प्रथम कोटि के अन्तर्गत प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षमूलक प्रमाण, अनुमान, उपमानादि आते हैं, जब कि शास्त्र अर्थात् विभिन्न धर्मों के आकर ग्रन्थ, द्वितीय कोटि में आते हैं. जैसा कि प्रारम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है, विश्वास ज्ञान मात्र का अविनाभावी धर्म है, जो उसके समस्त निरूपणों में सहज प्राप्त है. अनुभव-मूलक प्रामाणिक ज्ञान में बैठा यह विश्वास विज्ञान कहलाता है, शास्त्रमूलक प्रामाणिक ज्ञान में बैठे विश्वास का नाम धर्म (आस्था) है. यह आस्था, शास्त्र-प्रतिपादित, अननुभूत अर्थ का भावरूप आलंबन है.

यहां आस्था के स्वरूप में अन्तर्निहित एक विरोधाभास पर दृष्टि डालना उपयोगी रहेगा. आस्था का आद्योपदेश परोक्ष ही हो सकता है, क्योंकि जो सामने है, प्रत्यक्ष है, अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्राप्त है, उसमें तो आस्था (विश्वास) सिद्ध है, इसके लिए किसी गवाह की, किसी ग्रन्थ की, किसी विश्वस्त मार्गदर्शक की आवश्यकता है ही नहीं है. आस्था के सार्थक विनियोग की सम्भावना उसी में बनती है जो परोक्ष है. किन्तु परोक्ष अर्थ का ज्ञान, आप्तोपदेशरूप शब्दप्रमाण से प्राप्त हो तब भी, कभी पूरी तरह संदेहमुक्त नहीं हो सकता. उसमें पनपते संदेहबीज, समय समय पर आस्था को उसके आधारों में अव्यवस्थित करते रहते हैं. अपने सिद्धस्वरूप में, अपरोक्ष

को आस्था के सहारे की आवश्यकता नहीं हो सकती, और परोक्ष जहां आस्था का सार्थक विनियोग सम्भव है, संदेहगर्भित होने से, कभी आस्था का स्थाई विश्वसनीय आधार नहीं हो सकता. यह विरुद्धार्थग्रन्थि (पैराडाक्स) धर्मदर्शन की आधारभूत समस्या है, जिसका उन्मोचन आस्था और संदेह के बीच सम्बन्ध को परिभाषित करके किया जा सकता है. यह परिभाषा, पर्युदास और संग्रह, इन दो रूपों में सम्भव है. शास्त्रलब्ध परोक्षअर्थ में अनुभव विरोध की स्थिति में, आस्था की रक्षा या तो शास्त्र और अनुभव को अन्योन्यव्यतिरेकी मानते हुए, शास्त्र में अर्थतः प्राप्त, अनुभव की स्वीकार्यता के निषेध के द्वारा हो सकती है, या फिर शास्त्रलब्ध में अनुभव के संग्रह के द्वारा, जिसमें विरोध का परिहार, अनुभव के पुनर्निरीक्षण अथवा शास्त्र के पुनर्व्याख्यान के द्वारा किया जाता है. इससे आस्था की दो सर्वथा भिन्न अवधारणाओं की प्राप्ति होती है : एक है शुद्ध परोक्षधर्मी आस्था, दूसरी है सानुभवपरोक्षधर्मी आस्था. शुद्ध परोक्षधर्मी आस्था, शास्त्रों में, जो अपौरुषेय होने अथवा सर्वज्ञपुरुष से प्राप्त होने के कारण, स्वतः प्रमाण हैं, किसी प्रकार के संदेह की, तन्मूलक अनुसंधान और परिष्कार की अनुमति नहीं देती. एक मनोवैज्ञानिक घटनारूप में जहां शास्त्र में संदेह प्राप्त हो, वहां उसका समाधान नहीं बल्कि बलात् उच्छेद, संवाद नहीं बल्कि संदेहकर्ता का बलपूर्वक निरसन ही परोक्षधर्मी आस्था का प्रमाणिक व्यवहार है. इससे भिन्न, सानुभव-परोक्षधर्मी आस्था, शास्त्रलब्ध अर्थ के निर्धारण में, अनुभव और वैयक्तिक विवेक की भूमिका को मान्यता देती है. इससे जहां आस्था को एक गत्यात्मक आयाम मिलता है, वहीं उसका भावमूल अपेक्षाकृत दुर्बल और संदेहसंक्रमित हो जाता है. हम इन विषयों पर, जो गीता धर्म के विशिष्ट स्वरूप को समझने में सहायक हो सकते हैं, थोड़ा विस्तार से विचार करेंगे.

५.१ शास्त्र (शब्द) प्रमाण : उसकी निरपेक्ष और सापेक्ष स्वीकृतियों पर आधारित आस्था की दो भिन्न अवधारणाएं –

धर्म में प्रमाण है आप्तोपदेशरूप शब्द, जिसमें 'आप्त अर्थात् विश्वसनीय पुरुष द्वारा दिया गया उपदेश' तथा 'धर्मग्रन्थादिरूप विश्वसनीय उपदेश' दोनों ही अर्थों का युगपत् अथवा अलग अलग ग्रहण सम्भव है. इस प्रकार 'आप्तोपदेशत्व' परोक्षधर्म का लक्षण भी है और परोक्षत्व का अनुमापक प्रमाण भी. आप्तोपदेशनिरूपित यह परोक्षनिष्ठा अधिसंख्य सम्प्रदायों का तार्किक-आरम्भ बिन्दु है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता. यहां महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यथोक्त

परोक्षनिष्ठा, आस्था का चिरन्तन, तात्त्विक स्वरूप है, अथवा उसका एक अनन्यगतिक, व्यावहारिक परिकल्प, जो अन्यान्य परिकल्पों की भांति तर्क और अनुभव के द्वारा पुष्टि, परिष्कार, और प्रत्याख्यान के लिए खुला है. आप्तोपदेश-जनित परोक्षज्ञान से भिन्न आस्था की कोई अन्य निष्ठा सम्भव नहीं है, यह एक पक्ष है; आप्तोपदेश से भिन्न, तर्क, परम्परा, स्वविवेकादि भी, स्वतंत्र अथवा आप्तोपदेश के सहायक रूप में, आस्था के आधार हो सकते हैं, यह दूसरा पक्ष है. प्रथम पक्ष मीमांसकों का है, द्वितीय पक्ष का अधिकृत निर्वचन मनुस्मृति में हुआ है, जिसका समर्थन वेदान्त तथा बौद्ध चिन्तन के अनुभववादी मूल्यविश्लेषण में देखा जा सकता है. आधुनिक सन्दर्भों में परोक्षनिष्ठा को आस्था का तात्त्विक स्वरूप मानने वालों में यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम धर्म मुख्य हैं. हिन्दूआस्थासंघ के सिख, आर्यसमाज प्रभृति सम्प्रदाय भी इसी कोटि में आते हैं. जब कि स्वयं हिन्दूधर्म, और यदि इसे हिन्दूधर्म से भिन्न माना जा सकता है तो बौद्धधर्म, आस्था की परोक्षनिष्ठा को, जिसे शास्त्रनिष्ठा भी कह सकते हैं, एक व्यावहारिक आरम्भबिन्दु, केवल एक कामचलाऊ परिकल्प के रूप में ही मान्यता देते हैं. दोनों पक्ष आस्था की निगमनात्मक (डिडक्टिव) तथा विगमनात्मक (इन्डक्टिव) अवधारणाओं का, शब्दप्रमाण की अनुभव के सम्बन्ध से निरपेक्ष और सापेक्ष अवधारणाओं का निदर्शन कराते हैं.

६. यच्छास्त्रोपदिष्टं तदेव धर्मस्य तात्त्विकं स्वरूपम्, शास्त्रेतरप्रमाण निरपेक्षत्वाद्धर्मस्येति निरपेक्षशास्त्रवादिनः। तेषां मते अनुभव-शास्त्रयोर्भेदस्त्वाधारभूतः, अतः तज्जन्यलौकिक-धार्मिकज्ञाने भजेते सर्वथा भिन्ने कोटी अन्योन्यव्यतिरेकिण्यौ अतोऽश्रद्धेयं तयोस्सांकर्यम्, निरवकाशत्वात्, सर्वज्ञसर्वशक्तिमतः लब्धानवद्यज्ञानराशौ दोषग्रस्तमानवीयानुभव-नियामकत्वरूपानभीष्टप्रसक्तित्वात्। साम्प्रदायिकाः मीमांसकादयः, जूडाखिस्तानेस्लाम-प्रभृति धर्माः निरपेक्षशास्त्रवादिदृष्टेः निकटनिदर्शनाः।

६.१ अनुपपन्नः यथोक्तनिरपेक्षशास्त्रवादः परस्परविरोधिनां बहूनां शास्त्राणां सद्भावे शास्त्रपार्यन्तिकत्वस्य विचारासहत्वात्, धर्माचारशास्त्रेतिहासस्यापर्याप्तसंज्ञानजन्य-त्वान्मानवीयसन्दर्भनिरपेक्षत्वात्, साम्प्रदायिकोन्मादस्यासहिष्णुतायाः प्रभवस्यास्या-व्यावहारिकत्वाच्च।

६.२ तन्निष्ठपैगम्बरवादोऽपि समूहसम्बोधनपरत्वाद, व्यक्तिनिरपेक्षः, तात्त्विकसार्वभौमिकार्थ-व्यतिरिक्तः, आतंकहेतुकत्वान्मानवीयगरिमविरुद्धत्वात्समस्तसभ्याचारविप्रतिषिद्धः सर्वथा

अश्रद्धेय एव।

६.३ शास्त्रबहुत्वं जिज्ञासा च मानवीयेति द्वे परिपन्थिन्यौ निरपेक्षशास्त्रनिष्ठायाः, तत्र बाह्यान्तरिकभेदापादकत्वात्। वस्तुस्थितिलब्धतादृशभेदनिराकरणाधीना निरपेक्षशास्त्र-निष्ठासिद्धिः आक्षिपति भेदप्रतियोगिनिराकरणपरं व्यवहारम्। अनन्यतालाभाय, मननव्यापारभूतं पर्युदासं साधनरूपेण स्वीकुर्वन्ति हिन्दुसाम्प्रदायिकाः 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति। किन्त्वस्मिन् विवेकेऽशिक्षिताः पैगम्बरीयाः वैमत्यस्य बलपूर्वकं छलपूर्वकं वा निरसनमेव मन्यन्ते अनन्याश्रयसिद्धिपन्था इति, धर्मसाधनरूपेण प्रतिष्ठापयन्ति बर्बराचारं समस्तसभ्याचारविप्रतिषिद्धम्।

६.४ सोपाधिकं योरुपीयं मानववादिधर्मालोचनम्, मूल्यचिन्तनमपि, अस्य पैगम्बरवादिधर्माणां प्रतिक्रियाप्रभवत्वात्। जातीयसम्बोधनपरत्वात्, शास्त्रानुभवसंग्रहस्य सैद्धान्तिकाधार-विरहितत्त्वाच्चैकाङ्गिदृष्टिविकलाः पैगम्बरीयाः मानववादिपन्थानश्चापर्याप्तजीवनादर्शाः इत्यालोचनाविषयः।

६. निरपेक्षशास्त्रवाद, इसके भेद : अपौरुषेयशास्त्रवाद तथा पौरुषेयशास्त्रवाद

निरपेक्ष शास्त्रवाद का मानना है कि अनुभव और शास्त्र दो सर्वथा भिन्न, अन्योन्यव्यतिरेकी तार्किक कोटियां है, जिनके बीच किसी प्रकार के सांकर्य की अनुमति नहीं दी जा सकती. शास्त्र से प्राप्त ज्ञान में न तो अनुभव अथवा वैयक्तिक विवेक प्रमाण हैं, और न ही वे उसका निराकरण या परिष्कार कर सकते हैं, क्योंकि ऐसा करने का तात्पर्य होगा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान से प्राप्त अनवद्य ज्ञानराशि में सीमित तथा अनेक दोषग्रस्त मानवीय अनुभव का नियामकत्व स्वीकार करना, जो कि एक सर्वथा अनभीष्ट प्रसक्ति है, निरवकाश और औचित्यविहीन.

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शास्त्र बुद्धि के आधार पर हम सभी धर्मों का निरपेक्षशास्त्रवादी तथा सापेक्षशास्त्रवादी, इन दो कोटियों में वर्गीकरण कर सकते हैं. पुनः निरपेक्ष शास्त्रवाद के स्वतः और परतः प्रमाणभेद से दो कोटियां बनती हैं, पौरुषेय-शास्त्रवाद और अपौरुषेय-शास्त्रवाद. शास्त्र अर्थात्, शब्द की प्रामाणिकता में यदि किसी सर्वज्ञ पुरुष (ईश्वर) या उसके विश्वसनीय दूत (पैगम्बर) के साक्ष्य का नियामकत्व स्वीकार किया जाय तो उस सर्वज्ञ पुरुष और उसके दूत में प्रामाणिकता की सिद्धि कैसे होगी, यह प्रश्न अपरिहार्यरूप से सामने आता

है. सर्वज्ञपुरुष और उसके दूत की प्रामाणिकता किसी के अनुभव का विषय नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वज्ञ को तद्रूपेण जाननेवाला कोई सर्वज्ञ ही हो सकता है, और उसका अनुभव जो उसकी सर्वज्ञता है, साध्यकोटि में जाएगी, साधन कोटि में नहीं. इससे साध्य का केवल पुनराख्यान ही होगा, सिद्धि नहीं. यदि हम 'शब्द' अर्थात् शास्त्र को ही उसके कर्त्तारूप ईश्वर, उसकी सर्वज्ञता तथा उसके दूत की तद्रूपता में प्रमाण मानें तो अन्योन्याश्रय दोष होता है. अतः आस्था के लिए अन्ततः शास्त्र का स्वतः प्रामाण्य ही गति है. यही मीमांसकों के वेदापौरुषेयत्व के सिद्धान्त का निहितार्थ है. इसका सार यह है कि वेदरूप शब्दराशि स्वतः प्रमाण है; उसकी प्रामाणिकता को किसी पुरुष की गवाही पर आश्रित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस पुरुष की विश्वसनीयता चाहे वह शास्त्र के प्रणेतारूप में हो या उसके पुष्टिकर्ता साक्ष्य के रूप में — स्वयं शास्त्र के साक्ष्य पर आधारित है. इस मत के विरुद्ध पैगम्बरवादी धर्मों का, जिन्हें शास्त्र-पौरुषेयवाद का सर्वाधिक स्पष्ट उदाहरण कहा जा सकता है, कहना है कि शास्त्र के प्रणेता ईश्वर और उसके संदेशवाहक (पैगम्बर) की सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि शास्त्र की अवधारणा के विश्लेषण से उनकी अर्थतः प्राप्ति हो रही है. उपदेश होगा तो उसका कोई कर्त्ता भी होगा क्योंकि उपदेश एक कृति है. यतः उपदेश ज्ञानरूप है उसकी प्रामाणिकता का नियामक — कर्त्ता के साथ उसके सम्बन्ध का कोई साक्ष्य भी अवश्य ही होगा. इस प्रकार उपदेश (शास्त्र) अपने कर्त्ता ईश्वर तथा प्रमापक पैगम्बर का आक्षेप करते हुए ही प्रवृत्त होता है. इस व्यवस्था में सर्वज्ञ ईश्वर, उसका पैगाम (शास्त्र) तथा उसका लाने वाला विश्वसनीय संदेशवाहक, आस्था की एक सार्वभौमिक नैगमिक संरचना में परस्पर सम्बद्ध हैं. इस प्रकार ईश्वर, उसका संदेश (शास्त्र) तथा संदेशवाहक की नैगमिक त्रिपुटी पैगम्बरवादी धर्मचिन्तन का सार है. उनकी दृष्टि में यह धर्म का स्वरूप लक्षण है, उसका न्यूनतम तात्त्विक अभिज्ञान. आस्था के नैगमिक स्वरूप की स्पष्ट अवधारणा तथा इससे आस्था में अर्थतः प्राप्त, अनुभव तथा वैयक्तिकविवेकमूलक वृत्तियों के निषेध के प्रति सजग प्रतिबद्धता, पैगम्बरवाद को शुद्धशास्त्रवाद की पौरुषेय अवधारणा का सटीक उदाहरण बनाते हैं.

आस्था की अनुभवनिरपेक्षता, शुद्धशास्त्रवाद की पौरुषेय एवं अपौरुषेय, इन दोनों ही अवधारणाओं में सामान्यरूप से प्राप्त है. इस मूलमान्यता के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक औचित्य पर गम्भीरता से विचार होना चाहिए, क्योंकि यह मानव जाति के एक बड़े हिस्से के जीवनदर्शन की नियामक है.

६.१ निरपेक्षशास्त्रवाद :

निरपेक्ष-शास्त्रवाद का अर्थ है अपने धर्मग्रन्थ में ऐकान्तिक निष्ठा. किन्तु संसार में शास्त्रबहुत्व, उनकी बहुधा परस्पर विरोधी व्यवस्थाएं, एक वास्तविकता है. इतना ही नहीं, एक ही धर्मग्रन्थ में अन्तर्विरोध, अथवा उसके तात्पयार्थ के भिन्न-भिन्न व्याख्यान होते देखे जाते हैं. ऐसी स्थिति में, निष्ठा की ऐकान्तिकता का निर्वाह, इतर धर्मग्रन्थों के असंज्ञान से लेकर उनके निराकरण, तथा अपने धर्मग्रन्थ में आए अन्तर्विरोधों के परिहार हेतु, तर्क, अनुभव और विवेक के बहुआयामी विनियोग के बिना सम्भव नहीं है. किन्तु आस्था की प्रतिष्ठा में शास्त्रेतर साधनों का उक्त विनियोग, निरपेक्ष, शास्त्रवाद को अक्षत नहीं छोड़ता. यहां विचारणीय विषय यह है कि क्या शास्त्रजन्य ज्ञान सचमुच उतना अनुभव निरपेक्ष है, जैसा कि शास्त्रमात्रकवाद दावा करता है. शास्त्रमात्रकवाद के शास्त्रीय स्वरूप पर विचार करें तो कम से कम तीन स्तरों पर उसमें अनुभव के विनियोग को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है. शास्त्र, उपदेशरूप में, उपदिष्ट व्यक्ति के प्रति अननुभूत अर्थ का प्रतिपादन करता है, यह सही है, किन्तु उपदिष्ट पदार्थ, उपदेशकर्ता अवतारी पुरुष अथवा पैगम्बर के लिए अननुभूत नहीं हो सकता. वह जिस पदार्थ का उपदेश कर रहा है वह उसके अनुभव का विषय है. तात्पर्य यह कि शास्त्र का उद्‌गम किसी के अनुभव में ही होता है (जो शास्त्र को अपौरुषय मानते हैं, उनकी बात यहां नहीं कर रहे हैं). इस रूप में देखें तो उपदेश किसी के अनुभव का अनुवाद होता है, अतः उपदिष्ट व्यक्ति के प्रति अननुभूत अर्थ का ज्ञापक होते हुए भी, उसे सर्वथा अनुभव निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता. दूसरी बात यह कि सभी शास्त्र यह आश्वासन अपने साथ लेकर चलते हैं कि जिन स्वर्गादि अननुभूत अर्थों का वे उपदेश कर रहे हैं वे उपयुक्त समय पर आस्थावान् के अनुभव का विषय अवश्य बनेंगे. तीसरी और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रत्यक्ष की भांति, शास्त्र की प्रामाणिकता, साक्षात् और निरुपाधिक नहीं कही जा सकती. शास्त्र की प्रामाणिकता सोपाधिक है, यह कहने का आशय यह है कि शास्त्र तभी किसी व्यक्ति के प्रति प्रमाण बनता है, जब व्यक्ति उसे आस्थारूप में स्वीकार कर लेता है. शास्त्र की प्रामाणिकता वैयक्तिक स्वीकृति-सापेक्ष है. इतना ही नहीं विचार करके देखें, तो शब्द-प्रमाण भी अनुमानादि की भांति अनुभवापेक्षी हैं कारण कि व्यक्ति द्वारा शास्त्र की, तन्निष्ठ आस्था की स्वीकृति, उसके अपने संचित अनुभव के अनुमोदन पर निर्भर होती है. हम सामान्य स्थिति की बात कर रहे हैं, जहां धर्मान्तरण तलवार के बल पर किया जाता है, और

कठोर मजहबी कानूनों के द्वारा व्यक्ति को आस्था का बंधक बनाए रखा जाता है, वह एक असाधारण स्थिति है. हम सभ्य समाज के सामान्य व्यवहार की बात कर रहे हैं; उसमें व्यक्ति विशेष के लिए आस्था की स्वीकृति, उसके तत्कालीन अनुभवों के आधार पर होती है, और यही तथ्य उसके द्वारा, अपने अनुभवों के आधार पर आस्था के परीक्षण, परिष्कार और यहां तक कि परित्याग को जायज हैसियत देता है.

उक्त विवरण यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि शास्त्र और अनुभव का अन्तर उतना आधारभूत नहीं है जितना कि शास्त्रमात्रक दावा करते हैं. कोई भी परोक्ष ज्ञान, विषय तत्त्वजिज्ञासा हो या धर्मजिज्ञासा, उसे विश्वास के ठहराव के लिए एक आलंबन (प्रतिज्ञा) की आवश्यकता होती है ताकि उपदेश का आरम्भ हो सके, क्योंकि संदेहरूपा होने से, स्वयं जिज्ञासा इसका आधार नहीं बन सकती. जिज्ञास्य के अनुसार यह आलंबन, एक वैज्ञानिक परिकल्प भी हो सकता है और शास्त्र भी. किन्तु इतना तय है कि विश्वास के आलंबनरूप परोक्ष को स्वीकार किए बिना जिज्ञासा की कोई सार्थक प्रवृत्ति सम्भव नहीं है. साथ ही यह भी निश्चित है कि इस प्रकार स्वीकृत परोक्षालंबन एक व्यावहारिक परिकल्प है, जो मूल जिज्ञासा के प्रेरक संदेह और अपेक्षित उपलब्धि (ज्ञान) के बीच की एक साकांक्ष कड़ी है, जो अपने विश्वास की गठरी को, अपने स्वरूपानुसंधानप्रसक्त निकटतम कड़ी को सौंपने को आतुर है, ताकि जिज्ञासा-निमित्त-संदेह को ग्रहण कर सके, और इस प्रकार परोक्ष की साक्षात्कारात्मक अवगति पर्यन्त अनुसंधान प्रक्रिया सम्पन्न हो सके. यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि परोक्ष में अपने अपरोक्ष स्वरूप को देखने की सहज लालसा होती है. जिसने लंदन के बारे में केवल पढ़ा या सुना है, उसमें लंदन को देखकर अनुभव द्वारा परोक्षज्ञान की पुष्टि की आकांक्षा एक सामान्य बात है. परोक्ष आप्तकाम, या निराकांक्ष नहीं हो सकता. जिस क्षण कोई व्यक्ति आस्था में प्रवेश करता है, अर्थात् किसी आप्तपुरुष तथा उसके संदेश (पुस्तक) से प्राप्त परोक्ष अर्थ को अपनी आस्था का विषय बनाता है, उसी क्षण से उस आस्था में अपने अपरोक्ष, निर्विवाद स्वरूप का, अनुभव में अपने आधारों के अनुसंधान का कार्य भी प्रारम्भ हो जाता है. जैसा कि ऊपर दिए विवरण से स्पष्ट है, 'परोक्ष' संदेह और समाधान के बीच का परिकल्पित एक संक्रमबिन्दु(transit point) है, अतः इसके हर प्रस्ताव में, हर स्वीकृति में संदेह की गुंजाइश बनी रहती है. निशानियों या चमत्कारों को कितने भी जोर शोर के साथ क्यों न कहा जाय, कितनी भी कसमों के साथ उनके निहितार्थ की घोषणा

क्यों न की जाय, वे संदेहभूमि की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करते. स्पष्ट है कि परोक्ष (शास्त्र) में निरुपाधिक प्रामाणिकता सम्भव नहीं है. उसकी स्वीकृति केवल तभी तक के लिए है जब तक कि समस्त संदेहों का उच्छेद करने वाला साक्षात्कारात्मक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, या तब तक, जब तक कि व्यक्ति की अन्तरात्मा आस्था को लेकर उठते संदेह और सवालों को बर्दाश्त करने की सामर्थ्य रखती है. वस्तुतः दोनों विकल्पों में कोई खास अन्तर नहीं है. धर्म के शास्त्रीय, संस्थागत स्वरूप को लेकर उठते अनवरत प्रश्नों का झंझावात, शास्त्रीय व्यवस्थाओं की अप्रायोजकता का बढता एहसास, अपने अस्तित्व की वास्तविक चुनौतियों के प्रति शास्त्रों की अप्रासंगिकता की चेतना, और फिर विवशता का यह एहसास कि इस सब के वाबजूद शास्त्र की व्यवस्था के बाहर जाकर कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता, व्यक्ति में जिस अस्तित्त्व की त्रासदी को जन्म देते हैं, वह नास्तिकता को जन्म दे सकती है, जैसा कि मुख्यतया योरुप में हुआ, किन्तु यही त्रासदी, आस्था के एक नए आयाम, अपरोक्ष धर्मावगति के अवतरण का आधार भी बन सकती है, जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन के उदाहरण से स्पष्ट है. यह फलवैषम्य आस्था की पूर्वोक्त दो अवधारणाओं के व्यावहारिक अंतर को स्पष्ट करता है. जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पैगम्बरवाद, निरपेक्षशास्त्रवाद के व्यवहार का सटीक निदर्शन है, और इस रूप में इस पर विचार के बिना वर्तमान समीक्षा पूरी नहीं हो सकती.

६.२ पैगम्बरवाद-परीक्षण :

यतः संसार के कुछ प्रमुख धर्म — यहूदी, ईसाई और इस्लाम — पैगम्बरवादी धर्म हैं, नैगमिक-त्रिपुटि रूप में उनकी धर्म की अवधारणा गम्भीर विचार के योग्य है. बात अपनी जगह पर बिल्कुल सही है कि 'ईश्वर' उसके 'दूत' तथा उसके 'संदेश' की परिकल्पनाएं परस्पर साकांक्ष और अन्तःसम्बद्ध हैं; इस रूप में देखा जाय तो वे एक नैगमिक-त्रिपुटि का निर्माण करती हैं. इन्हें अन्तःसम्बद्ध मानने का वैचारिक दृष्टि में लाभ यह होगा कि इनमें से यदि एक भी सत्य है तो बाकी दो परिकल्पनाओं की प्राप्ति (सिद्धि) उस एक के अर्थ विश्लेषण से ही हो जाएगी. तथ्यरूप में जो पैगम्बरवादी के सामने उपलब्ध है, वह है धर्मग्रन्थरूप शब्दराशि. यह धर्मग्रन्थ एक कृति है यदि यह मान भी लिया जाय, (जिसके मानने की मीमांसकों की दृष्टि में कोई बाध्यता नहीं है) तो कृतित्त्व हेतु से कर्तृत्व की सिद्धि तो होती है किन्तु सर्वज्ञत्वविशिष्ट कर्तृत्व की सिद्धि

नहीं होती. अर्थात् विचारापन्न ग्रन्थ एक कृति है, इससे उसके कर्त्ता का तो अनुमान हो सकता है, किन्तु यह कर्त्ता कोई सर्वज्ञ पुरुष (ईश्वर) है, ऐसा अनुमान नहीं बनता. इसी प्रकार ग्रन्थरूप शब्दराशि में कृतित्व की उपपत्ति से उसमें जन्यत्व, कार्यत्व, भङ्गुरत्वादि धर्मों की सिद्धि तो हो सकती है, किन्तु उसके 'दिव्य-संदेशत्व' की सिद्धि नहीं होती. अमुक ग्रन्थ कृति है, इस निश्चय से यह निश्चित नहीं होता कि यह एक 'ईश्वरीय संदेश" है. यहां यह पूछा जा सकता है कि आखिर इस व्यर्थ के वितण्डा का प्रयोजन क्या है? पैगम्बरवाद की स्थिति इस मामले में बहुत साफ है. उसका मानना है कि जब हम कहते हैं कि ''विवेच्यग्रन्थ एक संदेश है, जिसे ईश्वर ने अपने चुने हुए दूत द्वारा धरती पर भेजा है" तब हमें यह ज्ञान ग्रन्थ में अर्थतः प्राप्त कृतित्त्व के पदार्थ विश्लेषण से भले ही न प्राप्त हो रहा हो, ग्रन्थ की कलेवरांशभूत शब्दराशि से तो प्राप्त हो रहा है. फिर इसमें समस्या क्या है ?

समस्या तो थी, लेकिन अब समाधान हो गया. हम पैगम्बरवादी के मुंह से यही तो सुनना चाहते थे. जब ईश्वर और उसके पैगम्बर की सिद्धि, यहां तक कि ग्रन्थ की संदेशरूपता की सिद्धि भी शब्द (धर्मग्रन्थ) के आधीन है, तो फिर स्वयं ग्रन्थ की प्रामाणिकता की सिद्धि में इनके साक्ष्य को कैसे स्वीकार किया जा सकता है. अन्योन्याश्रय दोष की स्पष्ट प्रसक्ति के कारण ईश्वर और उसके पैगम्बर की गवाहियां धर्मग्रन्थ में न तो कोई वैशिष्ट्य उत्पन्न कर सकती हैं, और न ही उसकी प्रामाणिकता अथवा अतिरिक्त प्रामाणिकता के उपपादन में साधक रूपेण स्वीकार्य ही हो सकती हैं. जिन पदार्थों की सिद्धि स्वयं शब्द (शास्त्र) के आधीन है वे शब्द (शास्त्र) की प्रामाणिकता के साधक कैसे हो सकते हैं.

यहां यह याद दिलाना आवश्यक है कि हमने पैगम्बरवाद को निरपेक्षशास्त्रवाद की कोटि में रखा है. इसका कारण यह है कि पैगम्बरवाद, शास्त्रलब्ध अर्थ (वस्तु) में वैयक्तिक विवेक और अनुभव की भूमिका को स्वीकार नहीं करता, अथवा यों कह सकते हैं, कि शास्त्रसमर्थक सहकारी भूमिका के अतिरिक्त विवेक और अनुभव की किसी अन्य भूमिका को मान्यता नहीं देता. अपने इस रूप में, निरपेक्षशास्त्रवाद आगे किसी सवाल जवाब की गुंजाइश नहीं छोड़ता. लेकिन समस्या तब पैदा होती है जब इस साफ सुथरे अर्थ में निरपेक्षशास्त्रवाद को स्वीकार करने के बाद भी, पैगम्बरवादी, शास्त्र (किताब) की प्रामाणिकता के सवाल की अनुमति दे देते हैं (जो नहीं

दी जानी चाहिए थी), और शास्त्र में प्रमाणरूप 'गवाह' की परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं. स्मरण रहे भारतीय अवधारणा से यह क्वचिद् भिन्न है. 'ईश्वर है उद्‌गम जिनका' अथवा जो 'ईश्वर विषयक ज्ञान का उद्‌गम है' यह 'शास्त्रयोनित्वात्' इस ब्रह्मसूत्र की द्विधानिष्पत्ति, शास्त्रपौरुषेयत्व की भारतीय अवधारणा को परिभाषित करती है. इसका सामान्य अर्थ है सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् पुरुष (तद्विषयकज्ञान) के साथ शास्त्र का जन्यजनक भाव. पैगम्बरवादी विचारधारा इसके अतिरिक्त शास्त्रपौरुषेयत्व को एक और अर्थ देती है और वह है, शास्त्र की प्रामाणिकता में पुरुष के साक्ष्य अर्थात् गवाही का अर्थ. शास्त्र (किताब) इसलिए शास्त्र है क्योंकि उसकी प्रामाणिकता की गवाही साक्षात् खुदा और उसके रसूल (पैगम्बर) दे रहे हैं. किन्तु गवाही तो शब्दरूपा होती है, और खुदा और रसूल की गवाही स्वयं शास्त्र का हिस्सा होने से शास्त्र (किताब) की प्रामाणिकता को कैसे सिद्ध कर सकती है. अब अगर गवाही है तो गवाहान का परीक्षण, उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण, उनके साथ जिरह, कि आया वे दिल और दिमाग से दुरुस्त हैं, इत्यादि सवालों से कैसे बचा जा सकता है. इस प्रकार के सवाल गवाही की प्रक्रिया के रूप में पूरी तरह जायज हैं. गवाहान में भी खुदा तो पकड के बाहर है; परीक्षण पैगम्बर का ही हो सकता है. और जब गवाह रूप में पैगम्बर का परीक्षण होता है तो पैगम्बरवादी या तो तलवार उठा लेते हैं , या फिर पैगम्बर के व्यक्तित्व के चमत्कारिक पक्षों, उनके द्वारा किए गए चमत्कारों को पैगम्बर की प्रामाणिकता और शास्त्र की प्रामाणिकता में उनकी गवाही की विश्वसनीयता के साधक रूप में प्रस्तुत करते हैं. किन्तु न तो तलवार सवाल का जबाब हो सकती है, और न ही चमत्कार पैगम्बर की पैगम्बरी अथवा शास्त्र की प्रामाणिकता में उसकी गवाही की स्वीकार्यता को पुष्ट करते हैं. ऐन्द्रजालिकों के चमत्कार सामान्य अनुभव की बात हैं. भारत में योगियों और सूफी संतो के चमत्कारों की कथाओं का संग्रह किया जाय तो एक बृहद्-ग्रन्थ तैयार हो सकता है. इनमें से कुछ के प्रत्यक्षदर्शी गवाह आज भी मिल जायेंगे. ऐसी परालौकिक शक्तियां ईश्वर की कृपा के बिना नहीं मिलतीं, और प्रभु ईसा को ऐसी शक्तियां मिली होंगी, जिनकी चर्चा बाइबिल में आती है, इसमें कोई संदेह नहीं. किन्तु हमारा कहना केवल इतना है कि ऐसी शक्तियां, उनके पैगम्बर होने का या खुदा का इकलौता बेटा होने का, जैसा कि ईसाई धर्मावलंबियों का मानना है, निर्णायक सबूत नहीं हो सकतीं. जो भी हो ईसाई मतावलंबियों के पक्ष में यह बात माननी पड़ेगी कि उन्होंने पैगम्बर की गवाही से उत्पन्न सवालों का ईमानदारी से उत्तर देने का प्रयास किया और मुसलमानों की तरह सवालों

का जवाब मौत के फतवों और मजहबी उन्माद के दिग्भ्रान्त मुजाहिरों से नहीं दिया. इस्लाम का विचित्र व्यवहार उसके दयनीय अन्तर्विरोधों की सहज परिणति है, जिन्हें आसानी से समझा जा सकता है. पहले शास्त्र (किताब) की प्रामाणिकता की सिद्धि के लिए, जिसकी कोई आवश्यकता नहीं थी, खुद अपने नबी को गवाह के कठघरे में खडा किया, और जब वकीलों ने सवाल किए तो उन पर तलवार तान दी. यह क्या बात हुई. जो भी हुई उसे समझना जरूरी है. वास्तविकता यह है कि शब्द (शास्त्र) यदि स्वतः प्रमाण नहीं है, तो कोई गवाही उसे प्रामाणिक नहीं बना सकती. गवाही चाहे खुदा की हो या पैगम्बर की, शास्त्र की प्रामाणिकता में, स्वयं शब्दरूपा होने से कोई उत्कर्ष, कोई अभिवृद्धि नहीं कर सकती. पुनः गवाही की अपेक्षा वहीं बनती है, जहां संदेह होते हैं. संदेहवादी के प्रश्नों और परीक्षणों को मान्यता दिए बिना गवाही की प्रवृत्ति सम्भव ही नहीं है. फिर पैगम्बरे इस्लाम को पैगाम (कुरानशरीफ) की प्रामाणिकता के गवाह रूप में पेश करने के बाद, गवाहरूप में उनके व्यक्तित्व को लेकर उठते सवालों को लेकर ऐसी असामान्य प्रतिक्रियाएं, ऐसी घोर असहिष्णुता क्यों ? कोई भी सभ्य समाज, जिसमें मुसलमानों का प्रबुद्ध वर्ग भी शामिल है, इस असहिष्णुता का अनुमोदन नहीं कर सकता. पैगम्बरवाद की सैद्धान्तिक स्थिति को बेहतर ढंग से समझा और रखा जा सकता है. इस्लाम की तरफ से यह कहा जा सकता हैं कि किताब (कुरानशरीफ) के समर्थन में पैगम्बर की गवाही संदेहवादी अथवा भिन्न मतावलंबियों को नहीं अपितु आस्थावान् मुसलमानों को सम्बोधित है, जिनके मन में यदि कभी सन्देह पैदा हों, तो उनका निराकरण हो सके. पैगम्बरे इस्लाम की गवाही या प्रभु ईसा के चमत्कार उन्हीं के लिए सार्थक हैं, जो आस्थावान् हैं. जो ईमान ला चुके हैं, उनके मन में उठते संदेहों का निराकरण करके आस्था की पुष्टि ही पैगम्बरों की गवाही अथवा चमत्कारों का प्रयोजन है. इससे संदेहवादी या भिन्नमतावलंबी को यह अधिकार नहीं मिल जाता कि वह पैगम्बर का गवाह रूप में परीक्षण करे, या उनके चमत्कारों को जादूगरी कह कर मजाक उड़ाए. यह एक प्रकार की नियमविधि है, जो आस्था में, तर्क और अनुभव की प्रामाणिक भूमिका की पहचान और नियमन करती है.

उक्त विवरण जिस निष्कर्ष की ओर निर्विवाद रूप से संकेत करता है वह यह कि पैगम्बरवाद भी, अपनी निरपेक्ष- शास्त्रवादी प्रतिबद्धताओं के वाबजूद मानवीय विवेक और अनुभव के प्रति पूरी तरह निरपेक्ष नहीं हो पाता. इसका कारण यह है कि जिज्ञासा मानव की मूलवृत्ति है, ठीक

उसी तरह जैसे आस्था. इसके असमाहित रहते हुए आस्था अपने स्वरूप में व्यवस्थित नहीं रह सकती. अतः आस्था के साधक, संदेह निवारक की सावधान और सीमित भूमिका में अनुयायी के अनुभव को मान्यता देना पैगम्बरवाद की विवशता है. इस सीमित भूमिका में अनुभव कोई समस्या पैदा नहीं करता. लेकिन समस्या वहां पैदा होती है जब वैयक्तिक विवेक इस सीमित भूमिका को अस्वीकार करते हुए आस्था की मूल मान्यताओं को परीक्षण का विषय बना लेता है. यह आधारभूत संदेहवाद सभी धर्मों की समस्या है जिसे वे अपने अपने ढंग से स्वीकार करते हैं, और उठाए गए सवालों का समाधान ढूंढ़ने का प्रयास करते हैं. किन्तु पैगम्बरवाद के लिए इस प्रकार का संदेहवाद, एक अपराध है, क्योंकि यह एक जायज हदबंदी को तोड़ता है. अपराध का उत्तर दण्ड होता है, प्रतिवाद नहीं.

लेकिन यहां अपराधी कौन है, यह समझने के लिए हमें, इस चर्चा के मूलबिन्दुओं को एक बार एक साथ रखकर फिर से देखना होगा. हमने आस्था के शास्त्रीय आधारों का वर्गीकरण करते हुए उन्हें क्रमशः निरपेक्षशास्त्रवाद और सानुभवशास्त्रवाद इन दो कोटियों में विभाजित किया. पुनः निरपेक्ष शास्त्रवाद की दो कोटियां बनीं; अपौरुषेय शास्त्रवाद और पौरुषेय शास्त्रवाद. अपौरुषेय शास्त्रवाद का मीमांसकों के अलावा संसार में कोई उदाहरण नहीं मिलता. आस्था का यह एक अद्‌भुत प्रकार है, जिसमें शास्त्र को तो माना गया है, शास्त्रकर्ता (पुरुष) अर्थात् ईश्वर को नहीं. सच पूछें तो केवल मीमांसक ही सही अर्थों में निरपेक्ष शास्त्रवादी कहलाने के अधिकारी हैं. इस ठेठ, निरपेक्ष-शास्त्रवाद और सापेक्ष अथवा सानुभवशास्त्रवाद की बीच की कड़ी — उनके बीच का संक्रमबिन्दु है, पौरुषेयशास्त्रवाद, जो निरपेक्षशास्त्रवाद के अभेद्य दुर्ग में एक या दो खिड़कियां, एक विशेष प्रकार की आनुभविक प्रामाणिकता के लिए खोलता है. यह अब भी निरपेक्षशास्त्रवाद है, इस अर्थ में कि सामान्यजन का अनुभव इसकी प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता के निर्धारण में सर्वथा अप्रासंगिक है. किन्तु शास्त्र के ईश्वर-प्रणीत मान लिए जाने के बाद यह निरपेक्षशास्त्रवाद उतना निरपेक्ष नहीं रह जाता. शास्त्र अब स्वतःप्रमाण नहीं, अपितु इसलिए प्रमाण हैं क्योंकि वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, समस्त विकारों से रहित पुरुष (ईश्वर) से प्राप्त हैं. पैगम्बरवादी इसमें पैगम्बर की गवाही भी जोड़ देते हैं. इस प्रकार कम से कम दो व्यक्तियों के ज्ञान को शास्त्र में प्रमाण मान लिया गया. बात यहीं नहीं रुकती. सामान्यजन के स्तर पर उपलब्ध वैयक्तिकविवेक और अनुभव की भूमिका को भी, जहां तक यह शास्त्र की उपपत्ति में उपकारक हैं या फिर कम से

कम शास्त्र विरुद्ध नहीं हैं, शास्त्रार्थ निर्धारण में मान्यता दे दी जाती है. आस्था को अनुभव और विवेक के प्रति जवाबदेह बनाने के ये सारे अपराध (अगर इन्हें अपराध कहा जाता है तो) संदेहवादियों के नहीं, पैगम्बरवादी धर्मशास्त्रियों के हैं. अब आस्था की मूल मान्यताओं, परमेश्वर, पैगम्बर और किताब (शास्त्र) को लेकर सवाल करना, उनका परीक्षण करना, इसी स्वीकृत क्रम की अग्रिम तार्किक कड़ी है, जिसे कोई आतंक, कोई धमकी या फतवा आकार लेने से नहीं रोक सकता. वैसे भी धर्मोपदेश अपने स्वीकृति के क्षण में व्यक्ति के अनुमोदन, उसकी समझ के साधनों के समर्थन के बाद ही आस्था रूप में प्रतिष्ठित होता है. अतः अपने अन्दर किसी भी समय आस्था के अनुमोदन के आधारों का पुनरावलोकन और परीक्षण का व्यक्ति का अधिकार, अहस्तांतरित और अपरिवर्तनीय ही माना जाना चाहिए.

६.३ निरपेक्ष-शास्त्रनिष्ठा : व्यावहारिक विसंगतियां

निरपेक्ष शास्त्रनिष्ठा को विचलित करने वाले मूलतः दो तत्त्व हैं : शास्त्रबहुत्व तथा शास्त्र में सन्देह उत्पन्न करने वाली सहज मानवीय जिज्ञासा. अनेक शास्त्रों तथा उन पर आधारित सम्प्रदायों का सद्भाव तथा मानव की सहजवृत्तिरूपा जिज्ञासा हमारे संसार की वास्तविकता हैं. आस्था की एकाग्रता के लिए आवश्यक है कि उसके आधारभूत शास्त्र को न केवल पूर्ण संदेश के रूप में स्वीकार किया जाय, अपितु एक समग्र, निरपेक्ष प्रमाण के रूप में भी स्वीकार किया जाय. यह निरपेक्ष-शास्त्रवाद का मंतव्य है, जिस पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती. किन्तु इस प्रकार की निरपेक्ष स्वीकृति में पहली बाधा शास्त्रबहुत्व की प्राप्ति है. जब संसार में बहुत से शास्त्र हैं, और उनके मध्य परस्पर विरोध है तो शास्त्र-विशेष में ऐकान्तिक निष्ठा में कोई नियामक नहीं हो सकता. शास्त्रबहुत्व के प्राप्त होने पर किसी विशेष शास्त्र में ऐकान्तिकनिष्ठा की सिद्धि शास्त्र वचन के आधार पर सम्भव नहीं है, क्योंकि विभिन्न धर्मों के शास्त्रों के बीच बाध्य बाधकभाव नहीं बनता, न ही उसमें धर्मविशेष का शास्त्र प्रमाण हो सकता है क्योंकि ऐसा मानने पर शास्त्र विशेष को औरों से विशिष्ट मानना पड़ेगा और यह परिकल्पित वैशिष्ट्याधान शास्त्रनिष्ठा का पुनराख्यान ही होगा, सिद्धि नहीं. कहने का तात्पर्य यह है कि शास्त्रबहुत्व की भांति, तत्संज्ञानलब्ध अनैकान्तिकता, धर्मपरिदृश्य की वास्तविकता है. निरपेक्षशास्त्र-निष्ठा, यहां प्राप्त, अर्थात् सिद्धवस्तु नहीं अपितु साध्य है, जिसकी सिद्धि, निष्ठाभेदोपपादक, उपाधिभूत इतरशास्त्रों के निराकरण के द्वारा सम्भव है. निरपेक्षशास्त्रनिष्ठा का साधक यह इतरशास्त्रनिवर्तक व्यवहार मन और शरीर के

साधनभेद से मानसिक क्रिया तथा इतरोच्छेदक-आचरण का रूप ले सकता है.

ईसाई और इस्लाम धर्म एकशस्त्रावलम्बि धर्म हैं. अतः उनके यहां शास्त्र बहुत्व का संज्ञान, मूलतः अन्य धर्मावलंबियों के धर्मग्रन्थों का संज्ञान है. किन्तु हिन्दुओं में स्वयं अपनी आस्था के ही, एक नहीं अनेक धर्मग्रन्थ हैं, या यों कहिए कि एक पूरा पुस्तकालय है, धर्मग्रन्थों का. अतः हिन्दूधर्म के सामने, आन्तरिक और बाह्य, दोनों प्रकार का शास्त्र-बहुत्व प्राप्त होने से, शास्त्रबहुत्व से उत्पन्न आस्था के बिखराव का संकट अधिक वास्तविक, अधिक गंभीर समस्या बन कर सामने आता है. इसका निराकरण करके एक शास्त्र-निष्ठा और उसमें निरपेक्ष प्रामाणिकता की सिद्धि के लिए साधन रूप में जिस शास्त्र-बहुत्व निवर्तक व्यवहार की हिन्दूधर्म में परिकल्पना की गई है वह, यह ध्यान देने की बात है, मानसिक क्रियारूप में है, इतर धर्म विध्वंसक आचरणरूप में नहीं. मनोव्यवसाय के द्वारा आस्था में अनन्यता की सिद्धि हिन्दू धर्मसाधना के क्रम का द्वितीय सोपान है. अनेक शास्त्रों में से एक आस्थावान् हिन्दू के लिए उसकी आस्था के आलम्बनशास्त्र की प्राप्ति, जो परम्परा से, गुरुमुख से, अथवा स्वतंत्र निर्णय के द्वारा हो सकती है, इस क्रम का प्रथम सोपान है. शास्त्र श्रवण के अनन्तर, मनन का विधान है, इसके अन्तर्गत, भेदापादक इतरशास्त्रों का सम्यक् बुद्धिविमर्श के द्वारा निराकरण करते हुए बुद्धि में उपदिष्ट शास्त्रार्थ की प्रतिष्ठा की जाती है. बुद्धि के धरातल पर, जो व्यक्तित्व का केवल एक हिस्सा है, शास्त्रैकत्व की सिद्धि, अन्ततः सम्पूर्ण व्यक्तिक्षेत्र में, इसकी सिद्धि में पर्यवसित होती है. व्यक्तिक्षेत्र में शास्त्र की प्रतिष्ठा, अथवा शास्त्र के प्रति सम्पूर्णव्यक्तित्व का समर्पण ही निदिध्यासन है. यही आस्था की अनन्यता का सिद्धरूप है. स्पष्ट है, हिन्दू के लिए, अनन्याश्रय, किसी राजाज्ञा का अनुपालन नहीं, अपितु साधना है, सम्पूर्णव्यक्तित्व को समेंटने और परिष्कार करने वाली. इस रूप में देखें तो उपनिषद् वाक्य ' **श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासिततव्यः**' हिन्दू साधनादर्शन का ही नहीं, धर्मदर्शन का भी सूत्र है.

हिन्दू के लिए एक शास्त्रबुद्धि और अनन्याश्रय साधना का विषय हैं, आभ्यन्तर अनुशासन का विषय है, जो मन और बुद्धि के प्रशिक्षित व्यवहार के द्वारा शास्त्रबहुत्व और तज्जनित विकल्प बुद्धि का निराकरण करते हुए आस्था की एकनिष्ठा उसके अनन्याश्रयत्व की सिद्धि करता है. इस प्रकार का आभ्यन्तर-अनुशासन सहिष्णुता पर आधारित सभ्यता के विकास के बिना सम्भव नहीं है. जहां इस प्रकार के आभ्यन्तर अनुशासन के लिए सभ्यता का अपेक्षित विकास नहीं हुआ वहां

एकशास्त्रबुद्धि की प्रतिष्ठा का अर्थ होगया, अपने से इतर धर्मग्रन्थों और उन पर आधारित आस्थाओं का छल, बल, अथवा प्रलोभन के द्वारा उच्छेद तथा धर्मान्तरण. अनन्यता की सिद्धि का अर्थ हो गया अन्य धर्मावलंबियों के धर्मस्थलों को बलपूर्वक नष्ट करना. अनन्यता (तौहीद) सिद्धि के इस समस्तसभ्याचार प्रतिषिद्ध बार्बरिक साधन को इस्लाम धर्म में 'जेहाद' नाम दिया गया. यह जेहाद प्रत्येक मुसलमान का अनिवार्य कर्तव्य है. स्पष्ट है कि पैगम्बरवादी धर्म, ईसाइयत और इस्लाम मुख्यरूप से, आस्था में अनन्यता की सिद्धि का कोई सभ्य साधनापथ विकसित नहीं कर सके.

जब तक अपरोक्षानुभूति में परोक्ष रूप में कहे धर्म की सिद्धि नहीं होती उसमें संदेह की गुंजाइश सदा बनी रहती है. कस्तूरी की सुगंध कसमें खाने से कभी साबित नहीं हो सकती; उसके लिए कस्तूरी का प्रत्यक्ष अनुभव करना होगा. कुरानशरीफ उन कौमों की बर्बादियों के किस्सों से भरी पड़ी है, जिन्होंने पैगम्बरों द्वारा दी गई निशानियों को अपर्याप्त मानते हुए उनके संदेशों को अस्वीकार कर दिया, और खुदा की नाराजगी और बर्बादी को गले लगा लिया. लेकिन सवालों का सिलसिला तो बंद नहीं हुआ. भगवान बुद्ध और महावीर जैसे साधकों से लेकर सुकरात गैलिलियो, वहाउल्ला और सल्मान रश्दी जैसे विचारक, आस्था के परोक्षधर्मी विधानों के बारे में सवाल करते रहे और उनकी कीमत देते रहे, कष्ट उठाते रहे. इसमें बर्बाद हुई कौमों का, अपनी अन्तरात्मा के प्रति ईमानदार विचारकों और लेखकों का कोई दोष भी नहीं था, क्योंकि परोक्ष में संदेह उसके स्वभाव से प्राप्त है. ऐसा कोई इंसान नहीं, जिसके मन में, अन्तरंग क्षणों में यह सवाल न उठते हों कि धर्मग्रन्थों की अमुक बातें, पैगम्बर के अमुक दावे क्या सचमुच सही हैं.

आस्था की निरपेक्षशास्त्रनिष्ठा में, शास्त्रार्थ निर्धारण की प्रक्रिया सम्बन्धी जिज्ञासाओं की अनुमति तो है, किन्तु आस्था की मूल मान्यताओं को लेकर किसी प्रकार के संदेह अथवा विवाद की अनुमति नहीं है, क्योंकि ईश्वरोपदेशरूप शास्त्र की प्रमाणिकता में, किसी अन्य के विवेक और अनुभव की प्रसंगिकता को स्वीकार नहीं किया जा सकता. यह बात सहज समझ में आती है कि जहां शास्त्र और व्यक्ति के बीच, *'स्वीकार करो या छोड़ो'* के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प उपलब्ध नहीं है, जहां पैगम्बर और किताब के बारे में सवाल करना गुनाह है, वहां जब उठते हुए सवालों का बोझ नाकाबिले बर्दाश्त हो जाता है, तब नास्तिक भाव के अतिरिक्त व्यक्ति की

अन्य कोई गति नहीं हो सकती. वह उसे भयवश अभिव्यक्त न कर पाए यह अलग बात है. जहां धर्म में वैमत्य का अवसर नही, जहां व्यक्ति को अपनी आस्था की समीक्षा का अधिकार नहीं, वहां अभिव्यक्ति तलाशते प्रबुद्धसंदेह, धर्म के प्रति समग्र विद्रोह, और उससे आत्यन्तिक सम्बन्धविच्छेद तक पहुंच कर ही दम लेते हैं, यदि व्यवस्था में इसकी अनुमति है. किन्तु जहां इसकी अनुमति नहीं है वहां सामान्यजन अपने सवालों के बोझ को सीने में दबाए, एक पाखण्ड को पीढ़ी दर पीढ़ी ढोते रहने को विवश हैं, जबकि कुछ प्रबुद्धजन गैलिलियों से लेकर आज के सलमान रश्दी और तस्लीमा नसरीन जैसे लोग, उत्पीडन भय और आतंक के साए में जीते हुए कभी बंधक बनाए गए, अपने अभिव्यक्ति और विवेक के अधिकार को छुड़ाने की आजीवन कीमत अदा करते रहते हैं. मनौवैज्ञानिक दृष्टि से यह दोनों ही स्थितियां, आस्था-विच्छेद की ही अवस्थायें हैं. निकट से देखा जाय तो जिन्होंने मौत के भय से अपने विवेक को कुण्ठित कर लिया है वे, और जिन्होंने आतंक की परवाह न करते हुए अपने वैमत्य को अभिव्यक्ति दी वे, और भी और जो मौत के फतवे जारी करते हैं – ये सभी आस्था के आधार से हटे हुए, अनास्था को ही अलग अलग रंगों में जीते हुए लोग है. आगे इसका और खुलासा करेंगें. यहां इतना पर्याप्त है कि जहां आस्था को एक नैगमिक व्यवस्था मानते हुए उसमें वैयक्तिक अनुभव और विवेक की भूमिका का निषेध किया जाता है, और तदनुसार शास्त्रविरुद्ध अर्थ की अभिव्यक्ति भी निषिद्ध है, वहां कुंठित वैमत्य के लिए आस्था से आत्यन्तिक अलगाव के अलावा और कोई रास्ता नहीं बचता. इस अलगाव का एक महत्त्वपूर्ण रूप है, पैगम्बरवादी धार्मिक कट्टरता के विरुद्ध योरुप में विकसित मानववादी मूल्यचिन्तन.

६.४ मानववादी चिन्तन : इसकी सीमाएं

यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जानी चाहिए कि मानववाद का ऐतिहासिक विकास मूलतः धर्म के विरुद्ध नहीं, अपितु उसकी एक विधा विशेष (पैगम्बरवाद) के विरुद्ध हुआ है, जिसे योरुप धर्म के रूप में पहचानता था. अतः न तो उसकी नास्तिकता ही निरुपाधिक है, और न ही उसका मूल्यदर्शन प्रतिक्रियात्मक चिन्तन की सीमाओं से मुक्त हो पाया है. माध्यमों के द्वारा प्राप्त ईश्वर की सत्ता और विधान के कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं हैं, अतः इन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता, यह थी पाश्चात्य मानववादियों की दृष्टि, जिनके सामने विचार के लिए आस्था के केवल परोक्षधर्मी

उदाहरण (यहूदी, ईसाइयत और इस्लाम) मौजूद थे. मानववाद ने इन निरपेक्ष-शास्त्रवादी आस्थाओं को दो प्रकार से क्षतिग्रस्त किया; मूल्यचिन्तन को मानव-केन्द्रित बनाकर, तथा तत्त्वचिन्तन के स्थान पर विज्ञान की प्रतिष्ठा करके. किन्तु जैसा कि संकेत किया जा चुका है, तीन कारणों से, दोषपूर्ण होने से, मानववादी नास्तिकता को एक समग्र जीवनदर्शन नहीं कहा जा सकता. इनमें पहला, तो यह है कि मानववाद की धर्म की समीक्षा अपर्याप्त तथ्यों पर आधारित थी. तत्कालीन योरुप की जानकारी केवल जूडा (यहूदी), ईसाई तथा इस्लाम धर्मों तक सीमित थी. भारतीय धर्मों के बारे में उसकी जानकारी नहीं के बराबर थी. ईश्वरवाद, अथवा अनुभवनिरपेक्ष-शास्त्रानुपालन, धर्म का पर्याय नहीं है, और यह कि धार्मिक-आस्था अनीश्वरवादी भी हो सकती है (यथा जैन और बौद्ध धर्म), इस सत्य तक पहुंचने के लिए येरुप के पास अपेक्षित तथ्यों की जानकारी थी ही नहीं. दूसरी बात यह कि जिस प्रकार मानववाद, आचरण तथा सौन्दर्यमीमांसा विषयक मूल्यचिन्तन के प्रमाणिक आधारों को मानव के भीतर ही तलाशता है, उसी प्रकार आस्था अर्थात् धार्मिक मूल्यों के प्रामाणिक आधार भी मानव में ही खोजे जा सकते हैं, अतः नास्तिकता मानववाद का अनिवार्य निष्कर्ष नहीं हो सकता, जैसा कि प्रतिपादित किया जाता है. तीसरा और सर्वाधिक दुर्बलपक्ष मानववाद का यह है कि इसका मूल्यदर्शन मानवनिष्ठ तो है ही, मानव केन्द्रित भी है, जो इसे एक क्षुद्र, जातीयहितचिन्तन का अर्थ देता हैं. पैगम्बरवादी धर्म मूलतः कबीलाई धर्म थे, जो अरब-इज़राइल की भूमि पर बसी मुख्तलिफ कौमौं को सम्बोधित थे. इनकी तुलना में, सम्पूर्ण मानवजाति को सम्बोधित, मानववादी मूल्यदर्शन निश्चय ही, अधिक व्यापक सैद्धान्तिक आधार में प्रतिष्ठित है. किन्तु मानवजाति भी है तो आखिर एक जाति ही, इस पृथ्वी के पर्यावरण में पल रहे प्राणिजगत की अनगिनत जातियों में से एक. मानवहित को मूल्यचिन्तन का आधार मानते हुए, पर्यावरण तथा उसके अपेक्षाकृत दुर्बल प्रणियों को इसकी साधकसामग्री रूप में परिकल्पित करने वाला मानववादी चिन्तन, मूल्यदर्शन न हो कर, समर्थ की प्रतिष्ठा की ऐतिहासिक वास्तविकता का, पुनराख्यान मात्र है. अपने जातीय सम्बोधन के कारण मानववाद, कबीलाई धर्मो और उनके मूल्यबोध का, अपेक्षाकृत एक उदार संस्करण है, जो विविध जातीय हितों की अवधारणा पर आधारित, अन्यान्य मूल्यचिन्तनों की भांति सोपाधिक है तथा प्रमाणिक मूल्यदर्शन की सार्वभौमिकता से रीता है.

मानव में जिज्ञासा(संदेह) उसी प्रकार स्वाभाविक है, जिस प्रकार आस्था. इन दोनों के संग्रह का सैद्धान्तिक आधार, न तो पैगम्बरवादी धर्मों में प्राप्त है, और न ही उनकी समीक्षा पर आधारित मानववादी नास्तिकता में. जहां पैगम्बरवादी धर्म, आस्था के अनुभव और विवेक पराङ्मुख स्वरूप का निदर्शन हैं, वहीं उनके प्रति संदेह में जन्मे और प्रतिक्रिया में परिभाषित, योरुप का मानववादी दर्शन, मानवव्यक्तित्व की परिधि के बाहर, मूल्य और तत्त्वज्ञान के किसी प्रामाणिक स्रोत की सम्भावना को अस्वीकार करते हुए, न केवल धार्मिक आस्था के लिए कोई अवकाश नहीं छोड़ता है, अपितु एक, मानवजातिवादी, पर्यावरण तथा मानवेतरप्राणिविद्वेषी, क्षुद्र स्वार्थचिन्तन को सार्वभौमिक मूल्यदर्शन के रूप में प्रतिष्ठित करता है. मानववाद, एक प्रतिक्रिया का दर्शन है, जो अपने अनुयोगी, पैगम्बरवादी मूल्यदर्शन का विस्तार तो करता है, अतिक्रमण नहीं.

उक्त समीक्षा का प्रयोजन मानववादी मूल्यों के प्रामाणिक विनियोग की सीमाओं को रेखांकित करना है. मानववाद, अपनी चयनात्मक, विशुद्ध मानवकेद्रित वैचारिक प्रतिबद्धताओं के कारण, जहां मानवजाति के सीमित संदर्भों में, उसके लिए समाज, एवं राजनीति दर्शन का अभी तक का सर्वाधिक उपयुक्त परिकल्प है, वहीं एक मूल्यदर्शन के रूप में, धार्मिक आस्था के वैकल्पिक जीवनादर्श के रूप में, उसी प्रकार और उन्हीं आधारों पर अपर्याप्त है, जिस प्रकार और जिन आधारों पर, पैगम्बरवादी धर्म और उनकी कबीलाई नैतिकता. पैगम्बरवादी आस्था के निर्धारण में वैयक्तिक अनुभव और विवेक के लिए कोई स्थान नहीं है, तो मानववाद विज्ञान और मानवकेद्रित मूल्यदर्शन को सम्पूर्ण जीवन-दर्शन मानते हुए, धार्मिक आस्था के लिए कोई अवकाश नहीं छोड़ता. इस दृष्टि से दोनों ही एकांगी हैं. अनुभव और आस्था के संग्रह के आधार न तो पैगम्बरवादी धर्मों में उपलब्ध हैं, और न ही मानववाद में. यही कारण है कि जहां मुस्लिम देशों में पैगम्बरवादी आस्था, धार्मिक उन्माद और विवेकहीन आतंकवाद का पर्याय बन चुकी है, वहीं योरुप के ईसाई देशों में, वैज्ञानिकचिन्तन के सामने आस्था का दिनानुदिन क्षरण हो रहा है, और ईसाईधर्म के स्थान पर मानववाद प्रबुद्ध योरुप का अधिकृत जीवनदर्शन बनता जा रहा है. आज योरुप के लोग ईसाई मिशनरियों को पैसा तो दे सकते हैं, अपना जीवन नहीं. और ये मिश[illegible] भी, वहां से जो मिल सकता है, उस पैसे को बटोर कर, एशिया और अफ्रीका के गरीब [illegible]ों में भाग कर अपनी सेवा की दुकानें खोल रहे हैं, ताकि पैसे के बल पर वहां 'ईश्वर का राज्य' कायम किया जा सके. आस्था और मानवीय विवेक के आत्यन्तिकविच्छेद से उत्पन्न ये एकांगी जीवनादर्श, संसार में जो

समस्याऐं पैदा कर रहे हैं, उनकी चर्चा करना यहां आवश्यक नहीं है. इतना पर्याप्त है कि निरपेक्ष शास्त्रवाद का यह विवरण आस्था के एक महत्त्वपूर्ण अर्थ का उद्घाटन करता है, साथ ही इसके अन्तर्गत पैगम्बरवादी धर्मों तथा उनकी प्रतिक्रिया में विकसित मानववादी मूल्यचिन्तन की समीक्षा, हिन्दूधर्म के व्याख्यानावतरण के लिए उपयुक्त पूर्वपीठिका प्रस्तुत करती है, जिसकी पृष्ठभूमि में, हिन्दूधर्म को, उसके सापेक्षशास्त्रवाद तथा तन्निविष्ट वैमत्यसंग्रह की द्वन्द्वात्मक पद्धति को, जो व्यापक अर्थ में, शास्त्र और अनुभव के संग्रह का परिकल्प है, अधिक अच्छी तरह से समझा जा सकता है.

७. **शास्त्रम् धर्मपथस्य मानचित्रवदेकः अनन्यगतिकः व्यावहारिकः परिकल्पः, इतरपरिकल्पसामान्यं यदनुभवबुद्धिभ्यां पुष्टिं परिष्कारं प्रत्याख्यानं वा अपेक्षत इति सापेक्षशास्त्रवादिनः। मनुमनुसरन् हिन्दुधर्मः, अधिसंख्यसम्प्रदायाश्चास्य मन्यन्ते यद् शास्त्रे सत्यपि आस्थारम्भे, शास्त्रं नास्ति धर्मे पार्यन्तिकं प्रमाणमद्वितीयम्, अपितु आप्तोपदेशभिन्नाः, तर्कः, परम्परा, स्वविवेकादयोऽपि स्वतंत्ररूपेण शास्त्रोपकारकत्वेन वा धर्मे प्रमाणम्।**

७. सापेक्ष (सानुभव) शास्त्रवाद :

पैगम्बरवादी धर्मों से सर्वथा भिन्न, आस्था की एक दूसरी अवधारणा भी है, जिसमें व्यक्ति के विवेक का अधिकार अक्षुण्ण रखा गया है. मनु ने धर्म के शास्त्रमात्रकवाद को अस्वीकार करते हुए, आस्था के प्रमाणबहुत्व की स्थापना की, और धर्म के उपपादक प्रमाणरूप में शास्त्र (वेद) के साथ स्मृति, सदाचार तथा अन्तरात्मानुमोदन को स्वीकार करते हुए, आस्था के मूल स्वरूप में ही वैयक्तिक विवेक और वैमत्य के अधिकार को सुनिश्चित किया. महाकवि कालिदास के सुप्रसिद्ध नाटक अभिज्ञान-शाकुन्तलम् की सुप्रसिद्ध सूक्ति **'सतां हि सन्देहपदेषुवस्तुषु, प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'** मनु के चिन्तन की ही अनुगूंज है. मनु ने जिस बात को विधि और मूल्यचिन्तन के संदर्भ में कहा, आचार्य शङ्कर ने उसी बात की पुष्टि तत्त्वचिन्तन के धरातल पर इन शब्दों में की — **'नहि श्रुतिशतमपि शीतोऽग्निरप्रकाशो वेति ब्रुवत्प्रामाण्यमुपैति'** (सैकड़ों श्रुतियां भी अग्नि को शीतल अथवा प्रकाशरहित कहें, तो प्रमाण नहीं हो सकतीं — गीताभाष्य - १८. ६६.). यह परासाम्प्रदायिक हिन्दूचेतना के विकास का एक महत्त्वपूर्ण सोपान है, जो धर्मपरिदृश्य

के महाभारत जैसे गहन, विविधतापूर्ण एवं सुविस्तृत सर्वेक्षण की पृष्ठभूमि में ही सम्भव हो सकता था. इसके आविर्भाव से हिन्दूधर्म और हिन्दू-सम्प्रदायों के बीच का अन्तर स्पष्ट हो कर सामने आया. हिन्दू-सम्प्रदाय, जिनमें अतीत के वैष्णव, जैन, शैव, शाक्त आदि तथा आज के सिक्ख और आर्यसमाज जैसे सम्प्रदायों की गणना की जा सकती है, अपने अपने आगमशास्त्रों और धर्मग्रन्थों को कुछ उसी तरह पार्यन्तिक और अविचारणीय मानते हैं जैसे इस्लाम और ईसाईधर्म. इनसे सर्वथा भिन्न, महाभारत जैसे धर्मेतिहास की पृष्ठभूमि में, जो वैदिक आस्था से लेकर वैदिक और अवैदिक के संघर्ष, संवाद और संग्रह की युगों तक चलती प्रक्रिया के फलस्वरूप अस्तित्व में आए अनगिनत सम्प्रदायों और साधनापद्धतियों का निपुण सर्वेक्षण था, विकसित होती हिन्दू आस्था, किसी धर्मग्रन्थ को अविचारणीय, पार्यन्तिक विधान रूपमें स्वीकार नहीं कर सकती थी. निःसंदेह, आप्तपुरुष तथा उनके उपदेश किसी भी आस्था का प्रारम्भ बिन्दु हो सकते हैं, और इस रूप में इनके महत्त्व को कम करके नहीं आंका जा सकता. किन्तु इनमें से किसी एक को लेकर, उसे आस्था के तात्त्विक स्वरूप के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा करने का अर्थ, न केवल धर्मेतिहास से प्राप्त अनिवार्य निष्कर्षों को अपितु आस्था के मनोविज्ञान को को भी झुठलाना होगा. परोक्षज्ञान कभी भी पूरी तरह संदेह मुक्त नहीं हो सकता. शास्त्रों के महत्त्व का आधार उनकी असंदिग्ध पार्यन्तिकता नहीं अपितु आस्थारम्भरूप में उनकी व्यावहारिक उपादेयता है, अतः उन्हें बिना किसी विप्रतिपत्ति के परीक्षण का विषय बनाया जा सकता है. उन्हें तर्क और अनुभव की कसौटी पर कसने में कोई सैद्धान्तिक समस्या पैदा नहीं हो सकती. विशेष बात यह है कि आस्था की यह अवधारणा (आधुनिक जनतांत्रिक व्यवस्था से सर्वथा भिन्न) साक्षात् आस्था के धरातल पर वैमत्य को मान्यता देती है. आस्था में वैमत्य की मान्यता की प्रथम परिणति बहुत्ववादी समाज के रूप में होती है. द्वितीय परिणति, वैमत्य के द्वन्द्वात्मक संग्रह के रूप में होती है, जिसके उदाहरण हिन्दूधर्म और दर्शन के इतिहास में आसानी से मिल सकते हैं, लेकिन महाभारतधर्म, और उसका हिन्दूरूप, इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं. इस क्रम की तृतीय परिणति है, वैमत्य के द्वन्द्वात्मक संग्रह का भावभूमि में अवतरण. द्वन्द्व की स्वरूपावगति, उसका वैयक्तिक चेतना में सर्जनात्मक अवगाहन, ही वह गान है जो गीता में गाया गया है. गीताधर्म, हिन्दूचेतना का समग्र यथार्थ है, उसका परिणत और अनधिकतर संस्कार. इस प्रकार आस्था में वैमत्य की मान्यता का बीज, वैयक्तिक अथवा सामाजिक चेतना के संदर्भों के विस्तार और आकांक्षा के

अनुसार आस्था के, उच्च से उच्चतर एकात्मक रूपों में पल्लवित होता हुआ गीतार्थ में प्रतिफलित होता है. जहां इस प्रकार के संश्लेषण और सृजन की परिस्थितियां नहीं है, वहां वैमत्य की मान्यता, अनेक सम्प्रदायों के लिए सहभाव और अविरोध की भूमि, एक बहुत्ववादी समाज का निर्माण करती है, जिसकी अवधारणा हिन्दू आस्था की न्यूनतम सैद्धान्तिक आधारभूमि है.

संक्षेप में कथ्य यह है कि आस्था की हिन्दू अवधारणा मे संदेह और वैमत्य, आस्था का उच्छेद नहीं करते, अपितु सामाजिक और वैयक्तिक चेतना के धरातलों पर, पुनरावलोकन, संग्रह और समन्वय की प्रक्रिया को जन्म देते हैं. वैमत्यसहिष्णुता, जोकि सापेक्षशास्त्रवाद का व्यावहारिक अर्थ है, से प्रारम्भ होती यह प्रक्रिया, क्रमशः बहुत्ववादीसमाज और वैमत्य के द्वन्द्वात्मक संग्रह के सोपानों से गुजरती, आस्था के सर्जनात्मक अवगाहन में पर्यवसित होती है. इस प्रक्रिया के सोपानों का क्रमिक निर्वचन, हिन्दू आस्था की आस्तरणिक संरचना में सहज अन्तर्दृष्टि देता है.

८. **मनुप्रणीतसापेक्षशास्त्रवादार्थलभ्या हि वैमत्यसहिष्णुता, वैमत्याश्रितानेकसम्प्रदायानां प्रभवः, सहिष्णुतामूलकबहुत्ववादि- समाजस्य चाविर्भावरूपकारणकार्यभावनिबद्धोत्पादचयो हि हिन्दुधर्मस्य प्रथमो विमर्शः। अस्मिन्नेव हि क्रमे यथामहाभारतं वैमत्यस्य द्वन्द्वात्मकस्संग्रहः गीतायां तस्य सर्जनात्मकमवगाहनं हि क्रमशः द्वितीयतृतीयौ विमर्शौ हिन्दुधर्मस्य। श्रीकृष्णार्जुनसंवादोपलक्षितोऽयमेव सापेक्षशास्त्रवादस्य त्रिपदक्रमोन्मेषरूपः, कालान्तरे हिन्द्विति समाख्यां भजमानः धर्मः श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रतिपाद्यो विषयः।**

मनुप्रतिपादिते धर्मे नियामकत्वेन शास्त्रेण सह वैयक्तिकविवेकस्य संग्रहत्वात्, आस्थायाः स्वरूपे एव प्रतिष्ठिता वैमत्यसहिष्णुता परिकल्पते वैधिकबहुत्ववादभिन्नं धार्मिकबहुत्ववादं धर्मसंघरूपम्। आस्थामूलकासहिष्णुतासहिष्णुः अश्रद्धेयः संवैधानिक-बहुत्ववादः अन्तर्विरोधग्रस्तत्त्वाद् मिथ्याचाररूपत्वाच्च।

८.१ उपादानभूतः, वैमत्यसहिष्णुताश्रितोऽयमास्थासंघो हि हिन्दुधर्मस्य प्राथमिक उन्मेषः। धर्मदर्शनस्येतिहासे न केवलं प्रथमोऽपितु अद्वितीयोऽयं प्रयोगः, बहाई-ब्रह्मसमाज-गांधीवादिसर्वधर्मसभाप्रभृतिसम्प्रदायेभ्यः केवलमपर्याप्ततयाऽनुकारितत्वात् वर्तमाने युगे।

८.२ तादृशोपादानभूतबहुत्ववादिसमाजे प्राप्तवैमत्यस्य द्वन्द्वात्मकस्संग्रहो हि द्वितीयो विमर्शः

सिद्धस्वरूपायाः आस्थायाः वैमत्यसंज्ञानपुरस्सरं परीक्षणम्, उदारपुनराख्यानरूपं हि तत्। ब्राह्मणधर्मं प्रत्यनास्थाबीजं, यद्यपि द्रष्टुं शक्यते उपनिषत्स्वेव, दार्शनिकसिद्धान्तरूपेणास्य समग्रं पल्लवनं तु लभ्यते चार्वाकजैनबौद्धादिषु सम्प्रदायेषु वैमत्यपरेषु। कालक्रमे, वेदान्तदर्शने, विशेषरूपेण शाङ्करमते बौद्धवैमत्यस्य औपनिषदिकाधारे, जैनधर्मस्य अहिंसेति आधारभूतमूल्यस्य, वैदिककर्मकाण्डानुरोधमुपेक्ष्य, 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि'- इति वेदवाक्यमनुस्मरन्, सार्वभौमिकहिन्दुजीवनमूल्यरूपेण अहिंसायाश्च संग्रहौ निपुणं निदर्शयतः 'वैमत्यस्य द्वन्द्वात्मकं संग्रहम्' द्वितीयसोपानभूतं हिन्दुधर्मस्य। मुस्लिमयुगेऽपि, इयं संग्रहप्रक्रिया प्रवहमाना दृश्यते अनवरुद्धा। एकेश्वरवादः, निराकारोपासना, मूर्तिपूजाविरोधः, एकशास्त्रवादश्चेतीमाः इस्लामधर्मस्य मूलमान्यताः। हिन्द्वाप्तोपदेशसन्दर्भेषु एतासां सुविचारितस्संग्रहः कृतो दृश्यते मध्यकालीननिर्गुणभक्ति-सम्प्रदायेषु, सिक्खपन्थेषु आर्यसमाजे च।

८.३ महाभारतं हि द्वन्द्वात्मकप्रक्रियायाः, तन्मुखेन ऐतिहासिके धर्मपरिदृश्ये, सनातनहिन्दुमूल्यानां अनुसंधानसंग्रहयोः प्रामाणिक आलेखः। महाभारते सनातनधर्मरूपेण प्रतिष्ठिताानि मूल्यान्येव, गीतायाम् उच्चतरचेतनायां संश्लेषणाय कल्पन्ते लभ्यते चानेन, व्यक्तिक्षेत्रप्रमाणितं निर्व्याजमूल्यबोधरूपं स्वधर्मानुसंधानम्। द्वन्द्वात्मकता नाम विरुद्धार्थसंग्रहोन्मुखी काचिद् व्यापकतरा तार्किकसंरचना। सा च बुद्धिविमर्शस्यान्तिमा सीमा। सिद्धान्ते विरुद्धार्थसंग्राहकमूलमान्यतासंघातरूपेयं द्वन्द्वात्मकता, व्यक्तिक्षेत्रे अवगतिरूपामन्तरङ्ग- सर्जनधर्मितां गृह्णन्, गृह्णाति गीतात्मकतां सहजोद्बोधरूपाम्। सर्जनात्मकतेयं गीतोच्छवसिताह्लादस्य, अन्तरङ्गप्रामाणिकतायाश्चापि स्रोतः, वैयक्तिकतायाः स्वरूपलक्षणत्वात्तस्याः।

८. वैमत्य सहिष्णुता - सापेक्षशास्त्रवाद का निहितार्थ : हिन्दू- आस्था की द्वन्द्वात्मक संरचना का आधार :

भगवान मनु ने आस्था के शास्त्र (वेद) से भिन्न, अन्य नियामकों को, विशेषकर वैमत्य के स्रोत, वैयक्तिक विवेक को आस्था में प्रमाणरूप में मान्यता देकर जिस सापेक्षशास्त्रवाद को जन्म दिया, वैमत्य सहिष्णुता उसके स्वरूप से प्राप्त थी. आस्था में वैयक्तिक विवेक की स्वीकृति (स्वस्य च प्रियमात्मनः) वैमत्य को एक प्रामाणिक हैसियत प्रदान करती है, जिसके संरक्षण में सम्प्रदाय बहुत्व तथा, तथा साम्प्रदायिक इकाइयों के बीच वैचारिक कटुता और यदाकदा संघर्षों

के वाबजूद, सम्प्रदायिक सहभाग के आधार रूप में एक बहुत्ववादी समाज का अभ्युदय होता है. इस बहुत्ववादी समाज को हम हिन्दूधर्म का प्राथमिक उपादान कह सकते हैं, जब कि वैमत्य सहिष्णुता को हिन्दू-मानस का स्थायीभाव. बहुदेववादी हिन्दू, ईश्वर को उसके अनगिनत सौम्य और क्रूर रूपों में पूजता है. किन्तु अपने क्रूरतम रूप में भी उनके देवता इतने क्रूर नहीं कि वैचारिक वैमत्य को दण्डित करने की बात सोचें. भगवान राम, कृष्ण और दुर्गा राक्षसों का संहार करते है; उन राक्षसों का जो तलवार लेकर उनसे युद्ध के मैदान में मुकाबला करने आते है. किन्तु किसी हिन्दू देवता ने इसलिए शस्त्र उठाया हो कि कोई व्यक्ति एक भिन्न जीवनदर्शन या उपासनापद्धति का उपदेश कर रहा है, ऐसा सुनने में नहीं आता. ऐसी कोई कथा सुनने में नहीं आती कि किसी अवतारी पुरुष ने किसी का इसलिए वध किया हो कि वह उसे अवतारी पुरुष नहीं मानता, या इसलिए वध किया हो कि वह वेदादिशास्त्रों की प्रामाणिकता पर संदेह करता है और उन्हें अस्वीकार करता है. बहुत ढूंढ़ने पर वैमत्य को दंडित करने के निकट तक पहुंचता एक उदाहरण मिलता है, और वह है श्रीराम द्वारा शम्बूक के वध की कथा जो ब्राह्मण व्यवस्था का उल्लंघन करते हुए तपस्या कर रहा था. हिन्दू मानस ने इस घटना को कभी सहजतापूर्वक स्वीकार नहीं लिया, और जो मुखर हैं, उन्होंने इस विषय पर विचार करते हुए, अपनी आस्था के आलम्बनों की समीक्षा के अधिकार का, जिसे केवल हिन्दूधर्म में ही मान्यता प्राप्त है, बिना संकोच प्रयोग किया है. वस्तुतः ऐसे अपवाद नियम को ही सिद्ध करते हैं. इस देश में वेदोपबृंहणरूपशास्त्रों का ही नहीं, अपितु वैमत्यमूलक-शास्त्रों और तदाश्रित सम्प्रदायों का अनिर्बन्ध आविर्भाव, स्थापना और प्रसार, आस्था के धरातल पर वैमत्य की प्रतिष्ठा के बिना सम्भव नहीं हो सकता था.

आस्था में वैमत्य के अर्थ :

आस्था की परोक्षनिष्ठा तथा उसका सामूहिक सम्बोधन, संदेह और वैमत्य के सहज आधार बनते हैं. जब कोई प्रबुद्ध व्यक्ति, अपनी परम्परागत आस्था में, अपने को नहीं पाता, तलाशने पर भी, धर्मसंकट के क्षणों में उसे इससे मार्गदर्शन नहीं मिल पाता, तब उसमें शास्त्र और उनके सामूहिक सम्बोधन की अपर्याप्तता का एहसास, दिव्यचेतना के साथ अव्यवहित संवाद और उससे साक्षात् मार्गदर्शन की इच्छा को जन्म देता है. यही वैमत्यबीज है, जिसका गीता में अर्जुन के विषाद के द्वारा निदर्शन कराया गया है. प्रश्न इस वैमत्य एवं तज्जनित अनुसंधान की प्रामाणिकता का है.

मूर्त-आलंबनों की सीमित प्रयोजकता : यहां यह प्रश्न सहज मन में उठता है कि ईश्वर का संदेश जिस प्रकार जातीय इकाइयों को सम्बोधित है, उसी प्रकार क्या व्यक्तियों में भी इसके साक्षात् अवतरण की सम्भावना को स्वीकार किया जा सकता है, कम से कम उनमें जो इसके लिए अपेक्षित साधन सामग्री से युक्त हैं, और जिनकी परिस्थितियां दिव्यमार्गदर्शन को अपरिहार्य बना रही हैं. यदि हम मार्गदर्शक स्रोत (ईश्वर) तथा उससे मार्गदर्शन पानेवाले के बीच सीधे सम्बन्ध की सम्भावना को स्वीकार कर लें, तो आस्था के संस्थागत आधार भले ही दुर्बल होते हों, संदेहवाद, और तज्जनित अनास्था और नास्तिकता सर्वथा अनिवार्य नही रह जाते. कारण स्पष्ट है. आस्था के प्रामाणिक संवाहकरूप में कल्पित — संदेशवाहक (पैगम्बर) और संदेश (धर्मग्रन्थ) — के सोपान ही आस्था में संदेह और अनास्था के नैसर्गिक आधार हैं. ईश्वर और मानव के बीच की इन कड़ियों का अपलाप अथवा आस्था के नियामकरूप में वैयक्तिक विवेक की स्वीकृति के साथ इनका अवमूल्यन, आस्था के संस्थागत स्वरूप और संदेह, दोनों के आधारों को एक साथ क्षतिग्रस्त कर देता है, किन्तु संस्थानिरपेक्ष भावरूप में 'आस्था' के लिए गुंजाइश बनाए रखता है. इंसान ने ईश्वर के स्थान पर उसकी मूर्तियां बना कर पूजना शुरू किया तो मूर्तिपूजाविरोधी सम्प्रदायों ने इसे 'जड़ता की पूजा', 'गूंगों और बहरों' की पूजा कह कर इसका उपहास किया, और इसे ईश्वर और मानवीय विवेक दोनों का अपमान बताया. इनमें से कुछ ने इस जड़ाचार का उच्छेद करने के लिए मंदिरों पर हमले किए और मूर्तियों को तोड़ कर धर्मयोद्धा (गाजी) की उपधि अर्जित की. मूर्तियों के खण्डन के साथ मूर्तिपूजकों की आस्था खण्डित हुई या नहीं और नहीं हुई, तो वह अखण्ड मूर्ति कौन सी थी जो खण्डित मूर्तियों के बीच आस्था को सम्हाले रही, इस बात का अनुसंधान दिलचस्प निष्कर्षों की ओर ले जाता है. मूर्ति तो उपासक के अन्दर विद्यमान एक जागृत भावप्रत्यय की पार्थिव छाया मात्र है, जिसके नष्ट हो जाने पर भी आस्था का भावरूप आलम्बन बना रह सकता है, मूर्ति की जड़ता से आस्था जड़ नही हो जाती, मूर्ति के भग्न होने, से आस्थावान् को कष्ट अवश्य होता है किन्तु मूर्ति टूटने से आस्था भी टूट जाय यह आवश्यक नहीं. यहां ध्यान देने की बात यह है कि जड़ता(जड़त्व) चेतन-व्यवहार का प्रतियोगी प्रत्यय है, जो केवल मूर्ति का नहीं उन समस्त मूर्त आलंबनों का अवच्छेदक है, जिनमें चेतन व्यवहार का अभाव है, और जो चेतन व्यवहार के, अर्थात् विचारशील आचरण के प्रतिबन्धक हैं. **जड़ाचार के इस अर्थ को ध्यान में रख कर विचार करें तो मूर्तियों को तोड़ कर निराकारोपासना के योद्धाओं**

का सम्पूर्ण आचरण एक विचित्र विरोधाभास को जन्म देता है. वे मूर्ति को तोड़ते हैं और पैगम्बर तथा पुस्तक के रूप में, सम्पूर्ण जड़ता के साथ मूर्त की स्थापना करते हैं. 'मूर्त' जो एक विजड़ित अतीत के चिन्ह हैं, और जो मूर्ति की भांति संवेदना-विहीन हैं, गूंगे और बहरे हैं. तथाकथित आसमानी किताबों की व्यवस्थाऐं हमारी अपनी संवेदनाओं के प्रति निरपेक्ष, हमारे अंतरंग वैयक्तिक संत्रास के प्रति तटस्थ हैं, अतः उन्हें 'बहरा' और चूंकि वे एक ऐसी भाषा बोलती हैं, ऐसे मुहावरों का स्तेमाल करती हैं, जो आज के युग में अर्थ खो चुके है, उन्हें गूंगे के अतिरिक्त कुछ और नहीं कह सकते. इन 'मूर्त-चिन्हों' को बडी सावधानी के साथ, कठोर कानूनी लिबास में ढँक कर रखा जाता है, कि कहीं कोई इनमें आई दरारों को देख न ले, और देख भी ले तो कहने का साहस न कर सके. इसके लिए इस्लामी मुल्कों के ईश-निन्दा विरोधी कानून और मौत के फतवे, अपनी सम्पूर्ण मध्यकालीन बर्बरता के साथ सम्भावित वैमत्य की अभिव्यक्ति को कुचलने के लिए सतत सन्नद्ध रहते हैं. पैगम्बरे इस्लाम, एक महापुरुष थे, इसमें संदेह नहीं, किन्तु थे तो इंसान ही. उनमें इंसानी दुर्बलताओं की कोई चर्चा करे तो इस्लाम की इससे कोई सैद्धान्तिक हानि नहीं होती. किन्तु इस्लामी व्यवस्था में पैगम्बरे इस्लाम एक मूर्त चिन्ह के रूप में, एक अपार्थिक मूर्ति के रूप में प्रतिष्ठित हैं, जिसे तोड़ने की बात तो दरकिनारे, उसमें साफ दिखती दरारों की चर्चा भी, कोई अपनी जान को जोखिम में डाल कर ही कर सकता है. दूसरों के उपासना स्थलों को, बर्बरतापूर्वक नष्ट करके निराकारोपासना के गाजी होने का अभिमान करने वाले, अपने खयाली बुतों को लेकर किस कदर बेचैन रहते है, सल्मान रश्दी के विरूद्ध मौन का फतवा, कादियानियों (मुसलमानों का एक सम्प्रदाय जो पैगम्बरे इस्लाम को आखिरी नबी नहीं मानता) पर ढाए जाते जुल्म, और शरियत कानून के रूप में मध्ययुगीन जड़ता की अविकल प्रतिष्ठा के लिए चल रहे अन्दोलन इसका पैमाना हैं.

ऊपर दिए विवरण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आस्था में पैंठती जड़ता का हेतु **'मूर्तिपूजा'** उतना नही है, जितना **'मूर्तपूजा'** है. वस्तुतः 'मूर्तपूजा' न केवल 'मूर्तिपूजा' का अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म और व्यापक रूप है, अपितु अधिक विजड़ित और विकृत भी, क्योंकि मूर्तिपूजा का तो प्रतीकपूजन रूप में उद्धार और चेतन-अर्थ में जागरण सम्भव भी है, किन्तु आस्था के जो मूर्त-आलंबन है, उनमें तो प्रतीकात्मक व्याख्या की भी गुंजाइश नहीं होती, क्योंकि इससे सम्पूर्ण मूर्त-वितान के विघटित होने का खतरा पैदा हो सकता है. वैचारिक जड़ता, असहिष्णुता

और कट्टरपंथी दुःसाहस, मूर्तिपूजा के नहीं, मूर्तपूजा के परिणाम हैं. इस रहस्य को इस्लाम धर्मानुयायी ही नहीं, इस्लाम के प्रभाव में विकसित, हिन्दुओं के बीच सिख और आर्यसमाज जैसे मूर्तिपूजा विरोधी सम्प्रदाय भी ठीक से नहीं समझ सके, यह सचमुच आश्चर्य की बात है. श्रीमद्भगवद्गीता आस्था के एक ऐसे आयाम का उद्घाटन करती है जो मानव और ईश्वर के बीच सीधे संवाद की संभावना को स्वीकार करते हुए समस्त मूर्त माध्यम-श्रृंखला की सीमित प्रयोजकता का निदर्शन कराते हुए अन्ततः उसे पूरी तरह से अप्रासंगिक बना देती है. प्रतीकों के टूट जाने पर भी उनके मनोगत भावबीज बने रहते हैं, जो अवसर पाते ही पुनः मूर्त हो उठते हैं. अतः गीता, मूर्तिभंजकों की भांति किसी आस्था प्रतीक को तोड़ने की बात नहीं करती. वह आर्यसमाजी-प्रज्ञावाद की शैली में मूर्ति की या मूर्त की - किसी की भी पूजा का खण्डन नहीं करती, क्योंकि आध्यात्मिक विकास के क्रम में व्यक्ति के लिए, मूर्ति, पैगम्बर और पुस्तक, ये सभी उपादान महत्त्वपूर्ण रूप से सहायक हो सकते हैं. वह आस्था के मूर्त आलंबनों को, उनके खण्डन और मण्डन को विचार का विषय बनाने के बजाय, आस्था की व्यापक, साक्षात्कारात्मक सम्भावना का उद्घाटन करती है, जिसकी स्वीकृति मात्र से आस्था के समस्त मूर्त वितानों की सीमित अर्थवत्ता उजागर होजाती है, और जिसका अभ्युदय होने पर वे स्वतः अप्रासंगिक हो जाते हैं. भरी दोपहर में दिए जल भी रहे हों, तो उनकी प्रासंगिकता क्या? नदी किनारे बैठा व्यक्ति घडा भर पानी लेकर बैठे तो अटपटा ही लगेगा. लेकिन उसका आचरण और भी अटपटा तब लगेगा जब वह आसपास रखे घड़ों को तोड़ना शुरू कर दे, यह कहते हुए कि ''मुझे अब इनकी क्या जरूरत है?" अपने बुतों से डरे सहमे, अपनी छायाओं से लड़ते, और लोगों को लड़ाते इस्लाम के अल्लाह की तरह, आसमान में उठता हुआ सूरज अगर दियों को फूंक मार कर बुझाता हुआ चले, या लोगों को आसमान से चीख चीख कर यह संदेश दे कि इन दीपकों को उठा कर फेंक दो क्योंकि अब मै उग रहा हूं, तो हमें यह सोचने को मजबूर हो जाना पड़ेगा कि इस सूरज को अपने होने में, अपने सूरज होने में भरोसा भी है या नहीं. सूरज निकल आया, इतना काफी है. धरती के लोग उसकी रोशनी में अपनी प्राथमिकताएं किस तरह तय करते हैं, यह उनका काम है. फिर इस धरती पर ऐसे भी कोने हो सकते हैं जहां सूरज की किरन नहीं पहुंच सकती. ये दिये वहां उपयोगी होंगे; जो नदी किनारे बैठा है उसे भले ही घड़े की जरूरत न हो, लेकिन जो नदी से दूर रहते हैं, उनके लिए इस साधन की उपयोगिता से कैसे इन्कार किया जा सकता है.

जिन संदर्भों से इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं, अधिमुद्रित धर्मों के संहिताबद्ध स्वरूप में उनके विवेक के लिए न अवकाश होता है, और न ही सामर्थ्य.

मानव की अन्तरंग आध्यात्मिक मांग, और तदनुसार आस्था के व्यक्तिप्रमाणरूप की समस्या, सभी सम्प्रदायों की एक सामान्य समस्या है. इसका कारण यह है कि शास्त्रों की व्यवस्थाएं सामान्यतया मानव की सामूहिक पहचान के छोटे बडे दायरों को सम्बोधित होती हैं. अतः न तो शुद्ध वैयक्तिकता और उससे प्राप्त नैतिक-निर्णय की परिस्थितियां उनके विधान का विषय बन सकती हैं, और न ही वे मानव के किसी सार्वभौमिक अर्थ को सम्बोधित कही जा सकती हैं. श्रीमद्भगवद्गीता की संवादरूप में संरचना, एक साथ व्यक्ति और ईश्वर, व्यष्टि और समष्टि के मध्य साक्षात् सम्बन्ध की सम्भावना को अर्थ देते हुए, एक ओर जहां आस्था में व्यक्तिक्षेत्र को मान्यता देती है वहीं उसको मानव की तात्त्विक अवधारणा में प्रतिष्ठित करने के लिए गुंजाइश बनाती है. गीता न केवल आस्था में व्यक्ति की हैसियत को सुनिश्चित करती है, अपितु हर व्यक्ति में ईश्वर के साथ साक्षात् संवाद की जिस सम्भावना को स्वीकार करती है, वह पैगम्बरों की हैसियत से कहीं ज्यादा है. खुदा से पैगाम लेकर ईमानदारी के साथ इंसानों तक उसे पहुंचा देना, यह हजरत मूसा, ईसा और मुहम्मद साहब जैसे पैगम्बरों का हक था, और उन्होंने इसे बखूबी अंजाम दिया. लेकिन धर्म को लेकर खुदा के साथ सवाल जवाब करना, उसकी उपयुक्तता का आकलन करना यह नबियों के दायरे की बात नहीं थी. यह डाकिए का काम नहीं होता कि वह बताए कि खत में क्या लिखा जाना है. धमदिश लेने का अधिकार केवल नबियों का रहे तो इसमें किसी को क्या आपत्ति होगी, जब कि गीताधर्म आम आदमी को ईश्वर के साथ सीधे संवाद के द्वारा, अपने लिए उपयुक्त धर्म के अनुसंधान का अधिकार सौंप रही है. यह उससे कहीं अधिक है जो नबियों को मिला है. इस्लाम धर्म का कहना है कि पैगम्बरे इस्लाम के बाद अब दुनियां में कोई नबी नहीं आएगा. इस मान्यता को, जिसे इस्लामी धर्मदर्शन में ***खत्मुल्नबूवत*** नाम से जाना जाता है, हम इस अर्थ में स्वीकार करते हैं कि आज के बदले हुए आध्यात्मिक परिवेश में नबी परम्परा अप्रासंगिक हो चुकी है. जिन कबीलाई परिस्थितियों में नबी परम्परा का समारम्भ हुआ, और जिनके चलते वह अर्थवान् थी, वे आज अस्तित्त्व में नहीं हैं. कबीलाई परिवेश में सामाजिक इकाई से भिन्न, न तो व्यक्ति की, उसकी वैयक्तिक मांग और अधिकारों की कोई चेतना थी, और न ही 'मानव' की कोई सार्वभौमिक अवधारणा. इंसान की उस कबीलाई दुनियां में एक ही पहचान थी, और वह

थी उसकी 'कौम' अतः यह सहज समझ में आता है कि उस दौर में अल्लाह ने कौमों के माध्यम से ही इंसान के साथ सम्बन्ध बनाए. अलग अलग कौमों के लिए पैगम्बर भेजे और उनके द्वारा भेजे संदेश (धर्मग्रन्थ) मुख्तलिफ कौमों के लिए सम्बोधित थे. कुरान शरीफ में ऐसी अनेक आयतें हैं, जिनमें अल्लाह की तरफ से यह कहा गया है कि ''जैसे और कौमों के लिए हमने किताबें भेजी हैं, उसी तरह अरब कौम के लिए कुरान पाक भेजा गया है. ये आयतें स्पष्ट रूप से इस्लाम की जायज भौगोलिक हदबंदी को बताती हैं. इन संदर्भों को ध्यान में रखकर विचार करें तो इस्लामी जेहाद के नाम पर दूसरों के धर्मस्थलों को नष्ट करने और आतंकवादी गतिविधियों का सदियों से चला आ रहा जो नग्नताण्डव धरती पर हो रहा है, मानवता के विरुद्ध तो अपराध है ही, कलाम पाक द्वारा इस्लाम के लिए निर्धारित जायज हदबंदी का भी अतिक्रमण है.

पैगम्बरवादी धर्म मूलतः कबीलाई धर्म थे, जिनकी निश्चित कौमी पहचान थी, जो उनके दायरे को, उनकी धार्मिक सत्ता के अनुमोदित क्षेत्र को परिभाषित करती थी. कबीलाई स्पर्धा और दूसरे कबीलों को पददलित करके अपने कबीले की श्रेष्ठता को मनवा लेने की कबीलाई आकांक्षा कहीं इनके धर्मप्रचारक उन्माद का स्रोत थी, तो कहीं धर्मयुद्धों का. इन धर्मों में आस्था की सार्वभौमिकता का केवल एक ही अर्थ हो सकता था, वह था बलपूर्वक या धन की मदद से अन्य धर्मों का उच्छेद, तथा सारे संसार को अपने धार्मिक साम्राज्य के अन्तर्गत लाना. इस प्रयोजन से, एक ओर जहां दुनियां के विभिन्न भागों में, इस्लामी जेहाद(धर्मयुद्ध) लड़े जा रहे हैं, तो दूसरी ओर, एशिया और अफ्रीका के गरीब देशों में, ईसाई मिशनरियों द्वारा सेवा की दुकानें खोली हुई हैं, जहां सुविधाओं के बदले धर्मान्तरण कराया जा रहा. उद्देश्य एक ही है : 'सारे संसार में ईश्वर के राज्य की स्थापना', अर्थात् 'अपने ईश्वर के राज्य की स्थापना'. अपने ईश्वर के लिए जेहाद करते, अपने ईश्वर के लिए दूसरों का ईमान खरीदते, अपनी आदिम कबीलाई आकांक्षाओं को ढोते रहने को अभिशप्त, ये धर्म, आज की सभ्यता के लिए सबसे बड़ा खतरा हैं. कबीलाई पहचान (जातीय अस्मिता) से मुक्ति, मानव के विकास के क्रम का एक महत्त्वपूर्ण सोपान है, जो उसके लिए सभ्यता और आध्यात्मिक विकास की भावी सम्भावनाओं के द्वार खोलता है. आस्था को, व्यापक आधारों में जातीयप्रतिबद्धताओं से मुक्त करने के लिए, श्रीमद्भगवद्गीता, दो स्थापनाएं प्रस्तुत करती है : आस्था में वैयक्तिक अस्मिता की प्रतिष्ठा, तथा मानव की तात्त्विक अवधारणा. ये मूलमान्यताएं आस्था को एक सर्वथा नया अर्थ देती हैं, जिसमें, आस्था के आलंबन, अनुल्लङ्घ्य

अनुशासन न हो कर, व्यक्ति की आध्यात्मिक योजना में साधन बनते हैं. अतः गीता आस्था के किसी भी आलम्बन का — वह मूर्तिरूप में हो या पैगम्बर, गुरु या पुस्तक जैसे मूर्तरूपों में — न तो खण्डन करती है, और न ही किसी भी आलम्बन के, आस्था के एक मात्र तात्त्विक विग्रह के रूप में दावे को स्वीकार करती है. सभी विग्रह साधन रूप में ही स्वीकार्य हो सकते हैं, और इस रूप में इन सभी की एक सीमित प्रायोजकता बनती है. इस सीमित प्रायोजकता में देशकाल के साथ व्यक्ति क्षेत्र भी महत्त्वपूर्ण रूप से नियामक होता है. इस दृष्टि से विचार करने पर आस्था में वैमत्य की सम्भावना, नीचे लिखे अर्थों में चरितार्थ हो सकती है.

आस्था का कोई भी आलंबन — शास्त्र, अवतारी पुरुष और उसका उपदेश — व्यक्ति के परीक्षण, पुनर्व्याख्यान या प्रत्याख्यान का अविषय नहीं हो सकता. देश-काल तथा अपने व्यक्तिक्षेत्र के संदर्भ में धार्मिक प्रतिबद्धताओं के परीक्षण, मूल्यांकन, तदनुसार पुनर्व्याख्यान, और परिष्कार से लेकर, आंशिक अथवा पूर्ण प्रत्याख्यान तक की अनुमति, आस्था में वैमत्य के अधिकार का प्राथमिक निर्धारण है. प्राप्त उपादानों में से अपने लिए सार्थक विग्रह के चुनाव की स्वतंत्रता, इसका दूसरा फलितार्थ है. यावन्मात्र मूर्त-आलंबनों की सीमित प्रायोजकता का एहसास करते हुए, अपने लिए उपयुक्त आस्थापथ का अनुसंधान, इसकी तीसरी, चरम परिणति है. आस्था में वैमत्य की सम्भावनाओं की यह परिणतियां, सर्वत्र चरितार्थ हों, यह आवश्यक नहीं है. वैमत्य विधान नहीं है; यह परिस्थिति विशेष में, आस्था में उत्पन्न व्यक्ति के अधिकार की मान्यता है. यह परिस्थिति विशेष है, वैयक्तिक विवेक और संस्थागत धर्म के बीच विसंवाद और परस्पर अप्रायोजकता का एहसास. इस विसंवाद के निराकरण के दो तरीके हैं. एक है, वैमत्य का बलपूर्वक उच्छेद, और धार्मिक विधान की बलात् स्थापना, अर्थात् धार्मिक अधिनायकत्व, दूसरा है, धार्मिक विधान को वैयक्तिक-विवेक के प्रति जवाबदेह बनाना. इस जवाबदेही का अर्थ है, आस्था में अपने मानवीय अधिष्ठान के साथ समझ के रिश्ते की तलाश, जो वैयक्तिक और सामूहिक स्तरों पर, आस्था के पुनरावलोकन की प्रक्रिया को जन्म देते हुए, उसके निरपेक्ष विधान को, एक चेतन, गत्यात्मक अर्थ प्रदान करती है.

इस वैमत्याधिकार की कोई सीमा है तो यही कि वैमत्य के लिए निर्भयता और सह-अस्तित्व का जो आश्वासन पारम्परिक धर्म से मिला है, वह उस अधिकार को दूसरों के लिए सुरक्षित रखेगा,

और अपनी प्रतियोगिक, पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आस्थाओं के लिए उसकी अबाधित प्रसक्ति को सुनिश्चित करेगा. निर्भयता और सह-अस्तित्व का यह पारस्परिक आश्वासन, हिन्दू आस्थासंघ का आधार है, साथ ही उसकी द्वन्द्वात्मक संरचना का भी, जिसका अर्थ है, आस्था में वैमत्य का संग्रह.

वैमत्यसहिष्णुता पर आधारित हिन्दूधर्म की आस्तरणिक संरचना :

८.१ बहुत्ववादी समाज – वैमत्यसहिष्णुता की प्रथम परिणति :

बहुत्ववाद हिन्दू आस्था का सामाजिक यथार्थ है. इसे आज के राजनैतिक, धर्मनिरपेक्षी बहुत्ववाद के साथ विक्षिप्त करके नहीं देखना चाहिए. वैमत्यसहिष्णुता यहां कानून नहीं अपितु आस्थासूत्र है, जो एक बहुसम्प्रदायी समाज को हिन्दू पहचान देता है. इससे भिन्न, संवैधानिक बहुत्ववाद में, जो केवल कानूनी धरातल पर वैमत्य के अधिकार को मान्यता देता है, किसी भी सम्प्रदाय को यह छूट है कि समस्त सामान्य और विशेष संवैधानिक संरक्षणों का लाभ उठाते हुए, वह आस्था के धरातल पर इतर सम्प्रदायों के प्रति घृणा और सशस्त्र संघर्ष(जेहाद) का खुलकर प्रचार करता रहे, वैमत्य के विरुद्ध फतवे और हुक्मनामे जारी कर सके, और आस्था की मान्यताओं को परखने वाले चिन्तन को बलपूर्वक निरुद्ध करवा सके. इसमें एक ओर वैमत्य के अधिकार को वैधानिक हैसियत प्राप्त है, तो दूसरी ओर अनिर्बन्ध अल्पसंख्यकाधिकारों के अन्तर्गत पनपती, संविधान-संरक्षित साम्प्रदायिकता को धार्मिक शिक्षा के नाम पर घृणा का प्रचार करने, धार्मिक स्वतंत्रता के नाम पर फतवे जारी करने और धार्मिक वैमत्य को बलपूर्वक निरुद्ध करने के अनिर्बन्ध राजनैतिक अधिकार प्राप्त हैं. यह मिथ्याचार, सम्प्रदायों की मूलमान्यताओं के परीक्षण के बिना, बिना यह सुनिश्चित किए कि सम्प्रदाय अपनी आस्था में न्यूनतम मानववादी मूल्यों को स्वीकार करें, वैधानिक व्यवस्था में उनका संग्रह किए जाने के कारण हुआ है. संविधान की दृष्टि में, सभी धर्म, सभी सम्प्रदाय समान हैं, किन्तु यदि कोई सम्प्रदाय, उक्त संवैधानिक व्यवस्था का लाभ उठाते हुए, आस्थारूप में इतर सम्प्रदायों के प्रति घृणा का पोषण करता है, उनके उच्छेद के लिए सशस्त्र संघर्ष (जेहाद) को एक अनिवार्य धार्मिक कर्तव्यरूप में प्रतिपादित करता है, तो क्या इसकी अनुमति दी जा सकती है. क्या इस बात की अनुमति दी जा सकती है कि अल्पसंख्यकाधिकारों के अन्तर्गत सरकारी अनुदान से चल रही शिक्षण संस्थाओं में, धार्मिक शिक्षा के रूप में, न केवल संप्रदाय विशेष की शिक्षाओं का प्रचार हो अपितु धार्मिकशिक्षा के नाम पर उस सम्प्रदाय के, इतर

सम्प्रदाय विद्वेषी विचारों के प्रचार की भी छूट हो.

जब तक प्रत्येक सम्प्रदाय, आस्था के धरातल पर बहुत्ववाद को स्वीकार नहीं करता, अर्थात् अपनी आस्था में अन्य सम्प्रदायों के प्रति सम्मान और उनके अधिकार को सुनिश्चित नहीं करता, तब तक अनिर्बन्ध संवैधानिक व्यवस्थाएं समाज में समस्याऐं पैदा करती रहेंगी. आस्था के स्तर पर बहुत्ववाद को स्वीकार कर लेने के बाद, धर्मान्तरण कराने के उद्देश्य से किए गए धर्मप्रचार का कोई औचित्य नहीं रहा जाता. वस्तुतः इतर सम्प्रदायावलंबियों की आस्था को अव्यवस्थित करने के उद्देश्य से किया गया धर्मप्रचार बहुत्ववादी समाज एवं विधान के विरुद्ध एक अपराध है.

ईसाई मिशनरियों द्वारा, धर्मान्तरण कराने के सुनियोजित प्रयत्नों के विरुद्ध, गुजरात, मध्यप्रदेश तथा उड़ीसा में जो हिंसक प्रतिक्रियाएं हुईं, उनका कोई भी सभ्य समाज समर्थन नहीं कर सकता. किन्तु यह बात भी अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि जब हम अपनी आस्था के अनुसार जीने का अधिकार मांगते हैं, तो हमें, अन्य धर्मावलंबियों के आस्था के अधिकार को न केवल मान्यता देनी होगी अपितु उसका सम्मान भी करना होगा, जब कोई व्यक्ति यह कहे कि "मैं तो अपनी आस्था के अनुसार जीऊंगा ही, किन्तु तुम्हें तुम्हारी आस्था के अनुसार जीने नहीं दूंगा, क्योंकि तुम्हारा ईमान खरीदने के लिए मेरे पास पैसा है; मेरे पास स्कूल हैं, मेरे पास अस्पताल है; देश विदेश घूमने की अगर तुम्हारी तमन्ना है, तो उसके साधन भी हैं", तो निश्चय ही वह ज्यादती कर रहा है. ईसाइयों को, उनकी आस्था के अनुसार जीने से, गिरजाघर जाने और बाइबिल पढने से तो किसी ने नहीं रोका. हां, यह सुविधासम्पन्न समुदाय,अन्य धर्मावलंबियों को जिनमें अधिकांश गरीब और अशिक्षित है, उनके धर्म पालन से रोक रहे हैं, तथा उन्हें उनकी परम्परागत स्वीकृत आस्था से भटका रहे हैं. यह प्रकरण बहुसंख्यकाधिकार आयोग का विषय तो हो सकता है, किन्तु किसी भी रूप में अल्पसंख्यकाधिकार आयोग का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी यह नहीं कह सकता कि अपनी आस्था का पालन करने के साथ दूसरों को उनकी आस्था से भटकाना भी अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सूची में आता है.

कहने का तात्पर्य यह है कि सम्प्रदायों को आस्था के धरातल पर पुनर्व्याख्यानादि के द्वारा बहुत्ववाद के प्रति दायित्वबोध से जोड़े बिना, धर्मनिरपेक्षता के नाम पर धार्मिक अल्पसंख्यकाधिकारों की एकतरफा संवैधानिक व्यवस्थाएं समाज में अराजकता को ही जन्म देंगी, क्योंकि वे आस्था

के स्तर पर बहुत्ववादविरोधी, तथाकथित अल्पसंख्यक समुदायों की विद्वेषपूर्ण धार्मिक महत्त्वाकांक्षाओं की न केवल अनुमति देती हैं, अपितु अल्पसंख्यकाधिकार आयोग जैसी संस्थाओं के द्वारा उन्हें संरक्षण देती हैं. इस संवैधानिक साम्प्रदायिकता से भिन्न, हिन्दूबहुत्ववाद, वैमत्य के अधिकार के साथ, सीधे आस्था के धरातल पर, सम्प्रदायों के बीच, संवाद,सहभाग, और निर्भयता के पारस्परिक आश्वासन की मान्यता पर टिका है, जिसे वह अपनी प्रत्येक साम्प्रदायिक इकाई में आस्था के धरातल पर सुनिश्चित करता है. यह कार्य कोई संविधान नहीं कर सकता, क्योंकि आस्था संविधान का विषय नहीं; यह कार्य (हिन्दूधर्म को छोड़ कर) संसार का कोई धर्म नहीं कर सकता, क्योंकि अन्यान्य धर्मों में, वैमत्य की मान्यतारूप वैचारिक उपादान प्राप्त नहीं है. इस दृष्टि से हिन्दू-बहुत्ववाद, धर्मदर्शन के इतिहास की एक अनौखी उपलब्धि है, जिसके जैसा कोई दूसरा उदाहरण नहीं है. श्रीमद्भगवद्गीता के नीचे दिए श्लोकों में, हिन्दू-बहुत्ववाद की मूलमान्यताओं का बड़े ही सुन्दररूप में संग्रह किया गया है —

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।। ३. २९

(प्रकृति के गुणें से सम्मोहित हुए लोग गुणों के कर्मों में आसक्त होते हैं. उन पूर्णरूप से न समझने वाले मन्दबुद्धि पुरुषों को अच्छी प्रकार समस्त तत्त्व को समझने वाला आत्मज्ञानी पुरुष चलायमान न करे, अर्थात् उनमें भेद बुद्धि पैदा न करे.)

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। ४. ११

क्योंकि हे अर्जुन ! जो मेरे को जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूं, इस रहस्यको जानकर ही बुद्धिमान् मनुष्यगण सब प्रकार से मेरे मार्ग के अनुसार बर्तते हैं.

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।। ७. २१
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ।। ७.२२

जो जो सकामी भक्त - जिस जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस उस भक्त की मैं उस ही देवताके प्रति श्रद्धाको स्थिर करता हूं, तथा वह पुरुष उस श्रद्धा से युक्त हुआ, उस देवताके पूजन की चेष्टा करता है और उस देवता से मेरे द्वारा ही विधान किए हुए उन इच्छित भोगों को निःसन्देह प्राप्त होता है.

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।। ९.२३

और हे अर्जुन ! श्रद्धा से युक्त हुए जो सकामी भक्त, दूसरे देवताओं को पूजते हैं, वे भी मेरे को ही पूजते हैं, किन्तु उनका वह पूजना अविधिपूर्वक है, अर्थात् अज्ञानपूर्वक है.

८.२ वैमत्य का आस्था में द्वन्द्वात्मक संग्रह : वैमत्य सहिष्णुता की द्वितीय परिणति

यहां विचार करने की बात यह है कि वैमत्य सहिष्णुता, वैचारिक विरोध को सहन करना अथवा उसकी उपेक्षा करना स्वयं में एक अभावात्मक मूल्य है. वैमत्य को उस समय एक सार्थक भूमिका मिलती है, जब उसकी चेतना हमारे भीतर आत्मानुसंधान की, अपनी आस्था के परीक्षण और पुनराख्यान की प्रक्रिया को जन्म देती है. वैमत्य की स्वीकृति, सहन करने की या बर्दाश्त करने की विवशता का नाम नहीं है, अपितु यह आस्था की गत्यात्मकता का मूल उत्स है, वैचारिक स्फुरण बिन्दु, जो अनुसंधान द्वारा आस्था में वैमत्य के द्वन्द्वात्मक संग्रह को जन्म देता है. नीचे लिखा विश्लेषण यह समझने में सहायक हो सकता है कि कि द्वन्द्वात्मक संग्रह से हमारा क्या तात्पर्य है.

ब्राह्मणधर्म (यज्ञधर्म) के प्रति अनास्था के बीज उपनिषदों में ही दिखाई देने लगते हैं. उनका पल्लवन बौद्ध और जैन दर्शनों में हुआ. कालान्तर में, जहां वेदान्तदर्शन, विशेष रूप से शाङ्कर वेदान्त, बौद्ध तत्त्वचिन्तन को औपनिषदिक आधारों में पुनः प्रतिष्ठित करता है, वहीं महाभारत में जैन-दर्शन के अहिंसावाद को, जो अपने विचारपथ को मूलतः वैदिककर्मकाण्ड के विरुद्ध परिभाषित करता है, एक सनातन वैदिक मूल्य के रूप में स्थापित करने का प्रयास हुआ है. यह संग्रह द्वन्द्वात्मक इस अर्थ में हैं कि परवर्ती वैमत्य के संग्रह के लिए जो वैचारिक दायरा बनाया गया है, उसमें पूर्वमूल का परित्याग नहीं, अपितु पुनरावलोकन और पुनर्व्याख्यान हुआ है. वस्तुतः एक सार्वभौमिक हिन्दूमूल्य के रूप में अहिंसा की प्रतिष्ठा का इतिहास हिन्दू आस्था के द्वन्द्वात्मक स्वरूप का एक समग्र निदर्शन है. **'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि'** यह वेदवाक्य, अहिंसा का स्पष्ट, निरुपाधिक विधान करता है. इस विधान का साक्षात् विरोध प्राप्त होता है वेद के कर्मकाण्ड-परक अर्थ और तदाश्रित धर्म मे, क्योंकि कर्म का निष्पादन पूरी तरह हिंसा से मुक्त हो यह सम्भव नहीं है. हिंसा अर्थात् पररूप में विकृति, कर्म का अनिवार्य परिणाम है. यह अलग बात है कि हम

उसे हमेशा लक्ष न कर पायें. कर्मकाण्डमूलक धर्म से भिन्न, वेदान्त तथा बौद्धधर्म के रूप में जो चिन्तन धाराएं सामने आई उन्होंने आस्थारूप में कर्मकाण्ड की अर्थवत्ता को तो विवेचना का विषय बनाया, किन्तु हिंसा को उन्होंने याज्ञिक चिन्तन की ही भांति कर्म की स्वाभााविक गति मानते हुए उसे विवाद का विषय नहीं बनाया. अहिंसा के सैद्धान्तिक आधारों पर, वैदिक धर्म की समीक्षा वेदान्त अथवा बौद्धधर्म की ओर से नहीं अपितु जैन धर्म के द्वारा की गई, जो बुद्धधर्म से प्राचीन तथा वैदिकधर्म के लगभग समानान्तर विकसित होती श्रमणपरम्परा का प्रतिनिधित्व करता था. अहिंसा को आधारभूत जीवन मूल्य मानते हुए इसके आधार पर वैदिक कर्मकाण्ड का खण्डन तथा कर्म की स्वाभाविक गति के रूप में हिंसा की स्वीकृति का श्रमण दार्शनिकों ने इतने सबल रूप में खण्डन किया कि वैदिकपरम्परा अपने मूल्यदर्शन पर नए सिरे से विचार करने के लिए विवश हो गई. उन्होंने हिंसा-स्वभाववाद का परित्याग करते हुए यज्ञधर्म के निर्वाह की विवशता के कारण केवल वैदिक कर्मकाण्ड के उपपादक, अपवाद-स्थल तक हिंसा की स्वीकृति को सीमित कर दिया. इतना ही नहीं यदि हम सम्बन्धित अपवाद वाक्य पर विचार करें, तो यह स्पष्ट होते देर नहीं लगेगी कि वे ऐसा कोई संदेश नहीं देना चाहते जिससे लगे कि वे अहिंसा की सार्वभौमिक प्रतिष्ठा के विरुद्ध किसी अपवाद की स्थापना कर रहे हैं. '***वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति***' यह वाक्य वैदिक हिंसा में अपवाद स्थल की पहचान नहीं कराता, अपितु तत्र प्रयुक्त हिंसा में हिंसत्व का, उसके हिंसारूप होने का निषेध करता है. कहने का तात्पर्य यह हुआ कि 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' यह जो वैदिक विधि है यह अपने सार्वभौमिक स्वरूप में अव्यभिचरित है. किन्तु महत्त्वपूर्ण बात जिसकी ओर हम ध्यान दिलाना चाहते हैं, वह है हजारों वर्ष के कालक्रम में बिखरी वैचारिक प्रक्रिया, जिसके द्वारा एक वैदिक-मूल्य की हिन्दू-मूल्य रूप में स्थापना हुई. यह अहिंसा वैदिक नहीं, क्योंकि यह वैदिक अवधारणा के संकोच से मुक्त है; श्रमण अतिचार से मुक्त होने के कारण इस अहिंसा को हम जैन-अहिंसा भी नहीं कह सकते. निर्विवाद रूप से वैदिक अथवा आगम उद्भव के वाबजूद सुदीर्घ चिन्तन के बाद अहिंसा की जिस प्रबुद्ध, व्यावहारिक अवधारणा की स्थापना हुई है, वह स्पष्टरूप से एक हिन्दूमूल्य है. इस प्रक्रिया का इतिहास देखना चाहें तो महाभारत को, विशेषरूप से शान्तिपर्व को देखें जहां हिंसा और अहिंसा को लेकर विस्तृत शास्त्रार्थों के विवरण मिलते हैं. इन्हें पढकर लगता है महाभारतकार किसी निर्णय पर पहुंच नहीं पा रहे हैं. निर्णय वाक्य तो श्रीमद्भगवद्गीता ही है. महाभारत में तो द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के द्वारा उन मूलभूत

सिद्धान्तों तथा मूल्यों की पहचान की गई है जो श्रीमद्भगवद्गीता में उच्चतर संश्लेषण के लिए उपादान बने हैं. यहां तो केवल एक उदाहरण के द्वारा इस ऐतिहासिक प्रक्रिया का निदर्शन कराया गया.

इस्लामधर्म के आगमन के साथ, इस देश का धार्मिक परिदृश्य पूरी तरह बदल चुका था. किन्तु मुस्लिमयुग में भी, संग्रह की यह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया अनवरत प्रवहमान दिखती है. इस्लामधर्म के आधारभूत धार्मिक मूल्य हैं : एकेश्वरवाद, निराकारोपासना, मूर्तिपूजाविरोध, तथा एकशास्त्रवाद. इस्लामधर्म की इन मान्यताओं तथा उनके द्वारा प्रस्तुत सैद्धान्तिक चुनौतियों ने, हिन्दूशास्त्रों तथा वैचारिक परम्पराओं पर, नए सिरे से अनुशीलन तथा पुनर्निर्वचन को आवश्यक बना दिया. इस अनुशीलन ने हिन्दूधर्म में इस्लाम के विचारपूर्ण संग्रहों को जन्म दिया. इनमें निर्गुणभक्ति सम्प्रदायों, सिखपंथ तथा आर्यसमाज जैसे धार्मिक आन्दोलन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं. इस विषय पर विशेष चर्चा अपनी विस्तृत भाष्यभूमिका में करेंगे. यहां कथ्य केवल इतना है कि वैमत्य के द्वन्द्वात्मक संग्रह की प्रक्रिया हिन्दू-आस्था का अपरिहार्य अंग है.

८.३ द्वन्द्वात्मक संग्रह की वैयक्तिक संदर्भों में अवगति, उसका सर्जनात्मक स्वरूप : वैमत्यसहिष्णुता की तृतीय परिणति :

उपर्युक्त प्रक्रिया के द्वारा महाभारत से प्राप्त उपादानभूत सिद्धान्त अपनी पुस्तकीय अथवा साम्प्रदायिक परिच्छित्तियों को शिथिल करते हुए गीत के अवयव की गत्यात्मक भूमिका में प्रवेश करते हुए गीतार्थ का सृजन करते हैं, जो आस्था के सर्जनात्मक अवगाहन का निमित्त बनता है. राग की संरचना में, वादी संवादी स्वरों के अलावा विसंवादी स्वर का भी निपुण संग्रह होता है, कुछ इस प्रकार कि उससे राग का स्वरूप अधिक मुखर, अधिक सुन्दर हो उठता है. हिन्दूधर्म में वैमत्य का जिस प्रकार सार्थक संग्रह करने का प्रयास हुआ है, उसे समझने के लिए राग के रूपक से बेहतर और कोई तरीका नहीं हो सकता. इसे धर्मचिन्तन की द्वन्द्वात्मकता भी कहा जा सकता है, बशर्ते कि यह ध्यान रखा जाय कि ऐसा निर्वचन एक न्यूनविज्ञप्ति है. द्वन्द्वात्मकता विरुद्धार्थ-संग्रह की केवल तार्किक संरचना को बताती है जो विशुद्ध बौद्धिक-चिन्तन के लिए, दार्शनिकता के लिए अभिव्यक्ति की आखिरी हद है. गीता में द्वन्द्वात्मकता की यह परिणति — सिद्धान्त में विरुद्धार्थसंग्राहक मूलमान्यतासंघात — अन्तरंग सर्जनात्मकता से जुड़कर गीत बन जाता

है. यह सर्जनात्मकता अभिव्यक्ति के आह्लाद और अंतरंग प्रामाणिकता दोनों का स्रोत है.

कोई भी सिद्धान्त, कोई भी साम्प्रदायिक मान्यता, वैदिक कर्मकाण्ड हो या फिर मनु का धर्मशास्त्र, वेदान्त अथवा सांख्य का तत्त्वचिन्तन हो या योग की साधना पद्धति, गीता में प्रवेश करते समय इनमें से कोई भी अपने प्रसिद्ध परिभाषित अर्थ में रूढ़ नहीं रह पाते. महाभारत में द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के द्वारा जो सिद्धान्त अथवा जीवनमूल्य केन्द्रीय महत्त्व के बनकर उभरे, वे ही अब गीता में एक गत्यात्मक भूमिका में अवतरित होते हुए, सर्जनात्मक अर्थ के, रसात्मक अभिव्यक्ति के, संक्षेप में गीता के गीतत्व के उपादान बनते हैं. रसात्मक अभिव्यक्ति का आधार होता है वैयक्तिकता. आस्था में व्यक्तिक्षेत्र की मान्यता तथा सनातन सिद्धान्तों का इसकी सार्थक अवगति में विनियोग ही गीताधर्म का रहस्य है. श्रीमद्भगवद्गीता एक व्यक्तिक्षेत्र (अर्जुन) में इस अवगति की प्रक्रिया का निदर्शन है. दूसरे लोग इसे पढकर अपने लिए उपयुक्तसाधनापथ का अनुसंधान करें, यह गीतोपदेश का प्रयोजन है. आचार्य शङ्कर बडे ही सार्थक रूप में यह प्रश्न उठाते हैं, कि आखिर अर्जुन को ही गीतोपदेश क्यों? अर्जुन कोई धर्मोपदेशक नहीं है, अरब-यहूदी धर्मों की मान्यता के पैगम्बर भी नहीं हैं; वह एक क्षत्रिय योद्धा हैं. उनको दिए गए गीतोपदेश की प्रायोजकता क्या? आचार्य शङ्कर के लिए यह समस्या और भी दुरूह हो जाती है, क्योंकि वे गीता को निवृत्तिधर्म का ग्रन्थ मानते हैं, जिसके लिए अर्जुन में अद्वैत-सम्प्रदायानुमत कोई पात्रता नहीं है. आचार्य शङ्कर को कोई समाधान नहीं सूझता और वे यह कहकर संतोष कर लेते हैं कि अधिक गुणों से सम्पन्न व्यक्ति (अर्जुन) द्वारा गृहीत एवं अनुष्ठीयमान धर्म वृद्धि को प्राप्त होगा (**गुणाधिकैः हि गृहीतः अनुष्ठीयमानः च धर्मः प्रचयं गमिष्यति इति – गी. शां.भा.**) ; यही अर्जुन में गीतोपदेश का प्रयोजन रहा होगा, ऐसा कहा जा सकता है. किन्तु वे ऐसा भी कैसे कह सकते हैं? जब अर्जुन में अद्वैतसम्प्रदायानुमत निवृत्तिधर्म की कोई पात्रता ही नहीं है, जिसका निरूपण आचार्य शङ्कर ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में किया है, (**नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसंपत्, मुमुक्षुत्वं च. - ब्र.सू.शां.भा. १.१.१**) तो उसके सत्पात्र होने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता. निश्चय ही वेदान्तपरम्परा के भाष्यों में, अर्जुन में गीतोपदेश के औचित्य की उपपत्ति बन नहीं पाती. यह अनुपपत्ति ही गीतोपदेश में आस्था (धर्म) को मिले एक नए अर्थ की ओर संकेत करती है. गीता मानव के किसी सामान्य अर्थ को, किसी छोटे या बडे समूह को किसी वर्ग जाति या कबीले को सम्बोधित ग्रन्थ नहीं है. यह संसार का एक मात्र धर्मग्रन्थ

है जो एक व्यक्ति को, अर्जुन रूप में परिभाषित एक व्यक्तिक्षेत्र को, सम्बोधित है. यह आस्था की प्रामाणिक इकाई के रूप में व्यक्तिक्षेत्र की मान्यता और तदनुसार उपयुक्त आस्था के अनुसंधान का इतिहास है. इस रूप में, अन्य व्यक्तियों के लिए इसकी प्रासंगिकता, एक उदाहरण के रूप में है; उस पद्धति के निदर्शन रूप में, जिसके द्वारा, तत्रोपदिष्ट साधन-उपादानों का विवेकपूर्ण विनियोग करते हुए, एक प्रबुद्ध जिज्ञासु, अर्जुन की भांति वैयक्तिक चेतना में उपयुक्तधर्म का अनुसंधान करता है. इस प्रकार आप्तोपदेश की व्यक्तिक्षेत्र में सर्जनात्मक अवगति, हिन्दूधर्म की सिद्धि का, हिन्दू होने की प्रक्रिया का अन्तिम सोपान है. वैमत्यसहिष्णुता, सम्प्रदायबहुत्व, द्वन्द्वात्मकप्रक्रिया द्वारा वैमत्य (बहुत्व) का संग्रह तथा उक्त संग्रह की व्यक्तिक्षेत्र में सर्जनात्मक अवगति — इन क्रमिक सोपानों से गुजरते, पुनर्गठित होते आप्तोपदेश, एकत्वमूल (व्यक्तिक्षेत्र) की ओर बढ़ते हैं, जहां वे व्यक्ति के लिए प्रामाणिक धर्मावगति का रूप लेते है. रसात्मकता, सर्जनात्मकता का, जो प्रकृत में धर्मावगति का पर्याय है, का लक्षण भी है और प्रमाण भी. यह स्थान है, जहां यह तय होता है कि व्यक्ति प्रवृत्तिधर्म का चुनाव करता है या निवृत्तिधर्म का, कर्म, ज्ञान, भक्ति अथवा योग में से, किस साधनापथ का चुनाव करता है, अथवा इन सब से विलक्षण, अपने लिए किसी अन्य ही साधनामार्ग का अनुसंधान करता है.

हमने यहां हिन्दू होने की प्रक्रिया का एक समग्र विवरण प्रस्तुत किया है. यह प्रक्रिया सुविचारित नहीं है, किन्तु हर हिन्दू इससे गुजरता अवश्य है. प्रबुद्धजन सहज ही, और सामान्यजन थोड़े से प्रयास से इसे अपने भीतर देख सकते हैं. आस्था की यह प्रक्रिया शास्त्रनिरपेक्ष नहीं है, लेकिन इसके केन्द्र में प्रतिष्ठा शास्त्र की नहीं, व्यक्ति की है. हमारे अभी तक के चिन्तन का यही निहितार्थ है. इस चर्चा के कुछ महत्त्वपूर्ण दार्शनिक संदर्भ हैं, जिन पर विचार करना, गीताशास्त्र के वैशिष्ट्य को समझने के लिए परम आवश्यक है.

९. **वैदिक-कर्मकाण्डो हि सामान्यः प्रस्थानबिन्दुः वेदान्तबौद्धमतयोः, अस्य सैद्धान्तिक-पृष्ठभूमिं विरुद्धय, तयोः विचारपथानुसंधानपरत्वाद्। किन्तु भिन्ने उभयोः प्रवृत्तिनिमित्ते। तत्त्वजिज्ञासा हि वेदान्तस्य चिन्तनमूलम्, तद्भिन्नं दुःखचेतना- प्रभवो हि तथागतस्य धर्मोपदेशः। उभाभ्यां विलक्षणः गीताधर्मः। तत्त्वज्ञानोपदेशः गीतायाः प्रयोजनमिति नैव वक्तुं शक्यते, युद्धस्थले अपेक्षितपरिस्थितेः जिज्ञासानिमित्तस्य चाभावात्। विषादोद्भवत्वादनौपनिषदां बौद्धपरम्परानिकटतां भजमान इव प्रतीयते गीतोपदेशः। किन्तु**

लक्ष्योऽत्र एकः सूक्ष्मोऽन्तरः। बौद्धदर्शने दुःखं तु एकम् आर्षसत्यम्,कस्यचित् सार्वभौमिकदर्शनप्रासादस्य मूलमान्यताधारः। अन्तरङ्गवैयक्तिकानुभूतिरूपेण दुःख-विशेषस्य तथागतस्य चिन्तने काऽपि मान्यता नास्ति, भवेद्यदि, तदाऽपि अप्रयोजकत्वान्निरर्थिकैव सा। तथागतस्य निर्विशेष- दुःखचेतनायां दलितदुःखं मार्गयन्तः, तस्य निरुपाधिककरुणायां जातीयघृणापोषणं अलभमाना मृगतृष्णायन्तः दृश्यन्ते नवबौद्धाः। स्पष्टमिदं यद् बौद्धदर्शनस्य अज्ञानेन अनपेक्षितापेक्षाजनितं तेषां संरम्भबौद्धानां नैराश्यम्। वस्तुतस्तु सुखदुःखे आलक्ष्य वेदान्तबौद्धदर्शने उभे अवलम्बेते तात्त्विकीं दृष्टिम्। यथा वेदान्ते सुखस्य निरतिशयाव्यभिचरितबोधरूपावधारणा, आनन्दस्वरूपमात्मतत्त्वं अवलम्बते, तथैव दुःखस्य आर्षसत्यरूपेण स्थापनाय, अनात्मवादं शून्यवादं वा कल्पयन्तः बौद्धाः निरुपायाः अवलम्बन्ते तात्त्विकीं दृष्टिं स्ववचनविरुद्धमपि, तत्त्वस्य निषेधचिन्तनस्यापि तत्त्वदर्शनरूपत्वात्। इदं तत्त्वमीमांसोन्मुखं जीवनदर्शनं यथाधर्मशास्त्रम्, उपेक्षते आस्तित्विकं यथार्थम्, अस्य निरवकाशमनपायं वैयक्तिकं स्वरूपम्। अतः तत्त्वदृष्ट्यवलम्बिनां सम्प्रदायानां समाधानानि प्रायशः भवन्ति अवास्तविकानि, कल्पनाप्रसूतानि, अतिसरलीकरणदोषग्रस्तानि च। यथा सुखस्य तात्त्विकोऽर्थः तथैव दुःखस्य सार्वभौमिकोऽर्थः तन्निष्ठदुःखनिरोधोपायोऽप्यवास्तविकौ।

वेदनायां व्यक्तिक्षेत्रादाक्षेपलब्धौ हि अनुकूलप्रतिकूलार्थौ सुखदुःखरूपौ अतः किमपि विज्ञानं सुखवाप्तेः दुःखनिराकरणस्य वा, नैव भवितुं शक्यते वैयक्तिक-सन्दर्भनिरपेक्षम्। गीतोपदेशः, न केवलं प्रसिद्धम् ऐतिहासिकं सन्दर्भमाश्रयते, अपित्वयं स्पष्टतया एकव्यक्तेः धर्मसंकटं तज्जन्यसन्त्रासमालक्ष्य प्रवर्तते निस्सन्देहं प्रवृत्तिहेतुसाधारणौ गीतातथागतोपदेशौ, उभयोः दुःखचेतनाप्रभवत्वात्। किन्तु लक्ष्योऽत्रैकः सूक्ष्मभेदः। गीतायाम् उपदेशहेतुभूतं दुःखं (अर्जुनस्य विषादः), नास्त्येकः दुखनिवृत्तिविज्ञानस्य परिकल्पः, वस्तुभूतं व्यक्तिक्षेत्रमिदम्, यत्र सर्वाणि समाधानविज्ञानानि केवलं सीमितामेव प्रासङ्गिकतां भजते, यत्र व्यक्तेः सामान्यविधानविज्ञानानति-क्रान्तविवेकाधिकारः, निर्णीयते उपदिष्टोपायानां प्रासङ्गिकतां वैयक्तिका-ध्यात्मिकावश्यकतानुरूपाम्। समानदूरतां भजते गीतोपदेशः बौद्धवेदान्तदर्शनाभ्याम्, तयोः सह स्पष्टसादृश्यलक्षणेऽपि। ध्यातव्यमिदं यद् गीतायां 'शान्तिम्' 'परां शान्तिम्' 'निर्वाणम्' इति शब्दानां प्रयोगो तु दृश्यते, किन्तु कुत्रापि न दृश्यते 'आनन्द' इति शब्दस्य प्रयोगः। प्रतीयते यद् श्रीमद्भगवद्गीता सुखदुःखयोः तात्त्विकेन दार्शनिकेन वा परिकल्परूपेण स्थापनां नानुमन्यते। अर्जुनस्य कृते अस्तित्त्वनिर्व्यूढ-दुःखचेतनानिमित्त-सम्बोध्यप्रमाणोपायानु-

संधानम्, इतरजनेभ्यः निदर्शनेन स्वधर्मावगतिहेतुभूतधर्मानुसन्धानपद्धत्योपदेशश्चेमौ गीतोपदेशस्य ध्येयौ पक्षौ सर्वशास्त्रविशिष्टौ।

९. अर्जुन का विषाद : गीता की दुःखचेतना – वेदान्त और बौद्धचिन्तन से इसके वैशिष्ट्य की नियामक

निकट से देखें तो —वेदान्त और बौद्धमत — दोनों का सामान्य प्रस्थान बिन्दु है वैदिक कर्मकाण्ड. दोनों ही मत वैदिक कर्मकाण्ड पर आधारित जीवनदर्शन और उसकी मूलमान्यताओं को निर्मम परीक्षण का विषय बनाते हुए इस सामान्य सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि के विरुद्ध अपने विचारपथ को परिभाषित करते रहे हैं. किन्तु दोनों के प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न हैं. जहां वेदान्त में चिन्तन का प्रवृत्तिनिमित्त तत्त्वजिज्ञासा है (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा), वहीं भगवान् बुद्ध के धर्मोपदेश का उद्‌भव दुःखचेतना (सब्बं दुःखम्) में है, दुःखनिरोध उसका प्रयोजन.

जहां तक श्रीमद्भगवद्गीता की बात है, इसकी स्थिति दोनों से भिन्न है. उपनिषदों के क्रम में, तत्त्वज्ञानोपदेश को गीता का प्रयोजन नहीं कहा जा सकता क्योंकि गीता में न तो इसके लिए अपेक्षित परिस्थिति है और न ही जिज्ञासावसर. युद्धस्थल न तो तत्त्वचिन्तन के लिए उपयुक्त स्थान है और न ही युद्ध के लिए तत्पर व्यक्ति में तत्त्वजिज्ञासा के लिए कोई अवकाश अथवा औचित्य बनता है. प्रथम अध्याय से ही स्पष्ट हो जाता है कि गीतोपदेश का उद्‌भव युद्धभूमि में अर्जुन के विषाद् में, धर्मसंकटजनित दुःख की अनुभूति में है, जिसका विशद, नाटकीय विवरण गीतोपदेश की भूमिका बनता है. अपनी इस चिन्तनशैली के कारण श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषदों की अपेक्षा बौद्धपरम्परा के अधिक निकट प्रतीत होती है. किन्तु यहां एक सूक्ष्म अन्तर है, जिसे समझ लेना चाहिए. तथागत के चिन्तन में दुःख एक आर्ष सत्य है; एक सार्वभौमिक दर्शन के प्रासाद की निर्विवाद मूलमान्यता. एक निजी एहसास के रूप में दुःख को न तो उन्होंने कोई मान्यता दी है, और यदि मान्यता हो भी तो उनके चिन्तन में इसकी कोई प्रासंगिकता नहीं है. यह बात दीगर है कि आज के नवबौद्ध, बाबासाहब और उनके अनुयायी, बौद्ध धर्म में 'सबसे अलग दलित दुःख' की तलाश में भटकते रहे हैं, आज भी भटक रहे हैं. दलितदुःख इनका आर्ष सत्य है, आरक्षण दु:खनिरोध और ब्राह्मणघृणा की राजनीति दुःखनिरोधोपाय. हम पुस्तकों में पढते हैं कि किस प्रकार भगवान् बुद्ध ने अंगुलिमाल जैसे क्रूर डाकू का हृदय परिवर्तन करके उसे 'धम्म' में दीक्षित

किया था. बात समझ में आती है, क्योंकि क्रूरता अंगुलिमाल की आस्था नहीं, सिर्फ पेशे की मजबूरी थी. किन्तु आज जब लाखों लाख घृणाजीवी दलित, अपनी अपनी नफरत की पोटलियों को यत्नपूर्वक सहेजते, 'धम्म' की शरण में जाते हैं, तो कौन किसे आत्मसात् कर लेगा, कौन किसे ले डूबेगा, कह पाना मुश्किल है. भगवान बुद्ध की निरुपाधिक करुणा में, अपनी जातीयघृणा के संचित आदर्शों को पर्याप्त पोषण न मिलने से निराश इन नव बौद्धों को चरम दैन्य से चरम औद्धत्य के अतिबिन्दुओं के बीच आज भी नए समीकरणों की तलाश में भटकते देखा जा सकता है.

यह गलती हमारी है कि हम किसी दार्शनिक मत या सम्प्रदाय में ऐसे सन्देश ढूंढते हैं, जो उनमें हैं ही नहीं. वस्तुतः सुख और दुःख को लेकर वेदान्त और बौद्धधर्म दोनों की दृष्टि तत्त्वमीमांसोन्मुखी है; वेदान्त जहां आत्मा को आनन्दस्वरूप मानता हुआ आनन्द को तात्त्विक हैसियत देता है, वहीं बौद्धचिन्तन शून्य को, अनात्म को तात्त्विक प्रतिष्ठा देते हुए दुःख को सार्वभौमिक अर्थ देता है, और उसकी निवृत्ति के एक सार्वभौमिक विज्ञान का उपदेश करता है. वस्तुतः तत्त्वमीमांसोन्मुख जीवनदर्शन, वेदान्त का हो या बौद्धों का — धर्मशास्त्रों की भांति अस्तित्व के यथार्थ, उसके नितान्त वैयक्तिक स्वरूप की उपेक्षा करता है. अतः उसके समाधान, अवास्तविक, कल्पनाप्रसूत तथा अति सरलीकरण के दोषों से ग्रस्त होते हैं. सुख का तात्त्विक अर्थ (आनन्द), उसी तरह अवास्तविक है, जैसे दुःख का सार्वभौमिक अर्थ; हर प्राणी दुःखी है, यदि यह आर्ष सत्य है, तो यह भी वैसा ही और उतना ही सत्य है कि हर प्राणी का दुःख उसका अपना दुःख है, जो पारिवारिक, जातीय या अन्यान्य सामाजिक आरोपों के वावजूद, विशुद्ध वैयक्तिक एहसास के रूप में कभी व्यभिचरित नहीं होता. अतः किसी के लिए भी दुःख के निराकरण का विज्ञान, उसके वैयक्तिक सन्दर्भों से निरपेक्ष नहीं हो सकता. श्रीमद्भगवद्गीता के न केवल स्पष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ हैं, अपितु वह स्पष्ट रूप से एक व्यक्ति के धर्मसंकट एवं तज्जन्यसन्त्रास को सम्बोधित है. भगवान् बुद्ध के उपदेशों की भांति गीता का प्रवृत्ति-हेतु दुःख चेतना है, इसमें सन्देह नहीं. किन्तु यहां दुःख (अर्जुन का विषाद) एक सामान्य दुःखनिवृत्ति-विज्ञान का परिकल्प न होकर 'व्यक्ति क्षेत्र' है, जिसके लिए प्रत्येक सामान्य विज्ञान केवल सीमित प्रासंगिकता रखता है, और जिसमें अपनी अध्यात्मिक आवश्यकता के अनुरूप, अपने विवेक के अनुसार, अपने लिए प्रामाणिक साधना पथ के चुनाव अथवा अनुसंधान का अधिकार सुरक्षित है. दुःख चेतना में उपक्रम के वावजूद

गीता की जितनी दूरी बौद्ध धर्म से है उतनी ही दूरी, अनेक स्थलों पर उपनिषच्चिन्तन के संग्रह के वाबजूद, वेदान्त से भी है. भगवान बुद्ध की आर्ष सत्य के रूप में 'यह सब कुछ दुःखमय है' (**सब्बं दुःख**) इस स्थापना के विरुद्ध वेदान्त में आत्मा के आनन्द रूप होने की बात कही गई है. किन्तु यहां ध्यान देने की बात है की गीता में '**शान्तिम्**' '**परां शान्तिम्**' '**निर्वाण**' जैसे शब्दों का तो प्रयोग हुआ है किन्तु अठारहों अध्यायों में कहीं भी '**आनन्द**' इस शब्द का प्रयोग नहीं है. मन्तव्य स्पष्ट है. सुख और दुःख को उनके व्यक्तिक्षेत्र से भिन्न तात्त्विक अथवा दार्शनिक परिकल्प रूप में कोई अर्थ देना गीता को अभीष्ट नहीं है. वेदान्त हो, या बौद्धदर्शन, या फिर धर्मशास्त्र, सभी व्यक्ति-क्षेत्र को समुचित मान्यता दिए बिना, सामान्य समाधानों की ओर संकेत करते है, और यही गीता-दर्शन की दृष्टि से इनका, वस्तुतः समस्त संस्थागत, साम्प्रदायिक चिन्तन का सबसे बडा दोष है. गीतोपदेश, आद्योपान्त व्यक्ति को सम्बोधित है; इसमें धर्म संकट, तज्जनित विषाद के वैयक्तिक स्वरूप, और तदनुसार समाधान की आवश्यकता को मान्यता देते हुए, वेदान्त तथा अन्यान्य दर्शनों के वैयक्तिसन्दर्भों में विनियोग के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति-क्षेत्र के लिए प्रामाणिक धर्म के अनुसंधान का मार्ग दिखाया गया है.

इस प्रकार गीतोपदेश के स्पष्टरूप से दो धरातल हैं. एक है अर्जुन को किया गया उपदेश, धर्म का अव्यवहित साक्षात्कारात्मक बोध. दूसरा अर्जुन से भिन्न, अन्य जनों के लिए. प्रत्येक पाठ करने वाले के लिए श्रीमद्भगवद्गीता एक उदाहरण है, जो निदर्शन के द्वारा धर्मावगति की पद्धति का उपदेश करती है. यह इस बात का आश्वासन है कि धर्मसंकट की घडी में, जब शास्त्र मार्गदर्शन नहीं कर पाते या उनका मार्गदर्शन अपर्याप्त लगता है, और अर्जुन की तरह, या तथागत की तरह, सब ओर से निराश हुआ व्यक्ति आर्त हो कर पुकारता है, तब उसे निश्चय ही मार्गदर्शन मिलता है. व्यक्तिक्षेत्र में, यह धर्मानुसंधान, वस्तुतः प्राप्त धर्म की सर्जनात्मक अवगति है. इस रूप में धर्म एक साक्षात्कारात्मक बोध है, ठीक वैसा ही जैसा अर्जुन को प्राप्त हुआ था. यहाँ क्रम भेद है, फल भेद नहीं. यह धर्म की एक साधना मूलक अवधारणा है, जिसमें धर्म विधान नहीं है, एक सार्वभौमिक विज्ञान भी नहीं, अपितु एक अन्तरंग अनुसंधान है. सर्वविधानविशिष्ट, सर्वविज्ञानविशिष्ट, गीतोपदेश के इस स्वरूप पर मनन करना आवश्यक है, गीतार्थ को समझने के लिए भी, और हिन्दूधर्म को समझने के लिए भी.

१०. कथमेतद् यद् विहाय भगवद्वाक्यसमारम्भं माङ्गलिकं वा किमपि, श्रीमद्भगवद्गीता श्रयते धार्तराष्ट्रिकोपक्रमम्, इति प्रश्नः सहज एव मनसि आयाति। उच्यते – ऐतिहासिक-पात्रमुखसमारम्भः प्रारम्भ एव उद्घोषयति औपनिषदिक- समाख्याव्यावृत्तिपरं गीतायाः ऐतिहासिकस्वरूपमव्यभिचरितम्। सुव्यक्ताः खल्वस्य तात्कालिकनिहितार्थाः। प्रथमः, भारतकलेवरांशभूता गीतेत्यनुस्मरणं माङ्गलिकोपक्रमाकाङ्क्षां निराकरोति, ग्रन्थांशे तस्यानुपपन्नत्वात्। द्वितीयः, विमर्शयत्ययं गीतायाः प्रामाणिकीम् अध्ययनपद्धतिम्, भारतैकवाक्यताश्रिताम्, अर्थतः लभ्यते चानेन औपनिषदिक-भाष्याभासानामननुमोदनम् इति। इमे त्रयः निहितार्थाः ऐतिहासिकस्वरूपनिष्ठोपक्रमस्य गीतायाः।

अस्ति श्रीमद्भगवद्गीता एका स्वतंत्रा कृतिः इति सुदीर्घव्यवहारदृढीभूतः मिथ्योपचारः न केवलं उपक्रमाकांक्षां जनयति, अपितु तर्कितपूर्वकल्पनाधारत्वं भजते औपनिषदिक- समाख्यायाः,महाभारते कालान्तरप्रक्षेपाभियोगस्यापि च गीतायाः। मिथ्योपचारपरिणतिरेक- देशीयेयं निदर्श्यतेऽत्र पूर्वपक्षावतरणेन।

१०.१ नन्वनुपपन्नम् उपक्रममाणं स्वरूपनिर्धारणम्, प्रत्यध्यायोपसंहारभूतायाः श्रीमद्भगवद्गीता- सूपनिषत्स्विति विमर्शवत्या पुष्पिकया सह विसंवादत्वात्। नैवम्, महाभारतीये गीतापाठे पुष्पिकायाः असद्भावत्वात्।

केचनं पुष्पिकां निर्वोढुं यतन्ते। तत्रस्थोपनिषदिति पदस्य ईशकठकेनादि-श्रुतिवाचकप्रसिद्धार्थस्य गीतायां बाधितत्वात्, 'गूढविद्या', 'रहस्यविद्या' इति ऐतिहासिकविवरण निरपेक्षे वेदैतिह्यसमर्थितेऽर्थे लक्षणया निश्चीयते पदार्थोऽयम्। गीतायाः संवादरूपताऽपि औपनिषदिकीं समाख्यामुपपादयति इत्यपि केचन। अर्थाविमौ गीतायां उपपद्येते कल्पेते च वेदान्तमुक्तगीताव्याख्यानमतोऽस्मदभीष्टा एव। न खलु वयं प्रतिशिष्मः गीतायां वेदान्ततत्त्वचिन्तनम्। वयं तु केवलं वेदान्तस्य पाठ्यग्रन्थरूपेण गीतायाः निर्धारणं प्रयोगञ्च निराकुर्मः। गीतोपदेशोपकारकत्वेन, गीतिकायां संवादीस्वरसमुदायवत् मर्यादितायां न तु नियामिक्यां भूमिकायाम्, अन्यैः दर्शनैः सह वेदान्तमपि गीतार्थे योजनीयम्।

१०.२ श्रीमद्भगवद्गीतायाः धार्तराष्ट्रिकोपक्रमः निवेदयति द्वौ भावौ प्रथमं तावत् कुरुकुलाधिपतिरूपेण धृतराष्ट्रो हि कुरुकुलधर्मस्य अधिष्ठाता, अधिकृतः संरक्षकश्च। द्वितीयम्, पुत्रमोहाविष्टः सः स्वाधिष्ठिते एव कुरुवंशे यां स्वपरपक्षभेदापादिकां द्वन्द्वात्मकतां

जनयति, तस्याः प्रतिध्वनिरेव गीतोपदेशस्य निमित्तनैमित्तिकावतारः ।

तथा हि अर्जुनस्य ज्ञातिमोहः, कुरुकुलधर्मविनाशचिन्ता च क्रमशः मनोवैज्ञानिकीं (भावात्मिकाम्) सैद्धान्तिकीञ्च निमित्ततां भजेते गीतोपदेशस्य । धृतराष्ट्रे, यथोक्तम्, निमित्तद्वयोः व्यतिकरत्वात्, गीतायाः धार्तराष्ट्रिकोपक्रमः उपक्षिपति प्रथमाध्यायस्य कथ्यं पूर्वपक्षात्मकम् । इत्यनेन निमित्तावतारः ।

धृतराष्ट्रस्य पुत्रमोहजनितपरिस्थितिसन्तानचक्रे पतितः विवशोऽर्जुनः पृतनामुखे यमप्रत्याशितं व्यवहारं दर्शयति स तु प्रतिक्रियारूपसम्मोह एव, कुरुकुलगुरोः सम्मोहस्य पात्रविशिष्टा परिणतिः । सम्मोहजनितक्रियाप्रतिक्रियारूपः अन्धकर्मचक्रः उपायेनैवातिक्रान्तुं शक्यते। उपायसाकाङ्क्षः निमित्तभूतमोहद्वन्द्वः वक्ष्यमाणं नैमित्तिकमुपक्षिपति उपायोपदेशरूपं नैष्कर्म्यज्ञानभक्तियोगात्मकम्। एवं रीत्या निकटदृशावलोकितः धार्तराष्ट्रिकोपक्रमः गीतायाः आचरति वस्तुनिर्देशात्मकं मङ्गलमित्यनवद्यम्।

१०.३ धृतराष्ट्रस्य दृष्टिविकलता संजयनिर्भरत्वञ्च निवेदयतः धर्मदर्शनानुशासने आस्थायाः परोक्षपक्षपातिनी दृष्टिः, हिन्दुधर्मविचाराय पूर्वपक्षरूपा।

१०.१ गीता का धार्तराष्ट्रिकोपक्रम : इसके निहितार्थ :

गीता के प्रबुद्ध अध्येताओं के मन में यह प्रश्न आये बिना नहीं रह सकता कि श्रीमद्भगवद्गीता का समारम्भ भगवद्वाक्य से अथवा किसी माङ्गलिक वचन से न होकर धृतराष्ट्र की उक्ति से क्यों कर हो रहा है. समाधान के लिए कहते हैं — सर्वप्रथम एक ऐतिहासिकपात्र (धृतराष्ट्र) के नामोल्लेख के साथ समारम्भ, प्रारम्भ में ही उपनिषद् वाङ्मय से सर्वथा भिन्न, गीता के निश्चित ऐतिहासिक-स्वरूप का उद्घोष करता है. इसके निहितार्थ स्पष्ट हैं. प्रथम, महाभारतकलेवरांश रूप में गीता के अनुस्मरणमात्र से माङ्गलिकोपक्रम की आकांक्षा का निराकरण हो जाता है, ग्रन्थांश में उसकी अनुपपत्ति होने से. द्वितीय, यह भारतैकवाक्यताश्रित, गीता की प्रामाणिक अध्ययनपद्धति को सुनिश्चित करता है, और यथोक्त स्वरूपनिष्ठा से औपनिषदिक भाष्याभासों का गीता द्वारा अननुमोदन अर्थतः सिद्ध है. गीता के ऐतिहासिकस्वरूपनिष्ठोपक्रम के यह तीन निहितार्थ हैं.

सचाई यह है कि माङ्गलिकोपक्रम की आकांक्षा ग्रन्थारम्भ में ही हो सकती है, उसके मध्य में गुम्फित अंशभूत रचनाओं में नहीं. यतः गीता महाभारत का अंशभूत प्रकरण है, स्वरूप की

उचित अवधारणा के बाद उपक्रम सम्बन्धी ऐसी किसी आकांक्षा के लिए स्थान नहीं रह जाता. पाठसौविध्य के लिए दीर्घकाल से गीता के स्वतंत्र ग्रन्थरूप में प्रकाशन प्रचलन में हैं. इससे यह मिथ्या धारणा, सामान्य जनों के ही नहीं, विद्वानों के भी अवचेतन में बैठ गई है कि गीता एक स्वतंत्र ग्रन्थ है. यह मिथ्या धारणा न केवल माङ्गलिकोपक्रम की आकांक्षा को जन्म देती हैं, अपितु गीता की औपनिषदिकसमाख्या तथा महाभारत में कालान्तरप्रक्षेप की अनभीष्ट कल्पनाओं का भी आधार बनती है. व्यावहारिक सुविधा के लिए स्वीकृत उपचार को, भ्रमवश अथवा सोद्देश्य, वास्तविक मान लेने से चिन्तन के जो वैगुण्य आता है, नीचे लिखे विवरण से उसका कुछ आभास मिल सकता है.

१०.१ श्रीमद्भगवद्गीता के औपनिषदिक स्वरूप पर विचार :

हमने श्रीमद्भगवद्गीता के उपक्रम (प्रारम्भ) के आधार पर यह स्थापना प्रस्तुत की है कि श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् नहीं, अपितु ऐतिह्यांश है ; एक व्यक्ति के आध्यात्मिक जीवनवृत्त का महत्त्वपूर्ण अध्याय, जो नितान्त वैयक्तिक सन्दर्भो को धर्म के विवरण में न केवल मान्यता देता है, अपितु जीवन्त सन्दर्भों में इसके अनुसंधान का निदर्शन करता है. गीता उपनिषद् नहीं है, यह कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि श्रीमद्भगवद्गीता, ईश-कठ-केनादि-निदर्शित श्रुतिपरम्परा का अंग नहीं है, अतः उसके तन्निरूपित व्याख्यानों का कोई औचित्य नहीं बनता.

हमारी उक्त स्थापना के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि केवल उपक्रम (आरम्भ) के आधार पर ग्रन्थ के स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जाना चाहिए. उपक्रम और उपसंहार दोनों पर विचार करने के बाद ही निर्णय होना चाहिए. एक के बाद एक, हर अध्याय का उपसंहार करती पुष्पिका, '*इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु .....*' पद पद पर गीता के उपनिषद् होने की घोषणा कर रही है. ऐसे में गीता की परम्परानुमोदित, सर्वमान्य औपनिर्षदिक व्यवस्थिति का प्रत्याख्यान कैसे सम्भव है? उक्त आपत्ति तभी सार्थक हो सकती है, जब पुष्पिका को गीता के उपसंहार रूप में स्थापित किया जा सके. किन्तु जो सामग्री गीता पाठ का अंग ही नहीं है, उसे उसका उपसंहार मानने का प्रश्न ही कहां उठता है? यह ध्यान देने की बात है कि गीता के महाभारत पाठ में उक्त पुष्पिका उपलब्ध नहीं है. अतः पाठ में अन्तरङ्ग न होने से उसे उपसंहार रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, और उपसंहार मान भी लिया जाय तो उपक्रम से विरोध की स्थिति में, उपक्रम

के अन्तरङ्ग और प्रबल होने से उसका साक्ष्य बाधित हो जाएगा. पुष्पिका पर विशेष विचार उपयुक्त स्थल पर करेंगे, सम्प्रति साक्ष्य के रूप में पुष्पिका की ग्राह्यता विचार का विषय है.

प्रमाणरूप में पुष्पिका की ग्राह्यता :

उक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए, यह मानना अपरिहार्य हो जाता है कि पाठसौकर्य हेतु गीता के पृथक्करण और स्वतंत्रकृतिरूप में प्रकाशन की विवशता के कारण मूलपाठ में दो संयोजन स्वीकार किए गए, जिन्हें प्रत्येक अध्याय के आदि और अन्त में संलग्न किया गया. आदि में ***'ॐ श्री परमात्मने नमः'*** यह माङ्गलिकोपक्रम तथा अन्त में ***' ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ...'*** यह अंश, जो पुष्पिका नाम से प्रसिद्ध हुआ. वस्तुतः यह गीता के प्रथम सम्पादक (यदि हम इस शब्दावली का प्रयोग कर सकें) की टिप्पणियां हैं, नोट्स हैं, पाठक की सुविधा के लिए, अपने दायरे में नितान्त उपयोगी और सारगर्भित. किन्तु गीता के किसी भी तात्त्विक विवेचन में इन संयोजनों की कोई भूमिका नहीं हो सकती, क्योंकि ये गीता पाठ का अंग नहीं हैं और ग्रन्थ के स्वरूप के बारे में भ्रामक धारणा को जन्म देते हुए, अध्ययन को गलत दिशा दे सकते हैं. मूर्धन्य विद्वानों के ऐसे अध्ययन हमारे सामने आए हैं, जिनमें गीता की औपनिषदिकसमाख्या के समर्थन में पुष्पिका को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया गया है. अतः भ्रामक व्याख्यानों के निराकरण के लिए तथा गीता की स्वरूपनिष्ठ, प्रामाणिक अध्ययन-पद्धति के अनुसंधान के लिए हम पुष्पिका के व्यावहारिक, और औपचारिक स्वरूप को रेखाङ्कित करते हैं.

प्रकृत में, यह कहा जा सकता है कि माना कि गीता महाभारत का अंश है, किन्तु उसका स्पष्ट प्रामाणिक स्वरूप, उपदेश की क्रमबद्धता, महाभारत के कठिनाई से सहेजे गए विशाल बिखराव के मध्य, प्रतिपाद्य विषय और प्रतिपादन शैली, उपक्रम और उपसंहार की संगति, गीतोपदेश को महाभारत के बीच एक अप्रतिम पहचान, विविक्त एकरूपता प्रदान करती है, जिसको ध्यान में रखते हुए, एक स्वतंत्रग्रन्थ के रूप में विचार का विषय बनाने में क्या विप्रतिपत्ति हो सकती है. निश्चय ही, जहां तक पाठ सौकर्य हेतु प्रकाशन की बात है, कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती. हमारा तो कथ्य केवल इतना है कि जब गीतार्थ पर विचार हो और उसके विशदार्थ हेतु प्रामाणिक सन्दर्भों की जिज्ञासा हो तो महाभारत की उपेक्षा करके, साक्षात् उपनिषदों में उनकी खोज नहीं होनी चाहिए.

कुछ विद्वान् भिन्न प्रकार से पुष्पिका के निर्वाह का प्रयत्न करते हैं. उनके अनुसार पुष्पिका में प्रयुक्त 'उपनिषद्' पद ईशकठकेनादि श्रुतिवाचक प्रसिद्ध अर्थ के गीता में बाधित होने से वह लक्षणया 'गूढ़ विद्या', 'रहस्यविद्या' इस वेदैतिह्यसमर्थित अर्थ में पर्यवसित होता है. गीता की संवादरूपता उसकी औपनिषदिक समाख्या का समर्थन करती है, ऐसा भी कुछ विद्वानों का मत है. 'उपनिषद्' पद के ये दोनों ही अर्थ गीता में उपपन्न हैं, तथा गीता के वेदान्तमुक्त व्याख्यान में उपकारक हैं, अतः हमें स्वीकार्य हैं. हम गीता में वेदान्त तत्त्वचिन्तन का निषेध करते हैं, ऐसा नहीं है. हम केवल वेदान्त के पाठ्यग्रन्थ के रूप में गीता के निर्धारण और प्रयोग का निराकरण करते हैं. गीतोपदेश के उपकारकरूप में, जैसे गीतिका में संवादी स्वरसमुदाय होता है, नियामक भूमिका में नहीं, अपितु महाभारत-संदर्भ निरूपित, एक मर्यादित भूमिका में अन्य शास्त्रों के साथ वेदान्त भी गीतार्थ में योजनीय है.

१०.२ सम्पूर्ण ऐतिह्यबोझ को ढोता गीता का प्रथम श्लोक : इसका महत्त्व

गीता के प्रथम श्लोक के कथ्य पर निकट से विचार करें. इस श्लोक में, उपदेश निमित्त (पूर्वपक्ष) का बीजरूप में छायांकन तथा तन्निरूपित उपदेश का संकेत अन्तर्निहित है. धृतराष्ट्र के व्यक्तित्व के दो बिन्दु यहां ध्यान देने योग्य हैं, प्रथम यह कि वह कुरुदेश के राजा ही नहीं, अपितु अपने पद के ही अनुरोध से कुरुकुल के अधिपति भी हैं, और इस रूप में 'कुरुकुलरक्षा' उनके विशिष्टदायित्व अर्थात् स्वधर्म रूप में प्राप्त है. उनके व्यक्तित्व का दूसरा महत्त्वपूर्ण बिन्दु है, उनका प्रबल पुत्रमोह, जो कुरुकुल के प्रति उनकी दायित्वचेतना को आवृत करते हुए ***''मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय''*** इस स्वपरपक्षभेदापादक द्वंद्वात्मकता को जन्म देता है, जो महाभारतयुद्ध और गीतोपदेश, दोनों में ही निमित्त है. गीतोपदेश के सन्दर्भ में यह बात नीचे लिखे विवरण से स्पष्ट हो जाती है.

गीता-पाठ के प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन का ज्ञातिमोह तथा युद्ध के परिणामस्वरूप कुलधर्मविनाश की आशंका, गीतोपदेश के क्रमशः भावात्मक और सैद्धान्तिक निमित्त हैं, जो परस्पर कार्य-कारण भाव से सम्बद्ध हैं. जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, धृतराष्ट्र के व्यक्तित्व में इन दोनों निमित्तों का अर्थपूर्ण संग्रह मिलता है. उसका पुत्रमोह अर्जुन के ज्ञातिमोह को सूक्ष्मरूप में प्रतिबिम्बित करता है, और इस बात को भी कि, किस प्रकार यह मोह दायित्वबोध

में आवरण और विक्षेप का जन्म देता है. जहां धृतराष्ट्र का पुत्रमोह, कुरुकुलाधिप रूप में प्राप्त दायित्वबोध को आवृत कर रहा है, वहीं अर्जुन में ज्ञातिमोह उसके युद्धस्थल में, कर्तव्यरूप में प्राप्त युद्ध में प्रवृत्ति को अवरुद्ध कर रहा है. इस प्रकार गीता के धार्तराष्ट्रिकोपक्रम का, प्रथम-अध्याय में गीतोपदेश के निमित्तभूत पूर्वपक्षावतरण में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव इतना स्पष्ट है कि इसकी वस्तुनिर्देशत्मकता के सम्बन्ध में कोई संदेह कहीं हो सकता.

यहां यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि धृतराष्ट्र तथा अर्जुन के मोह तथा तज्जन्य दायित्वबोधावरण के बीच मात्र बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव नहीं है. ऐसा होता तो धृतराष्ट्र में ही गीतोपदेश की प्रवृत्ति हो सकती थी. भगवान के जिस विराटस्वरूप के दर्शन के लिए अर्जुन को तैयार होने में गीता के १० अध्यायों से गुजरना होता है, धृतराष्ट्र बहुत पहले उस रूप के दर्शन कर चुका है. वस्तुतः उपयुक्तभावभूमि के बिना उपदेश तो क्या साक्षात्कारात्मक अनुभव को भी एक टिकाऊ आध्यात्मिक सम्पत्ति रूप में संचित नहीं किया जा सकता. पूर्वजन्म के संस्कार अथवा गुरुकृपा से शक्तिपात जैसी क्रियाओं से जिन्हें अलौकिक अनुभूतियां हो जाती हैं, उनका मूल्य साधनापथ में प्रेरणा से अधिक कुछ नहीं होता. विद्या का उपदेश और फल वैयक्तिक चेतना सापेक्ष होता है. धृतराष्ट्र और अर्जुन के मोहभूत उपादान तथा आवरण-विक्षेपरूप कार्यों में समानता होते हुए भी अधिष्ठान वैषम्य के कारण परिणाम समान नहीं हैं. मोहाविष्ट धृतराष्ट्र एक सामान्य 'बालबच्चोंवाला' दुनियांदार व्यक्ति है, जो अपने लौकिक स्वार्थों की सिद्धि में सतत समर्पित है. उसके अन्दर कोई नैतिक द्वन्द्व नहीं है, यद्यपि आवश्यकतानुसार वह इसका अभिनय कर सकता है. स्वार्थ उसकी सतत चिन्ता का विषय है, जो सम्प्रति *''मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय''* इस जिज्ञासा को जन्म देता है. मानव की यह अप्रबुद्ध कोटि है, एक ऐसी अवस्था, जिसमें आन्तर्नियमन की यांत्रिकी विकसित नहीं हो पाई है. अतः यह नागरिक तथा धार्मिक विधान के द्वारा नियमन की अपेक्षा रखती है. ऐसे लोगों में अपने अथवा समाज के प्रति व्यापक दायित्वों की चेतना नहीं होती, अथवा होती भी है तो नितान्त क्षीण और अप्रभावी. धृतराष्ट्र में यह चेतना कि वह कुरुकुल का अधिपति है, और इस रूप में उसके कुछ कर्तव्य हैं, कभी कभी उसे अपने आचरण के बारे में शंकित, भयभीत और उद्विग्न कर देती है. लेकिन यह एक क्षणिक आवेश है, जो उसकी स्वार्थनिष्ठा को, उसकी पैनी व्यावहारिक प्रतिबद्धताओं को रंचमात्र भी प्रभावित

नही करता. वस्तुतः ऐसे लोगों के लिए उपदेश के कोई अर्थ नहीं होते, क्योंकि उनकी लौकिक प्रतिबद्धता, व्यावहारिक आवश्यकता से अधिक चेतना को स्वीकार नहीं करती. अपने व्यावहारिक जीवनदर्शन और उसके मूल्यों को लेकर उनके मन में कोई सन्देह, कोई अन्तर्द्वन्द्व होता ही नहीं. विधि-निषेधरूप में शास्त्रविधान, उनके लिए पर्याप्त धर्म है. चेतना के इस विजड़ित भाव को ही गीता में 'अकृत्स्नविद्' 'अचेतसः' आदि शब्दों से कहा है, और ज्ञानियों को यह हिदायत दी गई है कि वे इनकी आस्था को विचलित न करें.

धृतराष्ट्र एक महत्त्वपूर्ण सोपान है, जहां से गीतोपदेश के लिए उपयुक्त पात्र का अनुसंधान प्रारम्भ होता है, और दुर्योधन, द्रोण, भीष्म तथा अन्यान्य युयुत्सु पात्रों से गुजरते, उन्हें परखते, अर्जुन तक पंहुचता है. इस श्रृंखला की पहली कड़ी है, अन्धा धृतराष्ट्र, जो आस्था के अनुभव एवं विवेक निरपेक्ष संहिताबद्धरूप को रेखांकित करता है, जो गीतोपदेश का पूर्वकल्पित पक्ष है. यहां से उपदेश के पूर्व, पात्रानुसंधान की जो प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, वह हिन्दू-धर्मदर्शन की इस आधारभूत मान्यता को रेखांकित करती है कि 'व्यक्तित्व' की पहचान, उसके लिए 'स्वधर्म' के अनुसंधान और निर्धारण की अनिवार्य शर्त है. इसका तात्पर्य धर्म के सामान्य स्वरूप का निषेध नहीं है, किन्तु, विचारापन्न धर्मजिज्ञासा में आस्थावान् अनुयायी के अनुभवों तथा वैयक्तिक सन्दर्भों को मान्यता प्रदान करना है.

मूल्य चेतना के दो स्रोत हैं — शास्त्र, तथा स्वरूपावगति, तात्त्विक अथवा अतात्त्विक. तत्तद् धर्मग्रन्थ अनुयायियों के लिए, विधि-निषेधरूप आचारसंहिता का विधान करते हैं : यह एक बंद, नैगमिक वाक्यव्यवस्था (deductive system) है, जिसके तर्कसंगत व्याख्यान तो प्रस्तुत किए जा सकते है, किन्तु तर्क या अनुभव की कसौटी पर जिसके परीक्षण की अनुमति नहीं दी जा सकती. श्रीमद्भगवद्गीता *'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'* (१६.२४) यह कह कर मूल्यचेतना के इस आधार को मान्यता देती है. इसे विशेष विचार का विषय नहीं बनाया गया है, क्योंकि इसे विचार का विषय बनाया नहीं जा सकता. परिकल्प रूप में, यह आस्था की अनुभवनिरपेक्ष कोटि है, जिसे केवल स्वीकार या अस्वीकार ही किया जा सकता है. किन्तु परीक्षण का विषय नहीं बनाया जा सकता. इससे भिन्न, मूल्यचेतना के अपुस्तकीय स्रोत भी हैं यथा — सामाजिक रीतिरिवाज, कुल परम्परा, अन्तःकरण (विवेक, अनुभव) आदि, जिन्हें एक सामान्य

सिद्धान्त के अन्तर्गत लाया जा सकता है. सुविधा के लिए इसे 'स्वरूपावगति' नाम दे सकते हैं. इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति या समाज अपने स्वरूपाभिज्ञान के द्वारा जिस स्व-पर-विवेक को जन्म देता है, वह उसके लिए मूल्य व्यवस्था का आधार बन जाता है. दर्शन की दृष्टि से यह स्वरूपावगति तात्त्विक और अतात्त्विक दो प्रकार की हो सकती है. श्रीमद्भगवद्गीता में मूल्यचेतना के इन वस्तुनिष्ठ स्रोतों को न केवल स्वीकार किया गया है, अपितु इनके निर्वचन को गीतोपदेश की केन्द्रीय स्थापना के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है. मूल्यचेतना के इन वस्तुनिष्ठ स्रोतों के निर्वचन का प्रयास, अतात्त्विक स्वरूपावगति से तत्त्वावगति पर्यन्त तत्त्वमीमांसा के विकास के क्रम का, आचरणमीमांसा में रूपान्तर, बहुआयामी गीतोपदेश के प्रयोजन और विस्तार की दिशा को अनायास उद्घाटित कर देता है. इस दृष्टि से गीता का प्रथम श्लोक ''*मामका: पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय*''यह मोहजनित स्वपरविवेक, तज्जनित जिज्ञासारम्भ, गीतोपदेश का प्राकरणिक ही नहीं, तार्किक प्रस्थान बिन्दु भी बन जाता है.

सुनने में अजीब लगता है किन्तु यह सत्य है कि संसार में जो भी प्रवृत्तिनिवृत्यात्मक व्यवहार है, उसकी नियामक मूल्यव्यवस्था के मूल में एक अतात्त्विक आत्मविमर्श विद्यमान है, जिसे दार्शनिकों ने 'अज्ञान', 'मोह' 'वासना' आदि नाम दिए हैं. इस 'मोह' पदार्थ के दार्शनिक विवेचन के बजाय, हमारे प्रयोजन के लिए इसकी सत्ता का निदर्शन मात्र ही पर्याप्त होगा. जन्म से ही प्राणी का व्यवहार कतिपय संस्काररूढ तादाम्यों पर आधारित होता है. इसका प्रथम तादात्म्य अपने स्थूल शरीर तथा इन्द्रियों के साथ होता है, अर्थात् शरीरसंघात में उसे आत्मावगति की सिद्धि होती है. अनन्तर पारिवारिक सम्बन्धों में इसकी प्रसक्ति देखी जाती है. कुल, जाति, कबीला, सम्प्रदाय, राष्ट्र इस तादात्म्यस्फीति के क्रमिक उदाहरण हैं, जो अन्ततः सम्पूर्ण मानवसमाज को, उसके हित-चिन्तन को, अपनी परिधि में समेंट सकता है. इतना ही नहीं मोहनिवृत्ति अथवा मोक्ष को जब प्राप्तव्यरूप में प्रस्तुत किया जाता है, तब भी प्राप्तव्यांश में मोह की स्थिति को स्वीकार किए बिना उसमें प्रवृत्ति या मूल्यवत्ता को समझा नहीं जा सकता. यह मूल्यव्यवस्था का मनोविज्ञान है, उसके प्राकृतिक उपादानों का विवरण, जिन्हें स्वीकार किए बिना शास्त्रव्यवस्था की स्थिति और व्यवहार की उपपत्ति नहीं हो सकती. उपादान सामग्री को स्वीकार किए बिना उसका नियमन कैसे हो सकता है. रंग, फलक और तूलिका के बिना भी कहीं पेण्टिंग होती है? सभी शास्त्रों के, सभी धर्मग्रन्थों के उपादन अज्ञानमूलक हैं, यदि साक्षात् ईश्वर भी इनका प्रणेता हो, तब भी इस वस्तुस्थिति

में कोई अन्तर नहीं आता. अतः आस्था की पुस्तकीय प्रतिबद्धताओं से परे, श्रीमद्भगवद्गीता उसके तात्त्विक आधारों के अनुसंधान का परामर्श देती है - त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्योभवार्जुन.

श्रीमद्भगवद्गीता का उद्देश्य शास्त्रों का निषेध करना अथवा उनकी प्रामाणिकता में संदेह पैदा करना नहीं है. इसका प्रयोजन तो ऐतिहासिक और तात्त्विक दृष्टि से शास्त्रों की सीमित व्यावहारिक अर्थवत्ता का निदर्शन कराते हुए, धर्मचेतना को व्यापक, अधिक विश्वसनीय, तात्त्विक आधारों में प्रतिष्ठित करना है. धर्म के पुस्तकीय अवतरणों से पहले भी धर्मचेतना, प्राकृतिक, मनोवैज्ञानिक उपादानों के रूप में विद्यमान थी, जिसे आज भी, सभ्यता से दूर, बहुत सी जनजातियों के रीति-रिवाजों में देखा जा सकता है. पुस्तकीय प्रतिबद्धताओं के अप्रासङ्गिक हो जाने के बाद भी व्यक्ति में धर्मचेतना बनी रहती है, यही धर्म की पुस्तकीय, शास्त्रीय अवधारणा की सीमित अर्थवत्ता है.

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, अतात्त्विक आत्मविमर्श, तज्जनित मोह और तादात्म्यभाव, आस्था के सीमित, परिच्छिन्न, संस्थागत और पुस्तकीय अवतरणों में उपादानरूप से विद्यमान है. इस तादात्म्यभाव का संकोच पशुवृत्ति की ओर, और विकास उत्तरोत्तर मानववाद की ओर ले जाता है. इसके क्रमिक सोपानों का निदर्शन — धृतराष्ट्र और अर्जुन की मोहापन्न चेतना के रूप में, मध्यवर्ती पात्रों — दुर्योधन के व्यावहारिक दर्शन, द्रोण और भीष्म के निःशब्द, निरूपाय आचरण के रूप में — श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय का विषय बनता है. इस प्रकार गीता का प्रथम श्लोक, तदुपलक्षित प्रथम अध्याय, एक ऐसे धर्म की अवतरणिका बनता है, जो संस्थागत धर्मों की संकुचित और उदार व्यवस्थाओं की समीक्षा करता हुआ धर्म चेतना के एक मोहमुक्त, अपरिच्छिन्न आयाम के अनुसंधान में पर्यवसित होता है. धर्म की यह समझ सभी व्यवस्था मूलक-आस्थाओं को, उनकी पुस्तकीय प्रतिबद्धताओं को एक व्यावहारिक, कामचलाऊ हैसियत से अधिक का हकदार नहीं मानती. सभी सम्प्रदाय, अपने से पूर्ववर्ती सम्प्रदायों की किसी न किसी रूप में समीक्षा करते हैं, और उनमें से अधिकांश यह घोषणा करने से नहीं चूकते कि उनका ग्रन्थ ईश्वर का अन्तिम संदेश है, और उसको लाने वाले नबी या अवतारी पुरुष अपने क्रम में अन्तिम हैं. यह विचारभंगिमा, अरब-यहूदी पृष्ठभूमि के धर्मों, यथा ईसाई और इस्लाम धर्मों की विशेषता है. आस्था की प्रामाणिकता के एकाधिकार का यह उद्‌घोष, संसार में धार्मिक असहिष्णुता

और कट्टरवाद का अकेला सबसे बडा कारण है. कालान्तर में कुछ अन्यान्य सम्प्रदायों ने भी इस सिद्धान्त को अपनी अपनी अनन्य श्रेष्ठता के मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया. सिखों द्वारा ग्रन्थ और गुरू के पार्यन्तिक स्वरूप की अवधारणा, वैष्णवों द्वारा श्रीकृष्णावतार को 'कृष्णस्तु भगवान स्वयम्' यह कहकर परम तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करना, इस विचारभंगिमा के भारतीय अनुवाद है. किन्तु गीताधर्म, जो कालान्तर में हिन्दूधर्म नाम से विख्यात हुआ, अपने पक्ष में किसी अपवाद, अन्यान्य धर्मो की तुलना में किसी विशेष हैसियत का दावा नहीं करता. वह न तो अपने को धर्मग्रन्थ के रूप में 'आखिरी पैगाम' मानता है, और न ही श्रीकृष्ण को अन्तिम अवतार. श्रीमद्भगवद्गीता में अवतारवाद के सिद्धान्त की प्रस्तुति —

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।। ४.७

— एक शाश्वत प्रक्रिया का निर्विशेष उद्‌घोष है, जिसमें अवतार और संदेश की किसी अभिव्यक्ति विशेष की 'श्रेष्ठता' 'पार्यन्तिकता' के लिए कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं है. वस्तुतः अवतारवाद की शाश्वत प्रक्रिया के रूप में अवधारणा अर्थतः 'पार्यन्तिकता' की विरोधी है, क्योंकि इसमें किसी भी क्रम को पार्यन्तिक मान लेने के बाद, प्रक्रिया के आगे चलते रहने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाएगा. श्रीमद्भगवद्गीता में 'अवतारवाद' के साथ ही एक अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की स्थापना हुई है, और वह है दिव्यसंदेश' के'*आविर्भाव*' और '*तिरोभाव*' का सिद्धान्त. यह ध्यान देने की बात है कि गीता के चतुर्थ अध्याय में 'अवतारवाद' की स्थापना से पूर्व, अध्याय के आरम्भ में ही, संदर्भित उपदेश के आविर्भाव और तिरोधान का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है. दिव्य संदेश का आविर्भाव अर्थात् उसका अवतरण, शाश्वत-आध्यात्मचेतना की देशकालपरिच्छिन्न अभिव्यक्ति है, जो एक अनादि प्रक्रिया का अंग है. इनमें से किसी एक के बारे में 'आखिरत' की बात नहीं की जा सकती, क्योंकि वे एक सीमित प्रासंगिकता के साथ पैदा ही होते हैं. यह सत्य है कि धर्मग्रन्थ की सीमित प्रसंगिकता की चेतना, मन में संदेह और अनास्था को जन्म देती है, जो एक प्रबुद्ध व्यक्ति को संस्थागत आलंबनों के अनुशासन से परे, उसके तात्त्विक आधार के अनुसंधान की ओर ले जा सकती है. किन्तु सामान्य व्यक्ति को यह आस्थाहीन बनाकर उसे कर्मपथ से विरत भी कर सकती है. इस बात को ध्यान में रखते हुए श्रीमद्भगवद्गीता आस्थावान् समाज को 'प्रबुद्ध'

और 'अप्रबुद्ध' वर्गों में विभाजित करते हुए उन्हें '*कृत्स्नविद्*' और '*अकृत्स्नविद्*' नाम देती है, तथा 'अकृत्स्नविद्' लोगों के लिए समय से पहले ऐसे किसी उपदेश का निषेध करती है जो उनकी आस्था को विचलित करता हो. किन्तु कोई भी व्यक्ति अनन्तकाल तक अप्रबुद्ध नहीं रह सकता, बोध उसका अधिकार भी है, और दायित्व भी — **'उत्तिष्ठ जाग्रत वरान्निबोधत'**. अतः श्रीमद्भगवद्गीता, तदाश्रित हिन्दूधर्म, अपनी व्यवस्था में आस्था की व्यवस्थानिरपेक्ष कोटि को मान्यता प्रदान करता है, जिस तक पहुंचने का साधन है, संस्थागत की सीमित प्रासंगिकता की समझ. यह समझ संस्थागत का निषेध या तिरस्कार नहीं है, अपितु धर्मचेतना के अपरिच्छिन्न तात्त्विकबोध में प्रवेश हेतु, साधनरूप में संस्थागत का मूल्यांकन और सम्पुष्टि है. यही अन्तर है, श्रीमद्भगवद्गीता में और अष्टावक्र गीता में. अष्टावक्र गीता संस्थागत की सीमित, व्यावहारिक अर्थवत्ता को भी स्वीकार करने को तैयार नहीं है. संस्थागत को पूर्णरूप से अस्वीकार करते हुए, अष्टावक्र गीता जिस तत्त्वोपदेश में प्रवृत्त होती है, उसमें संस्थागत की अस्वीकृति को, एक व्यावहारिक, उपदेश-नैमित्तिक, कामचलाऊ परिकल्पना के रूप में निरूपित करती श्रीमद्भगवद्गीता की सर्वाङ्गीण दृष्टि, न केवल संस्थागत को, उसके परिच्छिन्न स्वरूप को, मान्यता देती है, अपितु आस्था के तात्त्विक निर्वचन में एक अनिवार्य सोपान के रूप में इसकी स्थापना करती है. हिन्दू आस्था की वृत्ति निषेध के बजाय संग्रह की है. जहां निषेध व्यवस्था में प्राप्त है, व्यापक संदर्भों में उसका अवमूल्यन और संग्रह, हिन्दू आस्था की विशेषता है. हजारों वर्षों से चले आ रहे, इसके अजस्र प्रवाह में, सैंकडों उपासनामार्ग, इसमें आकर मिले. अनगिनत वैदिक और अवैदिक साधना पद्धतियों का चलन हुआ, गुह्य विद्याओं के सम्प्रदाय अस्तित्व में आये. इनके आविर्भाव और तिरोभाव का क्रम स्वाभाविक गति से चलता रहा, किन्तु हिन्दूधर्म ने अपने आदिम प्रतीक पूजन से लेकर योग की वैज्ञानिक साधना पद्धति तक के अपने इस विशाल संग्रह में से कुछ भी छोड़ा नहीं है. आस्था की व्यक्तिसापेक्ष और सर्जनात्मक अवधारणा में कोई उपादान सर्वथा अप्रासंगिक नहीं हो सकता. पुत्रगृद्ध धृतराष्ट्र की मोहासक्त जिज्ञासा ***''मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय''*** को सामने रखते हुए गीता, परिवारमोह की एक ऐसी समस्या के साथ आरम्भ होती है, जो अनादि काल से, सम्राटों से लेकर सामान्यजन तक, नैतिक दुर्बलता का सामान्य हेतु रही है. गीता का आरम्भ बिन्दु है, कौरव-सम्राट धृतराष्ट्र के भीतर बैठे एक आम आदमी की समस्या, बालबच्चों की फिकर, उनके कुशलक्षेम की चिन्ता, और उससे जुड़े नैतिकता के सवाल. धृतराष्ट्र की समस्या,

आज के हर उस व्यक्ति की समस्या है, जो अपने बच्चों को स्कूल में दाखिला दिलाने से लेकर पास करवाने तक, और पास करवाने से लेकर नौकरी दिलवाने तक, कोई कसर बाकी नहीं छोड़ता. सारे मानदंडों को ताक पर रखकर राजनीति में अपने परिवार की बेल सींचता नेता, हर घूंसखोर अफसर, हर कालाबजारी करनेवाला व्यापारी यही कहता मिलेगा — "क्या करें, बालबच्चों के लिए यह सब करना पड़ता है." गोया बालबच्चे पैदा करके, इन्होंने भगवान् पर एहसान किया हो, और बदले में मनमानी करने का लाइसैंस पा लिया हो. बड़े से बड़ा राजनेता हो या फिर सन्त-महात्मा, परिवार की बात आती है तो नैतिक रूप से, बहुत असहाय, बहुत दुर्बल हो जाते हैं. धृतराष्ट्र इस दुर्बलता का मूर्तिमान रूप है. उसी के शब्दों में सुनें कि वह क्या कहता है :

अहं त्वचक्षुः कार्पण्यात् पुत्रप्रीत्या सहामि तत् ।
मुह्यन्तं चानुमुह्यामि दुर्योधनमचेतनम् ।। आदि. १.१४५

मैं अंधा हूँ, अतः कुछ दीनता के कारण और कुछ पुत्रों के प्रति अधिक आसक्ति होने से भी वह सब अन्याय सहता आ रहा हूँ. मन्दबुद्धि दुर्योधन जब मोहवश दुखी होता था, तब मैं भी उसके साथ दुखी हो जाता था.

एतद् वाक्यं विदुर यत् ते सभाया-
मिह प्रोक्तं पाण्डवान् प्राप्य मां च ।
हितं तेषामहितं मामकाना-
मेतत् सर्वं मम नावैति चेतः ।। वन. ४.१८

धृतराष्ट्र ने कहा — विदुर! तुमने यहाँ सभा में पाण्डवों के तथा मेरे विपय में जो बात कही है, वह पाण्डवों के लिए तो हितकर है, पर मेरे पुत्रों के लिए अहितकारक है, अतः यह सब मेरा मन स्वीकार नहीं करता है.

असंशयं तेऽपि ममैव पुत्रा
दुर्योधनस्तु मम देहात् प्रसूतः ।
स्वं वै देहं परहेतोस्त्यजेत
को नु ब्रूयात् समतामन्ववेक्ष्य ।। वन प.४.२०

(इसमें संदेह नहीं कि पाण्डव भी मेरे पुत्र हैं, पर दुर्योधन साक्षात् मेरे शरीर से उत्पन्न हुआ है. समता की ओर दृष्टि रखते हुए भी कौन किसको ऐसी बातें कहेगा कि तुम दूसरे के हित के लिए अपने शरीर का त्याग कर दो)

हमारा विश्वास है, पहले की पीढ़ियों की अपेक्षा आज का आदमी, धृतराष्ट्र के दर्द को बेहतर समझ सकता है, अतः इस बारे में अधिक नहीं लिखेंगे.

१०.३ धृतराष्ट्र का अन्धत्व : धर्म की परोक्षपक्षपाती अवधारणा का उपलक्षण

धृतराष्ट्र के अन्धत्व को लेकर अनेक प्रतीकात्मक व्याख्यायें हुई हैं, जो इस इन्द्रियवैक्लव्य को उसके पुत्रमोह, राज्यासक्ति, अज्ञान, स्वार्थान्धिता आादि अनेक चरित्रगत-वैक्लव्य-पर्यवसायी अर्थों में निरूपित करती हैं. इनके बारे में विशेष न कहकर इसी क्रम में एक और अर्थ का उद्‌भावन करना चाहेंगे, जो इस अध्ययन के लिए प्रासंगिक है. इन्द्रियवैक्लव्य (अन्धत्व), धर्म के प्रति परोक्षपक्षपाती दृष्टि का प्रतीक है. ईश्वर के संदेशवाहक (नबी) के रूप में मध्यस्थ के प्रति समर्पण भाव के बिना ईश्वरप्राप्ति सम्भव नहीं है. माध्यम की अपरिहार्यता तथा मनुष्य में स्वतः ईश्वरावगति की आध्यात्मिक सामर्थ्य का निषेध, धर्म की परोक्षपक्षपाती दृष्टि का निहितार्थ है. ईसाई सम्प्रदाय में इसी बात को चरवाहे और भेड़ों के रूपक से कहा गया है. ईसामसीह को छोड़कर, जो नबी भी है और अवतारी पुरुष भी (ईश्वर का बेटा), सभी मनुष्य, भेड़ें हैं, अप्रबुद्ध पशु. इनमें से कुछ भेड़ें ईसामसीह की हैं, तो कुछ अन्य 'गड़रियों' की, और कुछ बिल्कुल स्वतंत्र. लेकिन वे हैं तो सब भेड़ें ही, हांक कर ले जाए जाने वाली चीज. ये गड़रिये भेड़ों को कहां ले जाते हैं, यह तो बाद की बात है, लेकिन इंसानों को भेड़ और भेड़ को वस्तु (खाद्य) बनाए जाने के इन धार्मिक अनुष्ठानों में, जो खो गया है, जो छीन लिया गया है, उसका हिसाब लगाया जाय तो मन कांप उठता है. सृष्टि के प्रारम्भ से ही, ईश्वर ने मानव को बुद्धि, विवेक और नैतिक बोध का अनूठा उपहार दिया, जो सनातन काल से, ईश्वर के दूत और उनके संदेश के क्रम के समारम्भ से बहुत पहले से, मानव का मार्गदर्शन करते रहे हैं. ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट दैन, बुद्धि और विवेक से वंचित, इंसान अगर भेड़ों की तरह हांक कर ईश्वर तक ले भी जाया जाता है, तो यह न तो ईश्वर के लिए और न इंसान के लिए ही कोई गौरव की बात होगी. ईश्वर ने क्या बनाकर भेजा था इंसान को, और किस रूप में हांक कर उसे भगवान् के सामने हाजिर किया गया है, इस एहसास से बोझिल ईश्वर और इंसान आमने सामने होते हुए भी, एक दूसरे से आंख नहीं मिला सकते. इस विवरण का उद्‌देश्य किसी सम्प्रदाय की समीक्षा करना नहीं, बल्कि उस परोक्षपक्षपाती जीवन दृष्टि का निदर्शन कराना है, जिसे धृतराष्ट्र का इन्द्रियवैक्लब्य निकट से अभिव्यक्त करता है, और जो, धर्मदर्शन के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण धारा है. श्रीमद्भगवद्गीता मानव के सकल व्यक्तित्व को यथावत् स्वीकारते हुए, उसी में उसके उद्धारक का अनुसंधान करती है. उसकी जटिल व्यक्तित्वसंरचना में, वासनाओं के स्थूल और सूक्ष्म आवेग हैं, जो उसके अन्दर की पाशविकवृत्तियों

का निर्माण करते हैं, साथ ही उसमें बुद्धि है, विवेक है, जो उसे अपने भीतर के पशु को पहचानने में मदद करती है, और उसके अन्दर आत्मा है, ईश्वर का अंश, जो उसकी समुद्धारक बनती है. गीता में, अनेक स्थलों पर 'सकल व्यक्तित्व' की, कहीं समग्ररूप में, तो कहीं कहीं कला विशेषों के निर्वचन के रूप में चर्चा हुई है. यहां एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा-

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।४२ ।
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।४३ ।

"अपने आत्मा को जान कर, और बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके, हे महाबाहो ! तू इस दुर्जेय कामरूप शत्रु को मार" . अपने भीतर विराजमान आत्मा के अतिरिक्त, अन्य की सहायता के प्रति निरपेक्ष, आध्यात्मपथ के वीर योद्धा के रूप में मानव की यह अवधारणा, गड़रिये द्वारा हांक कर ले जाती भेड़ के रूप में मानव की अवधारणा से कितनी और किस प्रकार भिन्न है, यह बताने के लिए, किसी व्याख्यान की जरूरत नहीं है.

ईश्वरावगति, अथवा परमतत्त्व की प्राप्ति, सकल व्यक्तित्व का सहज गन्तव्य है. वैक्लव्य, इसमें व्यतिक्रम और भटकाव उत्पन्न कर सकता है. गीता में विस्तार से इनकी पहचान और उपचार के उपायों पर विचार हुआ है. निःसंदेह वैक्लव्य और तज्जनित व्याधि से पीड़ित व्यक्ति को विशेषज्ञ के मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है. परोक्षनिर्भरता उसकी विवशता है. अपेक्षित मार्गदर्शन किसी अनुभवी व्यक्ति से, मित्र से, गुरु से, किसी साधक अथवा सन्त से कहीं से भी प्राप्त हो सकता है. किन्तु जब तक कि हम मानव को निपट पशु न मानलें, उसे हांक कर ले जाने की, नाक पकड़ कर ले चलने वाले नबी की अवधारणा के लिए सैद्धान्तिक औचित्य नहीं बनता. श्रीमद्भगवद्गीता निश्चय ही मानव की इतनी दरिद्र अवधारणा को स्वीकार नहीं करती. धृतराष्ट्र के दृष्टिवैक्लव्य, तदुपलक्षित विवेक वैक्लब्य को विषय बनाकर प्रवर्तित गीता का समारम्भ, निश्चय ही धर्म की परोक्षपक्षपाती, शास्त्रमात्रक दृष्टि को केवल एक व्यावहारिक, समीक्षार्ह प्रस्थान बिन्दु के रूप में मान्यता देता है.

'भेड़-चरवाहा' रूपक के द्वारा, कबीलाई पृष्ठभूमि के धर्मों में मानव को जो हैसियत प्राप्त

है, केवल उतने भर का स्पष्टीकरण यहां अभीष्ट है. ईश्वर के सामने भक्तिभावाश्रित मानव का आत्मसमर्पण और अकिञ्चनता तो उसका अपना निर्णय है, अधिकारभाव का स्वेच्छया निषेध, जो एक विवेकशील प्राणी के रूप में उसके निर्णय के अधिकार को कहीं भी कुण्ठित नहीं करता. तब भी नहीं जब वह अपने हर निर्णय के पीछे ईश्वर को देखता है, क्योंकि तब वह अपनी निर्णायक भूमिका में ईश्वर को पहचान रहा होता है. विवेक के अधिष्ठान रूप में उसका स्वरूप अव्यभिचरित है, ईश्वर प्रेरित हो जब भी और अहंकार प्रेरित हो तब भी. निःसंदेह इन्द्रियों और इच्छाओं के आधीन, उनके प्रवाह के सामने असहाय, संवेग-संभ्रमित मानव पशु से भिन्न नहीं है, किन्तु इस पशुभाव से मुक्ति के आधार स्वयं उसके भीतर हैं, जिनके द्वारा वह उद्धारक (पुरुष अथवा ज्ञान) की खोज करता है, उसे जानता है और स्वीकारता है. यह स्वीकृति सम्पूर्ण समर्पण भी हो सकती है, और परखने की प्रक्रिया भी — सम्पुष्टि, प्रत्याख्यान, अथवा परिष्काररूपा— जो व्यक्तित्व की आवश्यकता के अनुरूप, नए आध्यात्मपथ की तलाश को जन्म देने की सामर्थ्य रखती है. दिव्यचेतना, उसके अवतरण और उद्‌बोधन के आधार मानव व्यक्तित्व की परिधि के भीतर ही हैं, जिनकी पहचान बाह्य तथा आभ्यन्तर साधनों के द्वारा, गुरु या नबी के उपदेश की सहायता से हो सकती है, किन्तु इनमें से किसी भी सहायक सोपान की शाश्वत, सार्वभौमिक नियामकता को स्वीकार नहीं किया जासकता, क्योंकि व्यक्तित्वभेद के कारण आध्याात्मिक आवश्यकता, तथा साधन में भेद आ जाता है.

किसी भी साधक पुरुष (पैगम्बर, अवतार, गुरु) तथा उसके उपदेश की शाश्वत, सार्वभौमिक परमार्थ रूप में प्रतिष्ठा ही साम्प्रदायिकता है. हिन्दुओं के अनेक सम्प्रदाय, उपदेश की सार्वभौमिक नियामकता को उसी प्रकार स्वीकार करते हैं, जिस प्रकार ईसाई और इस्लाम धर्मावलम्बी. किन्तु हिन्दूधर्मदर्शन संदेश के निरुपाधिक नियामकत्व को स्वीकार नहीं कर पाता तो इसके दो कारण हैं. प्रथम तो यह कि हिन्दूधर्म, सम्प्रदायों के मूल में अथवा उनसे परे — दोनों स्थितियों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है — आस्था की एक संघीयचेतना को स्वीकार करता है, जिसके सन्दर्भ में किसी भी साम्प्रदायिक प्रतिबद्धता में निरूपाधिक नियामकत्व नहीं बन सकता. दूसरा कारण है उसकी यह मान्यता कि धर्मचेतना के उपादान और साधन, मानव व्यक्तित्व में ही समाहित हैं. अतः धर्म का प्रामाणिक रूप विधान का नही अनुसंधान का है. यहां आस्था की प्रामाणिकता का

अर्थ है उसकी उपयुक्तता.

हिन्दू धर्म दर्शन की उपर्युक्त मान्यतायें जहां उसे संसार के सभी धर्मों से, तथा स्वयं अपने सम्प्रदायों से अलग एक व्यापक बहुआयामी पहचान देती हैं, वहीं कुछ विरोधाभासों और समस्याओं को भी जन्म दे जाती हैं यथा —

१ - धर्मचेतना के आधारों को मानव व्यक्तित्व की परिधि में लाने का अर्थ है धर्म के सरल, सर्वमान्य, वस्तुनिष्ठ स्वरूप का प्रत्याख्यान करना.

२ - सार्वभौमिक, वस्तुनिष्ठ स्वरूप का प्रत्याख्यान आस्था में संदेह बीज को जन्म देता है. संदेह धीरे धीरे अनास्था, अथवा सुविधाजनक आस्था का निर्माण करता है. उपयुक्तता स्वतः अनजाने ही सौविद्धय का पर्याय बन जाती है.

३ - आस्था का निर्धारण और उपयुक्तत्ता की संपुष्टि, ईमानदार हिन्दू पर इतना बड़ा दायित्व डाल देती है, की उसे संभाल पाना हर किसी के बस की बात नहीं है. सामान्य जन बंधे बॅधाए रास्ते पर चलना या किसी विश्वसनीय मसीहा के द्वारा हांक कर ले जाया जाना ही पसन्द करता है.

४ - आस्था के मूर्त आलंबन का अर्थात् उपयुक्त सम्प्रदाय का चयन अथवा निर्धारण, अपने व्यक्तित्त्व की निष्कपट समझ, अपने मनोवैज्ञानिक उपादानों की अकृत्रिम पहचान और मूल्यांकन की अपेक्षा रखती है. अपने बारे में इस प्रकार की सही समझ बना पाना, असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है. सामान्यतः अपनी सामर्थ्य और सम्भावनाओं के बारे में हम सभी कुछ प्रिय भ्रम पाले रहते हैं, जो जीवन भर हमारे साथ रहते हैं. अपने को समझने के लिए एक विशेषज्ञ की दृष्टि और प्रशिक्षण चाहिए. यही कारण है कि अधिकांशतः मिथ्या व्यक्तित्व-दर्शन पर आधारित धर्म निर्धारण की पाखण्ड में ही परिणति होती है. यह स्थिति हिन्दू धर्म में औरों की अपेक्षा कुछ अधिक ही है. हम आसानी से वैष्णव हो सकते हैं, शैव और शाक्त हो सकते हैं, रामानन्दी या पुष्टिमार्गी, सिख या आर्यसमाजी हो सकते हैं; जैन और बौद्ध होना मुश्किल नही है, लेकिन हिन्दू हो कर जीना बहुत मुश्किल है क्योंकि यह उपयुक्त आस्था के चुनाव की जिम्मेदारी डालता है आप पर. इसके लिए चाहिए अपने आपकी, अपने व्यक्तित्व की अकृत्रिम पहचान, तदनुसार एक मसीहा की खोज और

उपयुक्त साधनापथ का वरण. यह अनुसंधान और वरण, सर्वथा नवीन कुछ हो यह आवश्यक नहीं; प्राप्त की अनुभव में सम्पुष्टि भी अनुसंधान ही होती है. यहां प्रश्न यह है कि जो इस प्रकार प्रबुद्ध नहीं है, जिनका चैतन्य उक्त रूप से जागृत नहीं है, क्या वे हिन्दू कहलाने के अधिकारी नहीं है? दरअसल कोई भी अप्रबुद्ध हिन्दू इतना अप्रबुद्ध नही होता कि उसमें अपनी साम्प्रदायिक प्रतिबद्धताओं से परे, आस्था वैविद्ध्य के सहभाव के धरातल की चेतना न हो. यह चेतना हिन्दू को सामान्यतः अपने पारिवारिक परिवेश से ही मिलती है, जहां अलग अलग आस्थालम्बनों से जुडें लोग उपासना की भिन्न पद्धतियों का अनुसरण करते हुए, सौहार्द्रपूर्वक एक ही परिवार के सदस्य बनकर रहते हैं. हिन्दू दरअसल एक साथ आस्था के दो, या तीन धरातलों पर जीता है. एक है, आस्था का संस्थागत, विधिनिषेध मूलक रूप – जो एक सामान्य, अप्रबुद्ध व्यक्ति की धर्म विषयक अवधारणा है. दूसरा है, आस्था की अपेक्षाकृत व्यापक संघीयचेतना का धरातल, जिसे सामान्यजन सम्प्रदायिक अविरोध और सहभाव की भूमि के रूप में स्वीकार करते हैं. किन्तु प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए यह उपयुक्त साधनापथ (धर्म) के अनुसंधान की भूमि है. आस्था के इन धरातलों का निदर्शन तथा उनको साथ लेकर कैसे जिया जाय, यह गीतोपदेश की मूल समस्या है.

जैसा कि उपर कहा जा चुका है हिन्दू अध्यात्मिक रूप से प्रबुद्ध, जिम्मेदार मानव का धर्म है. गीता का पहला अध्याय उपदेश के प्रयोजन से इस उपयुक्त पात्र की तलाश को समर्पित है जो धृतराष्ट्र से प्रारम्भ होती है और दुर्योधन, भीष्म आदि को टटोलती, अर्जुन पर जाकर ठहर जाती है. युद्धस्थल के परिदृश्य के निरीक्षण से अर्जुन के मन में परम्परागत, वर्णाश्रम धर्म की व्यावहारिकता को लेकर संदेह उत्पन्न होता है, जो क्षत्रिय के लिए युद्ध का कर्तव्यरूप में विधान करता है (श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके). गीता के आगे के अध्याय (दो से छः तक) आस्था के उभय धरातलों के अनुसंधान, उनकी परस्पर सापेक्षता का निदर्शन, तथा आस्था के दोनों धरातलों पर युगपत् कैसे जिया जा सकता है, उस उपाय के प्रतिपादन को समर्पित है.

गीता का प्रथम श्लोक, धृतराष्ट्र का कहा गया केवल एकमात्र श्लोक है. किन्तु इस आधार पर गीता में इसकी भूमिका को कम करके नहीं आंकना चाहिए. धृतराष्ट्र की जिज्ञासा ''मामकाः

पाण्डवाश्चैव..." महाभारत युद्ध के सम्पूर्ण परिदृश्य को, उसके इतिहास के बोझ को अपना उद्देश्य बनाती है, जिससे बच निकलने का रास्ता नहीं है, जिसमें किसी को तटस्थ होने की अनुमति नहीं है. शल्य इस युद्ध में तटस्थ हो सकते थे, इसके लिए समझ में आनेवाले कारण मौजूद थे. द्रोण और भीष्म में तटस्थता एक बेहतर विकल्प प्रतीत होती है, कृष्ण शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा के वाबजूद तटस्थ नहीं रह सके, और न ही प्रतिज्ञा का पूरी तरह निर्वाह कर सके. यह धर्म-संकट का बीज है जिससे बचाव के लिए अर्जुन तटस्थ हो जाने की बात सोचते हैं, और गीतोपदेश के निमित्त बन जाते हैं. धर्मव्याधि के इस सम्पूर्ण ऐतिह्य बोझ को समेट कर प्रस्तुत करता है, गीता का प्रथम श्लोक.

■ ■ ■

द्वितीय एककः

'संजय उवाच' इत्यत आरभ्य एकादशतमश्लोकपर्यन्तं दुर्योधनस्य युद्धभूमिनिरीक्षण-प्रवृत्तिविषयकः दशश्लोकात्मकः द्वितीय एककः (श्लो.२-११)। अन्तःसंरचनाविश्लेषणं निदर्शयत्यस्य चतुर्विभागनिबन्धनं सुसम्बद्धम्। यथाग्रिमपङ्क्तिरूपायितं तत्तु प्रस्तूयतेऽत्र व्यञ्जनानुक्रमेण –

५+३+१+१

(क) संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं [२] दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ।। १.२
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ।। .३
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।। .४
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ।। .५
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ।। .६

इस पर संजय बोला, उस समय राजा दुर्योधन ने व्यूहरचनायुक्त पाण्डवों की सेना को देखकर और द्रोणाचार्य के पास जाकर यह वचन कहा. हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खडी की हुई पाण्डुपुत्रों की इस विशाल सेना को देखिए. इस सेना में बडे बडे धनुषों वाले, युद्ध में भीम और अर्जुन के समान बहुत से शूरवीर हैं, जैसे सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद और धृष्टकेतु, चेकितान तथा बलवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य और पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पांचों पुत्र यह सब ही महारथी हैं.

(ख) अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ।। .७
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ।। .८
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।। .९

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! हमारे पक्ष में भी जो जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिए, आपके जानने के लिए मेरी सेना के जो जो सेनापति है उनको कहता हूँ. एक तो स्वयं आप और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा तथा और भी बहुत से शूरवीर अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग में कुशल, जिन्होंने मेरे लिए जीवन के मोह को छोड़ दिया है, वे सबके सब युद्ध विद्या में निपुण हैं.

(ग) अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।। .१०

और भीष्मपितामह द्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकार से अजेय है, जब कि भीम द्वारा रक्षित इन लोगों की यह सेना जीतने में सुगम है.

(घ) अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।। .११

इसलिए सब मोर्चों पर अपनी अपनी जगह स्थित रहते हुए आप लोग सबके सब ही निःसन्देह भीष्मपितामह की ही सब ओर से रक्षा करें.

'मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय' इति जिज्ञासायाः द्वौ भागौ 'मामकाः किमकुर्वत', 'पाण्डवाः किमकुर्वत' इति। अतोऽत्र क्रमागतस्य 'मामकाः किमकुर्वत' इति जिज्ञासाप्रतियोगिकस्य दुर्योधनस्य युद्धस्थलनिरीक्षणप्रसङ्गावतारः । तदनुक्रमते निरीक्षणाङ्गभूतम् (क) पाण्डवसैन्यवर्णनम् (ख) स्वसैन्यवर्णनञ्च (ग) निरीक्षणजो विमर्शः उभयसैन्यबलाबलनिरूपणात्मकः (घ) विमर्शस्य द्रोणं प्रति राज्ञोऽवसरोचितनिदेशात्मके निर्णये परिणतिः ।

१. महत्त्वं भजते गीतायां दुर्योधनस्य युद्धस्थलनिरीक्षणम्, धृतराष्ट्रस्य ममत्वसंक्रमित-कुरुक्षेत्राभिज्ञानस्य व्यावहारिकरूपान्तरत्वात्, अर्जुनस्य पश्चाद्भावि-युद्धस्थलावेक्षणस्य प्रतियोगित्वाच्च। लक्ष्या अत्र निरीक्षणस्य त्रयः क्रमाः। प्रथमं तावत् 'मामकाः पाण्डवाश्चैव' इति ममत्वसंक्रमितं युद्धभूमेरभिज्ञानं धृतराष्ट्रस्य। तद्भिन्नं दुर्योधनस्य

आचार्य-द्रोणं प्रति निवेदनमुपलक्षते कुशलसैन्यसंचालकार्हं युद्धभूमेर्निरीक्षणं किमपि तात्कालिकव्यवहारानुरूपम्, यस्मिन् बलाबलानुसन्धानसापेक्षं स्वपरपक्षाभिज्ञानातिरिक्तं नास्ति कोऽपि चेतनालेशः मानवीयसम्बन्धानां येषां संक्रमणमर्जुनं परां विकलतां गमयति। निदर्शयतीदं व्यावहारिकजीवनदर्शनस्य प्रयोजनानुशासितप्रवृत्तिम्, आक्षिपति च व्यवहारस्य ममत्वोपादाननियमनरूपताम्, प्रतियोगित्वेनार्जुनकृत-युद्धस्थलनिरीक्षणस्य व्यावहारिकावच्छेदकमुक्तचैतन्यानपेक्षितस्फीति- लक्षणावसरानुपयुक्तजिज्ञासाजनकत्वञ्च।

२. श्रीमद्भगवद्गीतायाम् ऐतिहासिकपात्राणि उपदेशनिमित्तसम्भावितमनोवैज्ञानिकक्षेत्राणि उपस्थापयन्ति, येषाञ्चानुशीलनं गीतोपदेशोपयुक्तस्य व्यक्तिक्षेत्रस्य अभिज्ञाने पर्यवसतीति। सम्पन्ने च तस्मिन् अप्रासङ्गिकतां गतेषु ऐतिहासिकपात्रेषु धृतराष्ट्रः नैव स्मारितः एकवारमपि, दुर्योधन-द्रोणभीष्मप्रमुखाः 'कालेन पूर्वहत'- इति रूपेण स्मर्यन्ते केवलं एकादशेऽध्याये। किन्तु यदि गीतायाः सावधानमनुशीलनं भवेत्तर्हि 'सत्त्वरजस्तम' इति गुणानाम्, दैवासुरसम्पद्विभागस्य, श्रद्धायाः, त्यागस्य कर्तुश्च सत्त्वरजस्तमोरूपत्रैविध्यस्य च विभागवचनेषु, प्रथमाध्याये परिभाषितानामैतिहासिकपात्रनिरूपितव्यक्तिक्षेत्राणां सहजाभिज्ञानं कर्तुं शक्यते।

३. गीतार्थो हि घनीभूतयोगानुभवरूपः, कैश्चिद् क्षणैरेव प्रेषणीयः, कुरुक्षेत्रपृतनामुखे, अष्टादशाध्यायिन्याः गीतायाः पाठस्यानुपपन्नत्वात्। तादृशस्य योगानुभवस्याभिव्यक्त्यर्थं श्रीमद्भगवद्गीता भजते काञ्चिद् विशिष्टां सर्जनात्मिकां प्रतिपादनशैलीम्। अन्यैः साधनैः सह शैलीयं पात्रयुग्मानां कुशलनियोजनेन अर्थस्य सूक्ष्मभावच्छाया उद्घाटयति अनिर्वचनीयाः। स्पष्टमनेन महत्त्वमैतिहासिकपात्रविवरणपरस्य द्वितीयस्यैककस्य।

एकक-विमर्श

'संजय उवाच' यहां से प्रारम्भ होकर, ग्यारहवें श्लोकपर्यन्त, दुर्योधन के युद्ध-निरीक्षण को विषय बनाता यह दशश्लोकात्मक द्वितीय एकक है. इसके चार सुसम्बद्ध विभाग हैं, जिनका यथाक्रम निदर्शन कराया गया है.

धृतराष्ट्र की जिज्ञासा के दो अंश हैंः 'मामकाः किमकुर्वत' तथा 'पाण्डवाः किमकुर्वत' जो यह तय कर देते हैं, कि संजय को क्या कहना है और किस क्रम में कहना है. इनमें प्रथम प्राप्त 'मामकाः किमकुर्वत' (मेरे अपनों ने क्या किया), इस जिज्ञासा को ध्यान में रखते हुए, कुरुक्षेत्र

की युद्धभूमि में दुर्योधन के व्यवहार का वर्णन करते हैं, जो एक कुशल सेनानायक के रूप में उसके व्यक्तित्व को रेखाङ्कित करता है.

आचार्य द्रोण, भीष्म के नेतृत्व में युद्ध के लिए सन्नद्ध कौरव सेना के प्रमुख महारथी हैं. युद्धस्थल के परिदृश्य का निरीक्षण करने के पश्चात दुर्योधन, आचार्य द्रोण के पास पहुंच कर उन्हें अपनी 'रिपोर्ट' देता है. नौ श्लोकों में प्रस्तुत यह रिपोर्ट एक समग्र एकक है, जिसके चार सुसम्बद्ध विभाग एक उद्देश्यपूर्ण निरीक्षण के क्रमिक सोपानों को निरूपित करते हैं, यथा (१) पाण्डवों की व्यूहरचना तथा सैन्यबल (२) अपना सैन्य बल (३) तुलनात्मक आकलन तथा (४) 'भीष्ममेवाभिरक्षन्तु' यह निर्णय. यह एक कुशल सेनानायक की रिपोर्ट है, वस्तुनिष्ठ, संक्षिप्त किन्तु सुस्पष्ट. दुर्योधन का युद्धस्थल-निरीक्षण एक नितान्त एकाग्र, चयनात्मक और उद्देश्यानुशासित क्रिया है, और इस विशेषता में, यह इसी क्रम में अर्जुन के युद्धस्थल निरीक्षण का ठेठ विपर्यास है, जो हमें निरीक्षण के क्षण में ही बिखरता हुआ दिखता है.

१. धृतराष्ट्र, दुर्योधन तथा अर्जुन द्वारा कुरुक्षेत्र का अभिज्ञान :

जीवनदर्शन की तीन भंगिमाएं श्रीमद्भगवद्गीता में दुर्योधन का युद्धस्थल-निरीक्षण अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है. दुर्योधन से पहले धृतराष्ट्र और उसके बाद अर्जुन कुरुक्षेत्र का अपने अपने ढंग से निरीक्षण करते हैं. इस प्रकार निरीक्षण के परस्पर सम्बद्ध तीन क्रम हमारे सामने आते हैं, जो वस्तुतः इस दुनियां में चीजों को देखने की तीन भंगिमाओं को बताते हैं. इस संसार में दृष्टि का पूरी तरह वस्तुनिष्ठ होना असंभव है. हम जो कुछ भी देखते हैं, और जिस प्रकार देखते है, वह हमारी दृष्टि में मोह के क्रमशः घनीभूत, विरल और विरलतर धरातलों में से किसी एक से जुड़ा होता है. धृतराष्ट्र, दुर्योधन, और अर्जुन की अपनी-अपनी युद्धभूमि की समझ लोक की इन तीन दर्शनवृत्तियों का निदर्शन है.

इनमें सर्व प्रथम आता है, धृतराष्ट्र द्वारा कुरुक्षेत्र का ममत्व-संक्रमित उल्लेख. यद्यपि धृतराष्ट्र कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र कहते हैं, उनकी समझ का कुरुक्षेत्र अपने और पाण्डुपुत्रों की आमने-सामने खडी विरोधी सेनाओं का सामान्य अधिष्ठान है, इससे अधिक कुछ नहीं. यह एक अन्धे की समझ है, जिसमें न तो सफल-प्रवृत्ति की योग्यता है, जो दुर्योधन की व्यावहारिक दृष्टि की विशेषता है, और न ही यह अर्जुन के अतिदर्शन की भांति समृद्ध किन्तु व्यवहार के लिए

अनुपयोगी अनुभव है, जो व्यावहारिक प्रवृत्ति को निलंबित करते हुए, वैज्ञानिक और दार्शनिक और सौन्दर्यबोध सम्बन्धी जिज्ञासाओं को जन्म देता है. धृतराष्ट्र की कुरुक्षेत्र की समझ, मोहपदार्थ के आदिम, अपरिष्कृतरूप का निदर्शन है, जो 'साक्षात् देखने' के निश्चयात्मक चरित्र से वंचित, अतः व्यवहार और चिन्तन की फलोन्मुखवृत्ति के अयोग्य एक निरुपाय वेदना के रूप में विजड़ित होकर रह जाता है. दुर्योधन और अर्जुन द्वारा युद्धस्थल के साक्षात् निरीक्षण के द्वारा यह आदिम मोह पदार्थ-बोध के निश्चयात्मक स्वरूप से जुड़ते हुए क्रमशः व्यवहार और चिन्तन की उच्चतर चेतना में प्रवेश करता है, और तन्निरूपित वृत्तियों का आकार ग्रहण कर लेता है. अतः दुर्योधन और अर्जुन के दृश्य पर आने के बाद, धृतराष्ट्र के पास अब कहने को भी कुछ नहीं बचता, करने को तो पहले ही कुछ नहीं था.

दुर्योधन का व्यक्तित्व, धृतराष्ट्र की विजड़ित राज्यासक्ति का व्यावहारिक रूपान्तर है. राज्यसिंहासन में धृतराष्ट्र की प्रबल आसक्ति है. राजसत्ता अपने औरस पुत्रों में प्रतिष्ठित रहे, यह उसकी अन्तरंग लालसा है. किन्तु यह लालसा किस प्रकार साकार हो, व्यवहार में इसकी सिद्धि कैसे हो, इस बारे में उसे कुछ नहीं सूझता. उसका मोह, उसके व्यक्तित्त्व में विवशता और अनिश्चय का स्थायीभाव बन कर आरूढ़ है —

> ''अहं त्वचक्षुः कार्पण्यात् पुत्रप्रीत्या सहामि तत् ।
> मुह्यन्तं चानुमुह्यामि दुर्योधनमचेतनम् ।। आदि प. १.१४५/१.१.९८

धृतराष्ट्र की यह विवश आसक्ति, दुर्योधन में एक समर्थ, आत्मविश्वास से ओतप्रोत निर्णायक आलंबन पा लेती है. अपने समस्त निर्णयों के लिए धृतराष्ट्र उसी पर निर्भर है. यही कारण है कि गीता में 'राजा' शब्द का प्रयोग धृतराष्ट्र के लिए न होकर दुर्योधन के लिए हुआ है (१.२). दुर्योधन का युद्धस्थल निरीक्षण, उसकी व्यावहारिक कुशलता और वस्तुस्थिति पर उसके नियंत्रण का परिचय देता है.

व्यावहारिक दृष्टि सदा चयनात्मक होती है. वह वस्तु को नहीं, वस्तु की व्यवहारोपयोगी संरचना को देखती है, जिसका सृजन, प्रयोजन की अपरिहार्य तात्कालिकता की चेतना में होता है. अनुभव के लिए प्रस्तुत, सघन परिदृश्य में से, वह केवल उतना ही देखता है, जितना तात्कालिक व्यवहार के लिए आवश्यक है. व्यस्त-यातायात वाली सड़क पर चलता हुआ व्यक्ति, आस-पास

के खूबसूरत दृश्यों को देखने के बजाय, उन वाहनों पर निगाह रखता है जिनसे उसे बचकर चलना है. यही व्यावहारिक दृष्टि की चयनात्मकता है. आज का विद्यार्थी जब परीक्षा में अच्छे अंक लाने को अपने अध्ययन का प्रयोजन बना लेता है, तो भारी-भरकम पुस्तकें, और पुस्तकालयों की दमघोटूं बैठकें अपने आप पीछे छूट जाती हैं, और सफल प्रवृत्ति में उपादेय, प्रयोजनानुविद्ध प्रश्नोत्तरियां उसके अध्ययन के क्षेत्र और अर्थ, दोनों को परिभाषित कर देती हैं. यह एक व्यावहारिक दृष्टि है, ईमानदार और भ्रममुक्त. दुर्योधन का युद्धस्थल निरीक्षण इसी व्यावहारिक जीवनदृष्टि का उदाहरण है, जिसे हम आज की भागदौड़ की जिन्दगी में अपनाने को विवश हैं, या समझते है कि हम विवश हैं. दुर्योधन कुरुक्षेत्र के मैदान को, धृतराष्ट्र की ही तरह, 'अपनों' और 'परायों' की पहचान के रूप में निरूपित करता है. किन्तु यह पहचान केवल उपादान है, जिसको लेकर उसका व्यावहारिक विमर्श प्रारम्भ होता है. जिन्हें धृतराष्ट्र ने 'अपनों' और 'परायों' के रूप में पहचाना है, वे अब दुर्योधन के निरीक्षण में, तथ्य बन चुके हैं, जिन्हें युद्धनीति के निर्धारण हेतु, विश्लेषण, आकलन और तुलनात्मक विमर्श की प्रक्रिया से गुजरना है —

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।। गी. १.१०

वह 'परायों' को पहचानता है तो केवल युद्ध में आक्रमण के लक्ष्य के रूप में, 'अपनों' को पहचानता है तो केवल रक्षा के केन्द्र के रूप में (**भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि**). सामने के परिदृश्य में वह अर्जुन की तरह से चाचा, ताऊ, गुरु और भाई-भतीजों को नहीं देखता. उसकी प्रयोजन-नियोजित दृष्टि, उपस्थित योद्धाओं को केवल स्वपक्ष और प्रतिपक्ष के तथ्यों के रूप में , हमले और प्रतिरक्षा के निशानों के रूप में देखती है. युद्धोपयोगी जानकारी के अलावा, वह उनमें और कुछ नही देखता, कुछ और देखना या जानना चाहता भी नहीं. वस्तुस्थिति के व्यवहारोपयोगी रूप को देखना, और केवल उतना ही देखना, यही व्यावहारिक दृष्टि है, जिसका निदर्शन दुर्योधन के युद्धस्थल के सर्वेक्षण में हुआ है.

निरीक्षण की इससे सर्वथा भिन्न तीसरी स्थिति वह है, जब दृष्टि व्यवहार के अनुशासन को तोड़ कर, प्रस्तुत परिदृश्य की समृद्धि को अपनी चेतना में खुला प्रवेश देती है. ऐसी स्थिति में व्यवहार, निरीक्षण का नियामक न हो कर स्वयं वस्तुदर्शन का अनुगामी बन जाता है. अधिकतर

ऐसा देखा जाता है कि अपनी समृद्ध अनुभव-राशि से अभिभूत वस्तुदर्शन, अभ्यस्त व्यवहार को संदेहास्पद बनाता हुआ, अनिश्चय में डालता हुआ, उसकी प्रवृत्ति को कुण्ठित कर देता है. यह अतिदर्शन, जहां व्यावहारिक प्रवृत्ति को कुण्ठित करता है, वहीं काव्य, विज्ञान और दर्शन में सृजन और अनुसंधान की प्रक्रिया को जन्म देता है. अर्जुन का युद्धस्थल-निरीक्षण, व्यावहारिक-दर्शन के अनुशासन से भटक कर उससे कहीं ज्यादा देखने लगता है, जितना युद्ध में सफल प्रवृत्ति के लिए आवश्यक है.

श्रीमद्भगवद्गीता का प्रथम श्लोक, धृतराष्ट्रोपलक्षित मोह-पदार्थ को एक प्राकृत-विकार के रूप में प्रस्तुत करता है, जो मूलप्रवृत्ति रूप में सर्वत्र विद्यमान है. यह प्राकृत-विकार ही क्रमशः परिष्कृत होकर दुर्योधन के व्यावहारिक-जीवनदर्शन और अर्जुन के धर्मसम्मोह के रूप में पल्लवित होता है. दुर्योधन की दर्प और आत्मविश्वासपूर्ण प्रवृत्ति तथा अर्जुन के ज्ञातिमोह दोनों में एक ही मोह पदार्थ उपादान रूप में विद्यमान है. यही कारण है धृतराष्ट्र का चरित्र, दुर्योधन और अर्जुन, दोनों के समझने की कुंजी है. धृतराष्ट्र के पुत्रमोह तथा अर्जुन के ज्ञातिमोह में इतनी निकट समानता है, की उनमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव को सहज देखा जा सकता है. अर्जुन के युद्धस्थल निरीक्षण को लेकर आगे चर्चा होगी. सम्प्रति गीतार्थनिर्धारण में ऐतिहासिक पात्रों की प्रासंगिकता पर विचार करेंगे, जो गीता के प्रथम अध्याय का एक अनन्य वैभव है.

२. गीतोपदेश में दुर्योधन प्रभृति ऐतिहासिक पात्रों की भूमिका :

धृतराष्ट्र की प्राकृत, परिवारपोषी, संकुचित मानसिकता की अनुवृत्ति दुर्योधन के अतिरिक्त और कहां मिल सकती है. धृतराष्ट्र जन्मान्ध है, इन्द्रियवैक्लव्य जहां उसकी स्वार्थनिष्ठा के दर्प को उद्धत ऊचाईयों तक जाने से रोकता रहता है, वहीं अंधेरे एकान्त के क्षणों में उसका विवेक कभी कभी उद्‌बुद्ध होकर उसे बेचैन कर देता है. न्याय का सार्वजनिक दिखावा उसकी राजनैतिक विवशता है. किन्तु दुर्योधन का व्यक्तित्व, इन विवशताओं और अन्तर्द्वन्द्वों से सर्वथा मुक्त है. ऐकान्तिक स्वार्थनिष्ठा और धर्मनिरपेक्ष व्यवहारवाद, अपनी सम्पूर्ण सम्भावनाओं के साथ उसमें साकार हुआ है. वह उस जीवन-दर्शन की परिणत, अकुण्ठित अभिव्यक्ति है, जिसे धृतराष्ट्र ने अपने लिए चुना है-

सुयोधनो मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः ।

दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे
मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी ।। उद्योग.२९.५२/ ५.२९.४५

(दुर्योधन क्रोधमय विशाल वृक्ष के समान है, कर्ण उस वृक्ष का स्कन्ध, शकुनि शाखा और दुःशासन समृद्ध फल-पुष्प है. अज्ञानी राजा धृतराष्ट्र ही इसका मूल है.)

स्पष्ट है कि मूल्य-चिन्तन के मनोवैज्ञानिक आधारों के अनुसंधान के क्रम में , जो गीता-तत्त्वचिन्तन की पूर्वपीठिका का अंग है, दुर्योधन की चर्चा को प्रसंग में लाने के बाद, धृतराष्ट्र के लिए कोई भूमिका बच ही नहीं जाती, क्योंकि दुर्योधन उन सभी जीवनादर्शों और आकांक्षाओं की अकुंठित अभिव्यक्ति है, जिन्हें लेकर धृतराष्ट्र जीवित है. अतः '*मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय*' इस जिज्ञासा के द्वारा दुर्योधन को प्रसंग में लाने के बाद, धृतराष्ट्र गीतोपदेश में पूरी तरह अप्रासंगिक हो जाते हैं. गीता में ऐतिहासिक पात्रों के अवतरण का उद्देश्य उपदेश के लिए सम्भावित मनोवैज्ञानिक क्षेत्रों का रेखांकन करना है, ताकि उनके आकलन के द्वारा गीतोपदेश के लिए उपयुक्त व्यक्तिक्षेत्र (पात्र) का निर्धारण हो सके. इस कार्य के सम्पन्न हो जाने के बाद, पात्रों का ऐतिहासिक स्वरूप अप्रासंगिक हो जाता है ; प्रथम अध्याय के बाद, गीतोपदेश में (अध्याय ११के दो स्थलों को छोड़कर) धृतराष्ट, दुर्योधन, भीष्म, द्रोण आदि योद्धाओं को एक बार भी याद नहीं किया गया है. किन्तु ध्यान से गीता पाठ करें तो 'मनोवैज्ञानिक क्षेत्र' रूप में , कम से कम प्रमुख पात्रों की आसानी से पहचान की जा सकती है. सोलहवें अध्याय के नीचे लिखे श्लोकों पर विचार करें —

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ।। १६.१२
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।। .१३
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ।। .१४
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ।। .१५

इन श्लोकों में दुर्योधन को ढूंढ़ना कोई मुश्किल काम नहीं है. इसी प्रकार प्रकृति के गुणों के सत्त्व, रज और तम रूप निर्धारण में (अ. १४), दैवी आसुरी-सम्पद्-विभाग में , श्रद्धा, त्याग, तप यज्ञ, आहार और कर्त्ता के सात्त्विक, राजसिक और तामसिक रूप से त्रिविध निर्वचन में ,

प्रथम अध्याय में उपन्यस्त, ऐतिहासिक पात्रों को आसानी से पहचाना जा सकता है. ये ऐतिहासिक पात्र वस्तुतः व्यक्तिक्षेत्र हैं, गीता में जिनकी भूमिका को दो रूपों में समझा जा सकता है. पहला तो यह, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इनकी पहचान गीतोपदेश के लिए उपयुक्त पात्र की तलाश का हिस्सा है. दूसरा यह कि, ये उपदेश के व्यक्ति-सापेक्ष निर्वचन और उसके औचित्य को रेखांकित करते हैं, जो हिन्दू-धर्मचिन्तन का अनन्य वैशिष्ट्य है.

३. घनीभूत योगानुभव को अभिव्यक्ति देती गीता की प्रतिपादन शैली : उसमें ऐतिहासिक पात्रयुग्मों की भूमिका

श्रीमद्भगवद्गीता की संरचना के बारे में एक अन्य महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह है कि इसमें ऐतिहासिक पात्र-युग्मों का चयन इस सावधानी के साथ किया गया है कि उनके मध्य आपतित विचार बिन्दु अनजाने ही झंकृत स्वर का रूप ले लेते हैं. हमने देखा कि धृतराष्ट्र और अर्जुन, मोहसंक्रमित मनोभूमि के भिन्न धरातलों में फलितार्थ को प्रतिबिम्बित करते हुए, एक दूसरे के पूरक है, एक दूसरे के अर्थ को समृद्ध करते हैं. इसी प्रकार संजय और कृष्ण दोनों ही द्रष्टा हैं, तटस्थ भी प्रतिबद्ध भी, अपने अपने ढंग से. दुर्योधन और अर्जुन दोनों ही कुरुक्षेत्र के मैदान में , युद्धपूर्व के परिदृश्य का निरीक्षण करते हुए पदार्पण करते हैं. किन्तु दोनों के लिए निरीक्षण के अर्थ और फलितार्थ अलग हो जाते हैं. इसी क्रम में , हम द्रोण और भीष्म को नहीं भूल सकते, जो ऐसे पूरक चरित्र हैं, जो कुछ भी न कह कर बहुत कुछ कह गए हैं. ये सभी संवादी चरित्रयुग्म, सितार में तरब के तारों की तरह एक दूसरे के मर्म को छूते, जगाते, अर्थभार को तोलते, रीतेपन को उजागर करते, एक दूसरे की चुगली खाते से चलते हैं. इनके बीच आपतित विचार-बिन्दुओं में प्रतिध्वनि है, जो कहीं दूर जाकर सुनाई पडती है ; मींड़ है, जो बहुत से स्वरों को एक साथ छूती चलती है ; अव्यक्त की दहलीज पर थिरकते कण और स्पर्श हैं, जिन्हें महसूस करते हुए भी हम कोई अभिधान नहीं दे पाते. गीता की गीतात्मकता, गीता की संरचना में प्रतिपल धडकती है. बहुत से श्लोक ऐसे हैं, जिनकी आसपास में कोई संगति नहीं बैठती, किन्तु दूर कहीं, प्रतिध्वनि-रूप में उनके अर्थ-सातत्य को पहचाना जा सकता है. एक वैचारिक मुहावरा, यथा '**'नानुशोचन्ति पण्डिताः**', तत्त्वचिन्तन को उसकी औपनिषदिक तथा वैनाशिक भंगिमाओं में, नीति, मनोविज्ञान, तथा धर्मशास्त्र को उनकी व्यवस्थाओं में, युगपत् छूता हुआ चलता है. कहीं एक विचारबिन्दु को केन्द्र में रखकर, अलग-अलग रूपकों के द्वारा अभिनीत करके दिखाया गया है,

तो कहीं विचार का सूत्रपात करके छोड़ दिया गया है, और फिर अनेक अध्यायों के व्यवधान के बाद, उसे विस्तृत व्याख्या के लिए उठा लिया गया है. 'गीता विचारों का संगीत है' यह हम कोई रूपक नहीं बांध रहे हैं, बल्कि गीता की संरचना का यथार्थ बयान कर रहे हैं. गीता के इस वैशिष्ट्य को न समझ पाने के कारण, जिज्ञासु पाठकों को ही नहीं, विद्वानों को भी समस्याएं पैदा हो जाती हैं. ऐसे लोगों की कमी नहीं जो गीता में, स्ववचन-विरोध, तथा पुनरुक्ति दोष का उद्भावन करते नहीं अघाते. जो लोग ठुमरी की गायकी के रहस्य से परिचित नहीं हैं, वे किसी मँजे हुए कलाकार के द्वारा घंटे भर तक गाई गई 'कौन गली गयौ श्याम' इस ठुमरी में , एक लम्बे पुनः पुनः पुनरुक्ति-दोष के अलावा और कुछ पा ही नहीं सकते. गीतार्थ के समझने के लिए हमें उसके कहने के अंदाज को निकट से समझना होगा, जो एक बहुआयामी संदेश की संक्षिप्त घनीभूत अभिव्यक्ति का निष्पादन करता है. गीता कानून या धर्मशास्त्र की किताब नहीं है, 'यह करो', 'यह न करो' की नसीहतों की संहिता नहीं है, जो सामान्यतया धर्म की पुस्तकीय, एक-आयामी अवधारणा का भार है. युद्ध के मैदान में, युद्ध के लिए तत्पर सेनाओं के मध्य खड़े होकर, अठारह अध्याय की गीता का पाठ हुआ होगा, ऐसा सम्भव नहीं लगता. यह एक घनीभूत योगानुभव था, जिसने अर्जुन की चेतना में प्रवेश के लिए कुछ क्षणों से अधिक समय नहीं लिया होगा. जैसे स्वप्न में, हम जन्मजन्मान्तरों के अनुभवों को, यहां तक कि भविष्य तक को, कुछ क्षणों के अन्दर जी लेते हैं, एक घनीभूत, बहुआयामी अनुभव के रूप में, कुछ उसी तरह रहा होगा अर्जुन का गीतानुभव. इस अनुभव की अभिव्यक्ति के लिए, एक आयामी निर्वचन-पद्धति उपयुक्त नहीं हो सकती. श्रीमद्भगवद्गीता का गीतत्व उसकी गायनधर्मिता नहीं बल्कि उसकी संश्लिष्ट, बहुआयामी चिन्तन-संरचना है, जो एक घनीभूत अनुभव के सम्प्रेषण को सुनिश्चित करती है. इस बहुआयामी अर्थ के अवगाहन में एक महत्त्वपूर्ण साधन है, पात्रयुग्मों का विधान.

इस क्रम में, गीता के पात्रों की श्रृंखला में एक निःसंवाद युग्म — द्रोण और भीष्म — विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं. गीता में इनका कोई संवाद (उक्ति) नहीं है. धृतराष्ट्र की जिज्ञासा के उत्तर में, संजय द्वारा प्रस्तुत विवरण में ये उल्लेख का विषय बनते हैं. यह उल्लेख कुछ इस तरह हुआ है कि उनके सम्पूर्ण महाभारतीय सन्दर्भों को ध्वनित करते हुए, उनके परस्पर पूरक व्यक्तित्वों का असंदिग्ध दिग्दर्शन करा देता है. विशेष विचार के लिए, अग्रिम एकक पर आते हैं.

■ ■ ■

तृतीय एककः

दुर्योधनस्योद्बोधनोद्बुद्धां प्रतिक्रियां वर्णयति तृतीय एककः। यथानिदर्शितं नवश्लोकपरिमितोऽयं चतुरुपैककनिबद्धः। (श्लो. १२-२०)

२+१+४+२

(क) तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः[१]।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्[२]।। १२।।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।। १३।।

(इस प्रकार द्रोणाचार्य से कहते हुए दुर्योधन के वचनों को सुनकर कौरवों में वृद्ध, बड़े प्रतापी पितामह भीष्म ने उस दुर्योधनके हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से सिंह के नाद के सामान गर्जकर शंख बजाया. उसके उपरान्त शंख और नगाड़े तथा ढोल, मृदङ्ग और नृसिंहादि बाजे एक साथ ही बजे, उनका वह शब्द बडा भयंकर हुआ.)

(ख) ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते[१] महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः।।१४।।

(इसके अनन्तर श्वेत घोड़ों से युक्त उत्तम रथ में बैठे हुए, भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अलौकिक शंख बजाए.)

(ग) [१]पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ।।१५।।

[२]अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।।१६।।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः[३] ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः[४] ।। १७ ।।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्[५] ।। १८ ।।

(उनमें, श्रीकृष्ण महाराज ने पाञ्चजन्य नामक शंख और अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख बजाया, भयानक कर्म वाले भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया. कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख और नकुल तथा सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नामवाले शंख बजाए. श्रेष्ठ धनुपवाला काशिराज और महारथी शिखण्डी और धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि तथा राजा द्रुपद और द्रौपदी के पांचों पुत्र और बड़ी भुजावाला सुभद्रापुत्र अभिमन्यु इन सबने हे राजन् ! अलग अलग शंख बजाए.)

(घ) स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।।१९।।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।।२०।।

हृषीकेषं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।।२१।।

(और उस भयानक शब्द ने आकाश और पृथिवी को भी शब्दायमान करते हुए धृतराष्ट्र-पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिए. हे राजन् ! उसके उपरान्त, खड़े हुए धृतराष्ट्र पुत्रों को देखकर उस समय धनुष उठाकर शस्त्र चलाने के लिए उद्यत कपिध्वज अर्जुन ने हृषीकेश श्रीकृष्ण से यह वचन कहा, 'हे अच्युत ! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खडा करिए'.)

(क) दुर्योधनस्य सम्बोधनं प्रति द्रोणः मौनमवलम्बते। भीष्मोऽपि न व्याहरति किमपि, किन्तु शङ्खनादोद्घोषेण उत्तरमाचरत्यचिरस्वसैन्यान्वाचरितम्। इयं स्वपक्षस्य प्रतिक्रिया दुर्योधनस्योद्बोधनं प्रति। (ख) अनुपदमेव युद्धभूमौ कृष्णार्जुनयोः प्रवेशः । इतः धृतराष्ट्रस्य जिज्ञासायाः 'पाण्डवाः किमकुर्वत' इत्यंशस्य उत्तरमारभते। (ग) कृष्णार्जुनयोः शङ्खनाद-पुरस्सरं

प्रवर्तते पाण्डवसेनायाः प्रतिघोषः । (घ) धार्तराष्ट्रान् व्यवस्थितान्दृष्ट्वा, युद्धाय कृतनिश्चयस्य अर्जुनस्य कृष्णं प्रति 'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत' इति निवेदनम्। इति दुर्योधनस्योद्बोधनोद्बुद्धक्रियाप्रतिक्रियाविवरणभूतः तृतीय एककः ।

१. दुर्योधनस्य पृतनामुखाऽऽमुखनिवेदनं द्रोणान्निवर्तते प्रतिवचनशून्यम्। अयं निःशब्दाचारः मुखरयति महाभारतस्य एकाकिनो ब्राह्मणयोद्धुः परां विवशताम्।

दारिद्र्यविवशः द्रोणः याचकरूपेण अभिगच्छति द्रुपदं स्वकीयं बालसखम्। अपमानितः तत्र कौरवान् आश्रयते अपमानप्रतिशोधार्थम्। किन्त्वत्रापि अवसानं नैवोपयाति तस्य विवशतागाथा। आश्रयदातारं प्रतिश्रुतपरिपालनाय, एकलव्यसदृश-निर्दोषशिष्येण सह कपट-व्यवहारस्य, सभायां द्रौपद्याः अपमानस्य मूकदर्शकाभियोगस्य, प्रियशिष्यस्य अर्जुनस्य वीरपुत्राभिमन्योः वधे सहभागस्य, स्वात्मविरुद्ध-दुर्योधनस्य पक्षे महारथी भूत्वा युद्धस्य च विवशता – निदर्शयतीदं द्रोणस्य नियतिं प्रति मूकसमर्पणं सर्वथा प्रतिकारोद्यमशून्यम्. द्रोणस्य क्षन्तुमस्ति प्रभूतो विवशताभारः वक्तुं च नास्ति किमपि।

महाभारतपरिदृश्ये महत्त्वपूर्णौ स्तः द्वौ ब्राह्मणौ द्रोणः व्यासश्च। उभौ साङ्कर्यस्योदाहरणौ, एकः कर्मसाङ्कर्यस्य, अपरस्तु वर्णसाङ्कर्यस्य। उभयोः धर्मस्य स्थित्यात्मक-गत्यात्मकायामौ निदर्शयतः। जन्मना ब्राह्मणः किन्तु कर्मणा क्षत्रियः द्रोणः अन्तर्मनसि अनुभवति भयमसुरक्षाञ्च। 'परधर्मो भयावह' इति गीतासूत्रस्य सटीकं विवरणमस्ति द्रोणस्य जीवनम्। भयभीतः भवति यथास्थितिवादी। द्रोणः व्यवस्थायाः भयमूलक-स्थित्यात्मकताम्, अस्याः दैन्यं विवशतां मौनसंत्रासञ्च निदर्शयति। तद्भिन्नं व्यासकृष्णौ व्यवस्थायाः निर्भीक-गतिशीलोदारवृत्तेः निदर्शनाय कल्पेते।

२. आत्मवृतविवशताविवशः भीष्मः न केवलं नियतिविवशस्य द्रोणस्य प्रतियोगी अपित्वेकं पूरकं चरित्रम्। शङ्खनादेनासौ एवं पूरयति द्रोणस्य मौनं यद्दुर्योधनेनालक्षितमेव वर्तते।

पूरकाविमौ भिन्नेऽप्यर्थे। यद्यपि बलाद्धर्मान्तरणम्, धार्मिकदासता, आस्थाशुल्कं चासन् अननुभूतापूर्वकल्पितभावाः इस्लामपूर्वे भारते, लोभवशाद् स्वधर्मत्यागो विरलो नासीत् । द्रोणस्य जीवनम् उपलक्षणमस्ति लोभवशाद् बलाद् वा स्वधर्माधिकारवञ्चितानां शब्दातीतविवशतायाः । तद्भिन्नं, अकृत्वा वाग्व्यवहारम्, भीष्मस्य नादोपक्रमेणोपलक्ष्यते

सर्वजिज्ञासावसानस्थाना स्वधर्मे सर्वद्वन्द्वमुक्ता व्यवसायात्मिका बुद्धिः । यामर्जुनोऽनुसन्दधाति, याञ्च 'करिष्ये वचनं तव,' इति अर्जुने समर्पणभावरूपस्वधर्मसिद्ध्यै कल्पते गीतोपदेशः, सा तु निमित्तमात्रतोपलक्षित-समर्पणसाध्य-निर्द्वन्द्व-भावरूपा स्वधर्मसिद्धिः सिद्धा वर्तते भीष्मे भीष्मपितामहे। अतः सिद्धधर्माधिष्ठानात्प्रवृत्तः तस्याव्याकृताभिव्यक्ति-रूपः महाभारतयुद्धस्य प्राथमिकोद्घोषो हि निकटतया निदर्शयति गीतोपदेशस्य प्रतिज्ञावतरणम्।

३. अर्थपूर्णो हि गीतायां कृष्णस्य सारथिबिम्बः। उपनिषत्सु सारथि-रूपकस्य प्रयोगः कृतो दृश्यते इन्द्रियाणां मनोनियामकत्वनिरूपणाय इन्द्रियाणि हयान्याहुरिति। श्रीमद्भगवद्गीतायां सारथेः स्थाने विराजते योगेश्वरो भगवान् श्रीकृष्णः यः न केवलं हयानां गतिमपितु सूक्ष्मरूपेण रथिनः प्रवृत्तिमपि नियन्त्रयति, '*भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्, उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरून्*'- इति ।

सर्वेषां हृदिसन्निविष्टो भगवान् अन्तःप्रेरणारूपेण नियन्त्रयति व्यक्तेः समष्टेश्च व्यवहारमित्याशयः। एवमुपनिषदीयरूपकस्य महाभारतेतिहासे प्रयोगः मनोविज्ञान-तत्त्वचिन्तनाश्रितचिन्तनस्य ईश्वरबुद्धौ परिणतेः क्रमं निदर्शयति।

एकक विमर्श :

तृतीय एकक में दुर्योधन के उद्बोधन से उद्बुद्ध प्रतिक्रिया का वर्णन है. नौ श्लोकों के परिमाण वाले इस एकक के यथानिदर्शित चार विभाग हैं : (क) दुर्योधन के सम्बोधन का द्रोण कोई उत्तर नहीं देते, भीष्म मुख से बिना कुछ कहे शङ्खनादोद्घोष के द्वारा उत्तर देते हैं, जिसका कौरव सेना के द्वारा तुरन्त अनुसरण किया जाता है. यह दुर्योधन के उद्बोधन के प्रति स्वपक्ष की प्रतिक्रिया है. (ख) इसी समय युद्धभूमि में कृष्ण और अर्जुन प्रवेश करते है. यहां से धृतराष्ट्र की जिज्ञासा के 'पाण्डवाः किमकुर्वत' (पाण्डवों ने क्या किया) इस अंश का उत्तर प्रारम्भ होता है. (ग) कृष्ण और अर्जुन के शङ्खनाद के साथ पाण्डवसेना का तुमुल युद्धघोष प्रारम्भ होता है. (घ) धृतराष्ट्र-पुत्रों को युद्ध के लिए व्यवस्थित देखकर, धनुष उठाकर शस्त्र संचालन के लिए उद्यत अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा 'हे अच्युत मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य स्थापित कीजिए'. इस प्रकार द्रोणाचार्य के प्रति दुर्योधन के उदबोधन की स्वपक्ष और प्रतिपक्ष में जो क्रिया-प्रतिक्रिया हुई, इसका विवरण है, यह तृतीय एकक.

१. द्रोण का मौन :

दुर्योधन के अवसरोचित, अत्मश्लाघापूर्ण प्राक्कथन की द्रोण में कोई प्रतिक्रिया नहीं होती. लेकिन उनकी चुप्पी बहुत कुछ कह जाती है. कुरुक्षेत्र के मैदान में द्रोण से अधिक बेबस कोई नहीं है. दरअसल सम्पूर्ण महाभारत में द्रोण से अधिक विवश कोई नहीं है. कोई उपलब्धि, कोई सम्मान उनकी त्रासदी को, उनकी अन्तरङ्ग उदासी को दूर करने में समर्थ नहीं है. वे जन्म से, संस्कारों से ब्राह्मण हैं, किन्तु क्षत्रिय-धर्म अपनाने को अभिशप्त हैं. कभी बालसखा रहे द्रुपद के साथ विग्रह उनका चुनाव नहीं है. दुर्योधन द्वारा सतत अपमानित होते रहने के वाबजूद, वे युद्ध में उसकी ओर से अपने प्रिय शिष्यों, विशेषकर अर्जुन के विरुद्ध शस्त्र उठाने को विवश हैं. पाण्डव सेना के विवरण के प्रारम्भ में ही द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न का उल्लेख, जिसका जन्म ही द्रोण की मृत्यु के निमित्त से हुआ है, उन्हें अपनी आसन्न मृत्यु का एहसास करा जाता है. दुर्योधन की ओर से युद्ध उनकी विवशता है, जिसे उन्होंने नियति समझ कर सहज स्वीकार कर लिया है. किन्तु दुर्योधन के युद्धचिन्तन और उत्साह में भाग लेना उनकी विवशता नहीं है. उनका मौन महाभारत युद्ध के इस एकाकी ब्राह्मण योद्धा (द्रोण और अश्वत्थामा) के बेबस जीवन की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है. हमने अश्वत्थामा को द्रोण से अलग करके नहीं देखा. दोनों ही नितान्त अकेले हैं. एक अपमान और उपेक्षा का जीवन जीते हुए महाभारत युद्ध में मृत्यु के लिए पहले से ही चुना हुआ है, तो दूसरा अपमान और तिरस्कार के साथ दीर्घ जीवन के लिए अभिशप्त. द्रोण की तटस्थता, संजय और कृष्ण दोनों से भिन्न एक अभिशप्त ब्राह्मण की है, जो अपनी आत्मा और स्वधर्म का हनन करते हुए जीने की त्रासदी को समझता है. भीष्म का त्याग द्रोण से अधिक है, लेकिन उनके अन्दर त्रासदी का, विवशता का, कोई एहसास नहीं है. कोई अन्तर्द्वन्द्व नहीं है, उनके अन्दर. उनकी कुछ प्रतिज्ञाएं है, कुछ प्रतिबद्धताएं हैं, और एक क्षत्रिय की तरह उन्हें उनका निर्वाह करना आता है. उनके मूल्य और प्रतिबद्धताएं यौवन के प्रारम्भ में ही इतना स्पष्ट रूप धारण कर चुकी है कि अन्तर्द्वन्द्व का अभिनय भले ही हो, कोई वास्तविक अन्तर्द्वन्द्व की भूमि भीष्म के अन्दर हो ही नहीं सकती. यों तो अन्तर्द्वन्द्व का एहसास सभी में होता है, और उसका समाधान भी किसी न किसी रूप में हो ही जाता है. किन्तु जहां द्वन्द्वात्मक मनोदशा से बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं होता, ऐसा गतिशून्य, विजड़ित हो कर बैठा अन्तर्द्वन्द्व त्रासदी बन जाता है. जहां द्वन्द्व का कोई समाधान नहीं, बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं, वहां मौन के सिवा कोई प्रतिक्रिया सम्भव नहीं हो सकती.

महाभारत के परिदृश्य में दो ब्राह्मण पात्र महत्त्वपूर्ण हैं द्रोण और व्यास. दोनों ही वर्णसाङ्कर्य के उदाहरण हैं. एक में कर्मसाङ्कर्य है तो दूसरे में जन्मसाङ्कर्य. दोनों ही बड़े दिलचस्प ढंग से ब्राह्मण व्यवस्था के स्थित्यात्मक और गत्यात्मक, इन दो आयामों का निदर्शन कराते हैं. द्रोण जो जन्म से ब्राह्मण किन्तु कर्म से क्षत्रिय हैं, कहीं भीतर से भयभीत और असुरक्षित महसूस करते हैं. ***'परधर्मो भयावह'*** गीता के इस सूत्र का सबसे अच्छा विवरण द्रोण का जीवन है. भयभीत व्यक्ति यथास्थितिवादी हो जाता है, कुछ नया पाने, समझने के बजाय जो है जिस रूप में है, जैसा है, उसकी सुरक्षा ही उसकी मुख्य चिन्ता बन जाती है. द्रोण के पास व्यास जैसी व्यापक इतिहासचेतना नहीं है, जो तटस्थ रह कर परिवर्तन के अजस्र प्रवाह में समस्त चिन्तामूलों को क्षरित होते, समस्त प्रतिबद्धताओं को विलीन होते देखती रहती है. कृष्ण की तरह तत्त्वचिन्तन के धरातल पर समस्त विसंगतियों को समाहित कर लेना, यह भी उनकी सामर्थ्य के परे की बात है. द्रोण व्यवस्था की भयमूलक स्थित्यात्मकता, उसके दैन्य, विवशता और मौन संत्रास को दिखाते हैं, जबकि व्यास और कृष्ण व्यवस्था की गतिशील, उदार वृत्तियों का निदर्शन हैं.

द्रोण का युग विश्वामित्र और वशिष्ठ का युग नहीं है, जब ब्राह्मबल ही अप्रतिहतबल होता था. द्रोण तो एक दीन ब्राह्मण है, जो क्षात्रकर्म को स्वीकार करके स्वधर्म से हट गया है. द्वारिद्र्य-विवश, वह याचक रूप में पांचाल नरेश, जो उसका बालसखा भी था, के पास जाता है. वहां से अपमानित होकर दूसरे राजा का आश्रय ग्रहण करता है, अपने अपमान का बदला लेने के लिए. वह अपमान का बदला ले भी लेता है. किन्तु अब यहां दुर्योधन के द्वारा जो उसकी अवमाननाओं का सिलसिला प्रारम्भ होता है, उसके सामने उठ खड़ा होना, कोई नया आश्रय तलाशना, अब उसके बस की बात नहीं है. आश्रयदाता को दिए वचन का निर्वाह करने के लिए एकलव्य जैसे निर्दोष, समर्पित छात्र के साथ कपटपूर्ण व्यवहार करने की विवशता, द्रौपदी के अपमान के लज्जास्पद दृश्य चुपचाप देखते रहने, प्रिय शिष्य अर्जुन के वीर पुत्र अभिमन्यु की निर्मम हत्या में सहभागी होने, अपनी भावनाओं के विरुद्ध दुर्योधन की सेना का महारथी होकर लड़ने की विवशता — समर्पण और निरुपाय-समझौतों के इस सम्पूर्ण क्रम को द्रोण ने नियति मान कर चुपचाप स्वीकार किया है. द्रोण के पास झेलने को, सहन करने को बहुत कुछ है. कहने को कुछ भी नहीं.

२. भीष्म : द्रोण के पूरकरूप में

दुर्योधन के द्रोण के प्रति उत्साहपूर्ण सम्बोधन का उत्तर द्रोण से तो नहीं मिलता, किन्तु भीष्म शंखनाद करके उसका उचित उत्तर दे देते हैं. महाभारत में भीष्म और द्रोण अद्‌भुतरूप से एक दूसरे के पूरक हैं. विभिन्न अवसरों पर दोनों एक दूसरे का समर्थन करते हैं. दोनों में जो अन्तर है, उसकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है. भीष्म की विवशता आत्मवृत है, उनकी अपनी इच्छा से की गई प्रतिज्ञाओं के कारण है. अतः उनमें पराजय या दैन्य का भाव नहीं है. अपने सुविचारित स्वतंत्र निर्णयों के निर्वाह की परिणति की स्वीकृति में विवशता का अभिनय तो हो सकता है, किन्तु कोई तात्त्विक विवशता नहीं हो सकती. इसके विपरीत द्रोण की विवशता वास्तविक है. वे एक परिस्थिति से बचने को दूसरी ओर दूसरी से बचने को तीसरी परिस्थिति को स्वीकार करते हैं, जिनकी परिणति का पूर्वानुमान सम्भव नहीं है. दोनों एक दूसरे की भूमिका के पूरक हैं, इस सीमा तक कि भीष्म दुर्योधन को द्रोण की चुप्पी का एहसास तक नहीं होने देते.

भीष्म और द्रोण, एक अन्य अर्थ में भी एक दूसरे के पूरक हैं, जो इस अध्ययन के लिए विशेष महत्त्व रखता है. इस्लाम धर्म के अभ्युदय के साथ, विश्व के धर्म-परिदृश्य में कुछ सर्वथा नए तत्त्व आकर जुड़े, जिनसे संसार पहले कभी परिचित नहीं था. ये तत्त्व थे, तलवार के बल पर धर्मान्तरण, धार्मिक दासता, सम्प्रदाय के बलपूर्वक प्रसार, इतर धर्मों तथा आन्तरिक वैमत्य के उच्छेद के लिए जेहाद (युद्ध) का विधान और विधर्मियों पर आस्थाशुल्क (जजिया) का प्रावधान. इस्लाम के आगमन से पूर्व, धर्मोपदेश के अतिरिक्त, शास्त्रार्थ अर्थात् साम्प्रदायिक पण्डितों के बीच विद्वत्तापूर्ण विवाद, भारत में किसी भी सम्प्रदाय के लिए स्थापना और धर्म प्रचार का स्वीकृत साधन था. इनसे प्रभावित होकर लोगों का धर्मान्तरण(सम्प्रदायान्तरण) एक सामान्य बात थी. इसमें व्यक्ति का विवेक ही प्रमाण होता था. प्राचीन भारत में बलपूर्वक धर्मान्तरण और आस्था-टैक्स(जजिया) यद्यपि एक कल्पनातीत बात थी, प्रलोभन के कारण धर्मान्तरण कोई असाधारण बात नहीं थी. द्रोण स्वयं निजी जीवन की विवशताओं के कारण स्वधर्म का त्याग कर के पर-धर्म को अपनाने को विवश थे. द्रोण का जीवन, कुरुक्षेत्र के मैदान में दुर्योधन की 'रिपोर्ट' सुनकर उनकी चुप्पी, उपलक्षण है, उन लोगों की शब्दातीत विवशता का, जो बलपूर्वक अथवा प्रलोभनवश स्वधर्माधिकार से वंचित कर दिए जाते है. इससे सर्वथा भिन्न भीष्मपितामह के व्यवहार में उस स्वधर्मनिष्ठा के दर्शन होते हैं, जिसे द्रोण खो चुके हैं. वे अपने शंखनाद के

द्वारा, दुर्योधन के द्रोण को सम्बोधित साकांक्ष निवेदन की पूर्ति करते हैं, बिना समय गंवाए, बिना वाणी का सहारा लिए. यह स्वधर्म में उनकी व्यवसात्मिका बुद्धि को उपलक्षित करता है. वाणी (व्याकृतशब्द) का संसार, सवालों और संदेहों का संसार है, अपेक्षाओं और आशंकाओं का, आकलन और अनुसन्धान का संसार है. अतः भीष्म वाणी का सहारा नहीं लेते. किन्तु अव्याकृत नाद के द्वारा संदेह और सवालों से परे, स्वधर्म में अपनी प्रतिबद्धता का, बिना कहे निदर्शन कराते हैं. वस्तुतः अर्जुन जिस स्वधर्म की तलाश कर रहा है, और गीता ' करिष्ये वचनं तव' इन शब्दों में प्रतिफलित, जिस समर्पणभाव की अर्जुन में सिद्धि के लिए प्रवृत्त होती है, वह समर्पणभाव तो भीष्म पितामह में सिद्धरूप में विद्यमान है. 'समर्पण' का लक्षण है निमित्त-मात्रता. यह अहंकार को निर्बीज बनाते हुए, उसकी अन्तर्द्वन्द्वोत्पादक सामर्थ्य को निःशेष करते हुए, स्वधर्म की निर्द्वन्द्वावगति को सुनिश्चित करती है. यहां अहंकार का पूरी तरह उच्छेद नहीं होता. ईश्वरभाव के आलंबनरूप में उसकी सत्ता बनी रहती है. समर्पणभाव में, ईश्वरेच्छा में निमित्त होने में, स्वधर्म की अवगति और आचरण में कर्तृत्वभाव के आलंबन रूप में, अहंकार का लेश यहां भी विद्यमान है. महाभारत युद्ध में कृष्ण की प्रतिज्ञा तुड़वा कर उन्हें शस्त्रग्रहण करने को विवश करने का भीष्म का हठ, सूर्य के उत्तरायण में आने तक मृत्यु को प्रतीक्षा करवाने की उनकी आन, और आजीवन भीष्मप्रतिज्ञाओं के सफल निर्वाह के मूल में इस सात्त्विक दर्प को सहज पढा जा सकता है. किन्तु यह शुद्ध सात्त्विक अहंकार है; अन्य गुणों (रजोगुण और तमोगुण) के संश्लेष से मुक्त, इसमें प्रपंच-विस्तार की सामर्थ्य नहीं होती. निर्बीज होने से यह समर्पण भाव में कोई द्वन्द्व, कोई सन्देह या द्वैधीभाव उत्पन्न नहीं कर सकता. भीष्म में स्वधर्म की निर्द्वन्द्वावगति जिसके लिए अर्जुन छटपटा रहा है, सिद्ध रूप से विद्यमान है. भीष्म का शंखनाद, महाभारत युद्ध का प्राथमिक उपक्रम है, जो अव्याकृत-घोष के द्वारा अपने अधिष्ठान के निर्द्वन्द्वस्वरूप और उसमें हेतुभूत स्वधर्मनिष्ठा का परिचय देता है. गीता में अर्जुन को जो उपदेश दिया जाता है, यह उसके सिद्ध-रूप का निदर्शन है. इस प्रकार देखा जाय तो भीष्म का नादोपक्रम गीतोपदेश की प्रतिज्ञा भी है, और उदाहरण भी.

गीतोपदेश समर्पण में निर्द्वन्द्वभाव की सिद्धि का उपाय-शास्त्र है. इसमें उन साधनों का विशद निर्वचन है जिनके द्वारा आस्था को संदेह, द्वैधीभाव, बिखराव और विघटन से मुक्त कर के उसमें अद्वैतभाव की सिद्धि की जाती है. आस्था के इस अविभाज्य एकीभाव को ही इस्लाम में ***तौहीद*** कहा गया है. अन्तर यह है कि इस्लाम में इस तौहीद की सिद्धि की जाती है, मूर्तियों को नष्ट

कर के, मंदिरों को भ्रष्ट कर के, बहुदेवोपासना के विरुद्ध सशस्त्र युद्ध (जेहाद) चला कर, विधर्मियों की सम्पत्तियां लूट कर, जजिया जैसे आस्था-टैक्स के द्वारा उनका उत्पीड़न करके. इन्हीं तरीकों से इस्लाम तौहीद की सिद्धि करता आ रहा है, पिछले १३०० वर्षों से. इस्लाम धर्म में इस बात का कोई इल्म नहीं था कि तौहीद की सिद्धि के अधिक सभ्य, अधिक परिष्कृत साधन भी हो सकते है. हिन्दू, तौहीद अर्थात् आस्था में अद्वैत की सिद्धि को गीतोपदिष्ट साधनापथ से प्राप्त करता है. निष्कामकर्म, योग की साधना, ज्ञान और भक्ति के मार्ग, अथवा उनके व्यक्ति-प्रमाण-संग्रह, व्यक्ति में तौहीद की, आस्था के एकनिष्ठ स्वरूप की ही सिद्धि करते है. भीष्म का सम्पूर्ण जीवन इसका उदाहरण है. उनका अव्याकृतोद्घोष (शंखनाद), उनकी आस्था के, तन्निरूपित उनके व्यक्तित्व के निर्द्वन्द्वस्वरूप का ही उद्घोष है.

३. कृष्ण का सारथी बिम्ब :

वस्तुतः कौरव सेना के शंखनाद, और पाण्डव योद्धाओं द्वारा प्रत्युत्तर रूप नादोपक्रमों के मध्य, श्वेत अश्वयुक्त रथ पर आरूढ़ कृष्ण और अर्जुन की छवि, तथा रथ के नियन्ता रूप में कृष्ण का परिचय, धर्म-दर्शन के इतिहास की दृष्टि से एक सहज किन्तु महत्त्वपूर्ण रूपक का अर्थ ग्रहण कर लेती है. उपनिषदों में रथ के रूपक का प्रयोग करते हुए, इन्द्रियों को घोड़े तथा मन को सारथी के रूप में दिखाया गया है. गीता में सारथी के स्थान पर, नियन्तारूप में स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान हैं, जो एक अन्तःप्रेरणा रूप में प्रत्येक व्यक्ति और समष्टि के व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं. उपनिषदीय रूपक का महाभारतेतिहास में प्रयोग, मनोविज्ञान और तत्त्वमीमांसाश्रित चिन्तन के ईश्वर बुद्धि में परिणत होने के क्रम को दिखाता है. गीता में इन्द्रियों के नियन्तारूप में मन की उपनिषदीय अवधारणा अक्षत है *(यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन)*. किन्तु *'भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'* तथा *'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'* जिस ईश्वर-परिकल्प की अपेक्षा करते हैं, उसका परिचय विरोधी सेनाओं के कोलाहल के बीच, अर्जुन के रथ पर सारथीरूप में विराजमान श्रीकृष्ण ही हो सकते हैं. महाभारत इतिहास है. इसमें रूपकविधान को हम कोई अच्छी विचार शैली नहीं मानते. किन्तु प्रस्तुत-स्थल में रूपक उपनिषदों की तुलना में गीता के वैशिष्ट्य का निदर्शन कराता है, अतः इस पर विचार किया गया.

संजय केवल द्रष्टा है, संवाददाता है. धृतराष्ट्र, द्रोण, भीष्म आदि में भिन्न भिन्न अंशों में कर्तृत्व, भोक्तृत्व का निदर्शन है. कृष्ण इन सब से भिन्न हैं. वे द्रष्टा हैं, संजय की भांति,

युद्धस्थल में साक्षात् उपस्थित रहते हुए भी वे युद्ध में भाग नहीं ले रहे हैं. किन्तु वे केवल द्रष्टा नहीं, नियन्ता भी हैं, और यह अधिकार केवल पूर्ण द्रष्टा का ही हो सकता है, जिसका दृष्टिनिक्षेप केवल वर्तमान को ही नहीं, अपितु अतीत और अनागत को भी अपनी परिधि में ले लेता है. पूर्णद्रष्टा कर्म का अनुचर नहीं बल्कि नियन्ता होता है. ध्यानपूर्वक देखें तो नक्शा बनानेवाला ही सही अर्थों में निर्माता है, क्योंकि उसके मन में वास्तु का निर्माण हो चुका है. स्वप्नद्रष्टा विचारक और मनीषी ही समाज के, राष्ट्र के निर्माता होते हैं, और सब तो सिर्फ मजदूर है. सारथी बिम्ब, मार्गदर्शक और नियन्ता, ईश्वर और उसके संदेशवाहक, दोनों का संग्रह करते हुए, गीतोपदेष्टा का एक सम्पूर्ण परिचय है.

उपदेश से पहले उपदेश के लिए उपयुक्त पात्र की पहचान, और प्रामाणिक व्यक्तिक्षेत्र के रूप में उसका निर्धारण, उपदेश के सार्थक विनियोग की आधारभूत शर्त है. इस क्रम का अनुसरण करते हुए, अग्रिम एकक में अर्जुन के धर्मसंकट की वास्तविकता, एवं तन्निरूपित धर्मजिज्ञासा की भावभूमि की प्रामाणिकता की समस्या को चर्चा का विषय बनाया गया है.

■ ■ ■

चतुर्थ एकक:

अर्जुनस्य कृष्णनियोजितं युद्धभूमिनिरीक्षणम्, तज्जनितातिदर्शनम्, तस्यार्जुनस्य शरीरमनसोः उपरि अप्रत्याशितः प्रभावः चतुर्थैककस्य कथ्यं चतुर्षु उपैककेषु ग्रथितस्य दशश्लोकात्मकस्य। (२२-३१)

२+२+२+४

(क) अर्जुन उवाच

(सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत)।। २१

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ।।२२।।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ।।२३।।

(हे अच्युत ! दोनों सेनाओं के मध्य में रथ को स्थापित करो, (तब तक) जब तक कि मैं यहां स्थित इन युद्ध की कामनावालों को अच्छी प्रकार देख लूं कि इस युद्धरूप उद्यम में मुझे किन किन के साथ युद्ध करना है. मैं उन योद्धाओं का अवलोकन करूंगा, जो दुर्बुद्धि दुर्योधन की हितसिद्धि करना चाहते हैं.)

(ख) संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।। २४ ।।

भीष्मद्रोण प्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ।।२५।।

संजय बोला, हे धृतराष्ट्र ! अर्जुन द्वारा सम्बोधित श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीचमें भीष्म और द्रोणाचार्य के सामने और समस्त राजाओं के सामने उत्तम रथ को खड़ा करके ऐसे कहा, 'हे पार्थ ! इन एकत्रित हुए कौरवों को देखो'.

(ग) तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।।२६।।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।।२७।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

(उसके उपरान्त पृथापुत्र अर्जुन ने उन दोनों ही सेनाओ में स्थित हुए पिता के भाइयों को, पितामहों को, आचार्यो को, मामाओं और भाइयों को, पुत्रों तथा मित्रों को, ससुरों को और सुहृदों को भी देखा. इस प्रकार खड़े हुए उन समस्त बान्धवों को देख कर, वह कुन्तीपुत्र अर्जुन अत्यन्त करुणा से युक्त हुआ, दुःखी होता हुआ यह बोला.)

(घ) अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।।२८।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।।२९।।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।।३०।।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।।३१।।

(हे कृष्ण ! इस युद्ध की इच्छा वाले खड़े हुए स्वजनसमुदाय को देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जाते हैं, और मुख भी सूख रहा है, और मेरे शरीर में कम्प तथा रोमांच हो रहा है, तथा मेरे हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है, और त्वचा भी बहुत जलती है, तथा मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है, इसलिए मैं खडा रहने को भी समर्थ नहीं हूं. और हे केशव ! । लक्षणों को भी विपरीत ही देखता हूं, तथा युद्ध में अपने स्वजनों को मार कर कल्याण भी नहीं देखता.)

(क) युद्धप्रवृत्तिपूर्वकं युद्धस्थलनिरीक्षणार्थम् अर्जुनः उभयोर्सेनयोर्मध्ये रथस्थापनाय कृष्णं प्रार्थयते । (ख) तत्कृत्वा कृष्णः भीष्मद्रोणादीन् संकेतयन् अर्जुनं निरीक्षणाय चोदयति। (ग) अर्जुनस्य प्रतिपक्षान्वेषणं परिणमते अतिदर्शने। उपस्थिते युद्धे अतिदर्शनं तु जनयति प्रतिपक्षे आत्मीयसम्बन्धानुसन्धानम् । (घ) अस्यानपेक्षितः प्रभावः अर्जुनस्योपरि, युद्धभूमेः निरीक्षणं जनयति अतिदर्शनं, तेन जायते अवसरानुपयुक्ता मनोभूमिः जननी चापनिश्चयस्य *'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे'*- इति

१. सम्यग्दर्शनं सफलव्यवहारस्य हेतुः। तच्च श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रारम्भिको विमर्श-बिन्दुरित्यवगम्यते बहुभिः श्लोकैः तद्गतवाक्यवाक्यांशैः दृश्धात्वर्थकैः यथा – दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं.... (१.२), पश्यैतां पाण्डुपुत्राणां ... (१.३), यावदेतान्निरीक्षेऽहम् (१.२१) योत्स्यमानानवेक्षेऽहम् (१.२३) तत्रापाश्यत्स्थितान्पार्थ ...(१.२६), तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः ...(१.२७), दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण .. (१.२८), निमित्तानि च पश्यामि ... (१.३१), न च श्रेयोऽनुपश्यामि .. (१.३१), यद्यप्येते न पश्यन्ति .. (१.३८) इत्यादिभिः ।

तत्र '*मामकाः पाण्डवाश्चैव..*' इति ममत्वसंक्रमितं युद्धभूमेरभिज्ञानं धृतराष्ट्रस्य । तद्भिन्नं दुर्योधनस्य आचार्यद्रोणं प्रति निवेदनमुपलक्षते कुशलसैन्यसंचालकार्हं युद्धभूमेर्निरीक्षणं किमपि तात्कलिकव्यवहारानुरूपं यस्मिन् बलाबलानुसंधानसापेक्षं स्वपरपक्षाभिज्ञानातिरिक्तं नास्ति कोऽपि चेतनालेशः मानवीयसम्बन्धानां येषां सङ्क्रमणमर्जुनं परां विकलतां गमयति। व्यावहारिकदृष्ट्यैवबद्धान् दुर्योधननिभानिव जनानालक्ष्य उक्तं गीतायां- ''*तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्*'- इति।

२. दुर्योधनः युद्धस्थलस्य निरीक्षणं करोति, गुरवे द्रोणाय निवेदयति चास्य वस्तुनिष्ठं विवरणमवसरोचितम्। किन्तु अर्जुनः दिदृक्षया प्रविशति युद्धस्थलम्। अनयोः दर्शनयोः मध्ये लक्षयितुं शक्यते किमपि सूक्ष्ममन्तरम्। अस्त्यवेक्षणं काचिच्चयनात्मिका प्रक्रिया या च पश्चाद्वर्तिनम् उपयुक्तं व्यवहारं जनयति। तद्भिन्ना 'द्रष्टुमिच्छा' अभिदधाति अवेक्षणस्य, (दर्शनव्यापारस्य)जैविक-यान्त्रिक्याः भिन्ना अस्तित्वस्य काञ्चिदुच्चतरां कक्षाम्।

स्वभावतया दिदृक्षा भवति चिन्तनोन्मुखी न तु कर्मोन्मुखी। तज्जनितं चिन्तनं अनिवार्यतया कर्मप्रवर्तकं भवेदित्यावश्यकं नास्ति. 'निरीक्षेऽहम्' 'अवेक्षेऽहम्'। इत्यवच्छेदकवाक्यानामसकृत् प्रयोगः प्रमाणयति यत् पाण्डवयोद्धुः 'निरीक्षणमनायासं

चैतन्यस्य उच्चतरायां कोट्यां प्रविष्टं जातम्। व्यवहारदृशा आलोचनीयमिदम्, यतो हि अत्रार्जुनः तात्कालिकस्य युद्धोपयोग्यावश्यकदर्शनस्य सीमानमतिक्रम्य अप्रासङ्गिकं किमप्यधिकं पश्यति स्वीकरोति च स्वकीये चित्तपटले । व्यवहारवैक्लव्यम्, अतिचेतनायाः तात्कालिकः प्रभाव इति सहजगम्यम्।

३. 'कृपा', 'कार्पण्यम्', 'कृपया'-प्रभृति कृप्धात्वर्थकशब्दानां प्रयोगः दरीदृश्यते प्रथमद्वितीययोरध्याययोर्गीतायाः। स तु भावाक्रान्तं कमपि असहाय्यबोधं बोधयति योऽनुभूयते आभ्यन्तरसंकटग्रस्तेन निष्करुणपरिस्थित्यभिमुखेन वा केनापि। '*कृपणान् सततं दृष्ट्वा ततः संजायते कृपा, धर्मनिष्ठां यदा वेत्ति तदा शाम्यति सा कृपा*'-इति । अनया लक्ष्यते धर्मसंकटजनितनिरुपायिता-निरूपितभावग्रन्थिः कश्चिद्। स तु ज्ञायते व्यवहारसमन्वयात्, गीतामहाभारतयोरेतेषां पदानाम्।

धर्मसंकटबोधस्य भावतलस्पर्शि-उच्छ्वासः विभूषयति तं स्वरूपसिद्ध्या या विशेषयति वास्तविकं धर्मसंकटं तस्य प्रतिभासेभ्यः यान् जनाः धारयन्ति बौद्धिक-सामाजिक-राजनैतिकादि-विवशतावशात् । महाभारतस्य सुविस्तृते कलेवरे, बहुभिः पात्रैः धर्मसंकटेऽनुभूयमानेऽपि कथमर्जुनः केवलम्, सोऽपि कुरुक्षेत्रीयदेशकाल-विशिष्टसंकटापन्नः गीतोपदेशपात्रत्वेन वृतः । तत्र प्रामुख्यं भजते युधिष्ठिरः यः कुरुक्षेत्रयुद्धावसानानन्तरमनुशयतप्तहृदयः राज्यं परित्यज्य वनवासमिच्छति। युधिष्ठिरस्य युद्धानन्तरानुतापः शब्दैः कथ्यैश्चानुहरति युद्धपूर्वं विषादमर्जुनस्य (शा. अ.६-३५)। तथापि तन्नार्जयति युधिष्ठिरं गीतोपदेशपात्रताम् । न कापि गीता प्रवर्तते तस्य विषादापनयनाय। द्रष्टव्यमेतदपि यद् युधिष्ठिरस्यानुशोके शान्तिपर्वणि लक्ष्यतेऽभावः तादृश्या विह्वलतायाः याऽस्ति वैशिष्ट्यमर्जुनस्य विषादयोगस्य। एवं प्रतीयते यद्युधिष्ठिरस्यानुतापः राजनैतिकशिष्टाचारमूलत्वात् भीष्मप्रतिपादितराजधर्म एव तस्य पात्रतां निर्धारयति, यत्र शोकप्रदर्शनस्यौपचारिकताऽपि राज्ञः कर्तव्यत्वेन निरूपिता वर्तते –

हन्तृणामाहतानां च यत् कुर्युरपराधिनः ।
क्रोशेद् बाहुं प्रगृह्यापि चिकीर्षन् जनसंग्रहम् ।। (शा.प.१०२.३८) ।

अपरञ्च, स्वयमर्जुनोऽपि नार्हति गीतायाः पुनराख्यानम्। महाभारतयुद्धानन्तरं पुनः श्रोतुकामस्यार्जुनस्य परितोषाय अनुगीतां कथयति भगवान् कृष्णः उपजीव्यमनोभूमेरभावात् गीतानुभवस्य पुनरावृत्तेरसम्भवात् । धर्मसंकटे कातरतायाः सद्भावः (कार्पण्यम्) प्रमाणयति

तस्य वास्तविकं स्वरूपम्, आध्यात्मिकमनोभूमिरूपेण तस्याभिज्ञानञ्च। एतदेव गीतायाः जिज्ञासासूत्रम्, भिन्नं धर्मसूत्राद्, ब्रह्मसूत्रादपि, भावभूमाववतरितधर्मसंकट-बोधाधीनत्वात्।

वस्तुतस्तु समधिकानि महाभारतपात्राणि द्वन्द्वात्मिकां मनोदशां भजन्ते । न केवलं भीष्मविदुरकर्णशल्यादयः तां सततमनुभवन्ति, अपितु धृतराष्ट्रगान्धारीद्रौपदीप्रभृतोयोऽपि तयाभिभूयमानाः दृश्यन्ते । प्रतीयते यद् द्वन्द्वसमवायि-जीवने अभ्यासशिक्षिताः न कमपि उद्वेगमनुभवन्ति ते । न लक्ष्यते तेषु काऽपि धर्मसंकटचेतना अनिवार्या, या द्वारं ताडयन्ती, निर्भर्त्सयन्ती सम्पूर्णमस्तित्वमर्जुनमाकुलान्तराक्रान्तं करोति, अनिर्बन्धा चोद्वेजयति समाधानम् ।

४. कार्पण्याभिव्यञ्जकानां स्वतःस्फूर्तशरीरविकाराणामालेखः धर्मसंकटापन्नमनोदशायाः भावनिबद्धप्रामाण्यं दृढीकर्तुं न तु नाटकीय-प्रभावाय। कुशलैः भावविकाराणामनुकारः क्रियत एव, न केवलं नाटकादिकाव्येषु अपितु लोकेऽपि। 'मिथ्याचारः स उच्यते' इति गीतासंकेतितानुकाररूपभावाभासानां निराकरणाय, कृपया परयाविष्टस्यार्जुनस्य कृपाकार्यभूतशरीरविकाराणामेवं वर्णनं क्रियते यत् कार्पण्यविशिष्टां भावभूमिं प्रमाणयति प्रमाणिता च सा धर्मसंकटस्य याथार्थ्यं रूपञ्चानायासं प्रमाणयति।

महाभारतयुद्धस्य विभीषिकायाः सम्पूर्णचेतनां विना भगवतः कृष्णस्य निरुपाधिककरुणाप्रसररूपायाः गीतायाः प्रभवोऽसम्भवः । महाभारतयुद्धस्योपक्रमोप-संहारभूता, अर्जुनगान्धार्युपलक्षितविभीषिकाचेतनैषा गीतामहाभारतयोः एकरूपतां गीतातात्पर्य-निर्धारणेऽविभाज्यसन्दर्भरूपेण प्रासङ्गिकताञ्च निदर्शयति महाभारतस्य । महाभारतयुद्धानन्तरं कृष्णेन सह गान्धार्याः युद्धभूमिनिरीक्षणं गीतायामर्जुनस्य विषादोपक्रमेण सह एकवाक्यतामाश्रयन्निकटं निरूपयति गीतोपदेशस्य भावभूमिम्।

५. निदर्श्यतेऽनेन गीतोऽपदेशे मनोविज्ञानानुयोगः । तदालक्ष्य श्रीमद्भगवद्गीता आस्थायाः मनोविज्ञानशास्त्रमित्यपि वक्तुं शक्यते। विधिर्हि धर्मस्य निर्वैयक्तिकं रूपम् उपाधिसम्बोधकम्। व्यक्तिसंज्ञानविरहितत्वान्मनोविज्ञानदृशा अपर्याप्तोऽयं धर्मार्थः । अयमेव विधिरूपो धर्मो मनोविज्ञानानुयोगेन विद्यारूपे परिणमते, व्यक्तिक्षेत्रोपयुक्तता-निरूपित-स्वधर्मानुसन्धानपरत्वान्मनोविज्ञानानुयोगस्य । अधिकारिसाकाङ्क्षाः हि सर्वा विद्याः, तद्रूपो धर्मोऽपि तदवच्छिन्न एव। स्वधर्मस्तु भवत्येव आस्थायाः नितान्तं वैयक्तिकं

रूपम्। निदर्शयत इमौ विध्यर्थभिन्नमनन्यसाधारणं गत्यात्मका१.यामं हिन्दुधर्मस्य। अस्मिन्विवेकेऽशिक्षिता अम्बेडकरप्रभृतय आक्षिपन्ति हिन्दुधर्मे धर्मकृपणतां प्रचारासहिष्णवन्तर्मुखताञ्च। तदनुचितम्। धर्मस्य विद्यारूपस्य अधिकारिसापेक्षत्वात्, स्वधर्मस्य चानन्यसाधारणत्वात्, कोटीमे अर्थतः अपाकुरुतः निरुपाधिकं सहभागम्।

६. अर्जुनस्य भावाक्रान्तमन्तःकरणं तस्य धर्मजिज्ञासायै ददाति आस्तित्विकाभ्यर्थनारूपमभिज्ञानं प्रामाणिकताञ्च। युगपदेव निदर्शयतीदमप्रामाणिकतानिबन्धं तस्य युद्धोपरतिचिन्तनस्य, मोहाविष्टान्तःकरणस्य श्रेयःप्रेयो विवेकस्य प्रतिबन्धकत्वात् । स्पष्टमिदं 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे', 'निहत्य धार्तराष्ट्रन्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन,' 'स्वजनं हि कथं हित्वा सुखिनः स्याम माधव' इत्याद्युदाहरणैः। अतो विचारविषयतामन्वेत्यत्रार्जुनस्य युद्धोपरतिचिन्तनम्, प्रतिपाद्यमग्रिमैककस्य।

एकक विमर्श :

अर्जुन द्वारा युद्धक्षेत्र का कृष्ण-नियोजित निरीक्षण, तज्जनित अतिदर्शन, उसका अर्जुन के शरीर और मन पर अप्रत्याशित प्रभाव, यह दशश्लोकात्मक, चतुर्थ एकक का कथ्य है जो अधोनिर्दिष्ट चार उपैककों में निबद्ध है :

(क) युद्ध में प्रवृत्ति से पूर्व, अर्जुन श्रीकृष्ण से, रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में स्थापित करने की प्रार्थना करता है, ताकि वह उन योद्धाओं को ठीक से देख सके, जिनके साथ उसे युद्ध करना है.

(ख) रथ को दोनों सेनाओं के मध्य स्थापित करके श्रीकृष्ण, भीष्म-द्रोणादि की ओर संकेत करते हुए, अर्जुन को उन्हें देखने को कहते हैं.

(ग) अर्जुन का प्रतिपक्ष दर्शन अतिदर्शन का रूप ले लेता है, और वह उसमें, आक्रमण के निशानों की बजाय आत्मीय सम्बन्धों को देखने लगता है.

(घ) अर्जुन के शरीर और मन पर इस अतिदर्शन का अनपेक्षित प्रभाव.

इस प्रकार युद्धभूमि का निरीक्षण, अर्जुन में अतिदर्शन को जन्म देता है; इससे उत्पन्न होती है अवसर के लिए अनुपयुक्त मनोभूमि, जो इस अपनिश्चय को जन्म देती है : *'न च श्रेयोऽनु पश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे'.*

१. धृतराष्ट्र, दुर्योधन और अर्जुन की कुरुक्षेत्र की समझ : वस्तु को देखने की तीन भंगिमाएं :

सम्यक्‌दर्शन, समस्त प्रवृत्तियों के सफल व्यवहार का साधारण हेतु है. प्रवृत्ति लौकिक प्रयोजन को लेकर हो या धार्मिक अथवा आध्यात्मिक, वस्तुस्थिति को ठीक से देखना, सफल प्रवृत्ति की पहली शर्त है. यह श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का प्रारम्भिक विमर्शबिन्दु है, यह बात प्रथम अध्याय में प्रचुरता से व्यवहार में लाए गए 'दृश्', धात्वर्थक वाक्यों और वाक्यांशों से सहज स्पष्ट हो जाती है यथा — **दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं...** (१.२), **पश्यैतां पाण्डुपुत्राणां ..** (१.३), **यावदेतान्निरीक्षेऽहम् ..** (१.२१) **योत्स्यमानानवेक्षेऽहम् ...** (१.२३) **तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थ ...**(१.२६), **तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः ...**(१.२७), **दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण ..** (१.२८), **निमित्तानि च पश्यामि ...** (१.३१), **न च श्रेयोऽनुपश्यामि ..** (१.३१), **यद्यप्येते न पश्यन्ति ..** (१.३८), इत्यादि.

सम्यक्-दर्शन से यहां तात्पर्य है, दर्शन (निरीक्षण) का वस्तुनिष्ठ होना. यद्यपि वस्तु की स्वरूप प्रतिपत्ति दर्शन(अनुभव) के ही आधीन होती है और यह वस्तु-दर्शन, मनःस्थिति और उसमें रूढ मूल्यों के संक्रमण से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सकता, तथापि हम दर्शन की वस्तुनिष्ठा को सुनिश्चित करने के लिए, वस्तु के स्वरूप की दो रूपों में परिकल्पना कर सकते हैं : व्यावहारिक और तात्त्विक. वस्तु का वह रूप जो सफल प्रवृत्ति का हेतु हो, उसका व्यवहारिक रूप है, और जो व्यावहारिक परिच्छित्तियों से मुक्त, वस्तु के अव्यभिचरित अनुभव में हेतु हो वह उसका तात्त्विक रूप है. गीता में धृतराष्ट्र, दुर्योधन और अर्जुन की कुरुक्षेत्र को लेकर अपनी अपनी समझ है, जो संकलितरूप में वस्तुस्थिति को देखने की क्रमशः तीन भंगिमाओं को बताती हैं. इनमें धृतराष्ट्र के लिए कुरुक्षेत्र मोहजनित भेद का अधिष्ठान है, दुर्योधन के लिए यह अपने तथा प्रतिपक्ष के निरीक्षण, बलाबल के तुलनात्मक आकलन रक्षा और प्रहार के लक्ष्यों के निर्धारण का अर्थात् सफल युद्धोद्यम का क्षेत्र है. इससे भिन्न अर्जुन के लिए कुरुक्षेत्र का मैदान, मानवीय सम्बन्धों के एक पूरे संसार को खोलकर रख देता है, जो अब नष्ट होने के कगार पर है. रक्षा और प्रहार के लक्ष्य निर्धारित करने के बजाय, अर्जुन आमने सामने खड़ी सेनाओं में अपने बान्धवों को, अपने भाई, चाचा पितामह और गुरुजनों को देख रहा है. देखने के इन तीन क्रमों में केवल दुर्योधन का निरीक्षण, तात्कालिक- प्रयोजनानुबद्ध होने से सम्यक् दर्शन कहलाने की योग्यता रखता है. धृतराष्ट्र अपेक्षित सामर्थ्य के अभाव के कारण, तथा अर्जुन का अतिदर्शन, व्यवहारानुपयोगी होने से, सम्यक् दर्शन के उदाहरण नहीं बनते. इस क्रम की समझ, जो जीवनदर्शन का भी क्रम है, अर्जुन में गीतोपदेश

की पात्रता की पहचान और निर्धारण में महत्त्वपूर्ण रूप से सहायक हो सकती है. एक अशक्त व्यक्ति (धृतराष्ट्र) को ज्ञान देने का कोई अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान को मूल्य में बदलने के लिए अपेक्षित इच्छाशक्ति और सामर्थ्य उसके पास नहीं है. जो लौकिक सफलता से सन्तुष्ट हैं, और जिन्होंने अपने देखने समझने की क्षमता को व्यावहारिक आवश्यकता के अनुसार तराश कर रखा है(दुर्योधन), उनकी धर्म और नैतिकता की समझ भी उनके व्यावहारिक जीवनदर्शन का अंग है, व्यवस्थित और संहिताबद्ध. यह धर्म की एक आम आदमी की समझ है, जिसे धृतराष्ट्र और दुर्योधन अपने अपने ढंग से जी रहे हैं. ऐसे ही लोगों को ध्यान में रखकर गीता में कहा है : *तानकृत्स्नविदोमन्दान् कृत्स्नविन्नविचालयेत्* (तत्त्ववेत्ताओं को उन अप्रबुद्ध लोगों की आस्था को विचलित नहीं करना चाहिए). समस्या तब पैदा होती है, जब किसी व्यक्ति का अनुभव-फलक व्यावहारिक उपादेयता से अधिक को ग्रहण करने लगता है, और वह उससे अधिक देखने लगता है, जितना व्यवहार के लिए आवश्यक है. यह अतिदर्शन तत्त्वज्ञान नहीं है, किन्तु यह व्यावहारिक परिच्छित्तिमुक्त होने से प्रतिबन्धनिराकरण के द्वारा तत्त्वानुसंधान की एक महत्त्वपूर्ण शर्त को पूरा करता है. यह सृजन और अनुसंधान की मनोभूमि है. इसमें उद्‌भूत कलाएं हमारे सामने वस्तुओं के उस सौन्दर्य का उद्घाटन करती हैं, जिसे व्यवहार के अनुशासन से बंधी हमारी दृष्टि देखते हुए भी नहीं देख पाती. अतिदर्शन के द्वारा चेतना में स्वीकार हुआ समृद्ध अनुभव, वस्तुजगत् की व्यावहारिक समझ को परीक्षण का विषय बनाते हुए, वैज्ञानिक अनुसन्धान को जन्म देता है; धर्म और नैतिकता की रूढ़, संहिताबद्ध मान्यताओं को अनुभव के समृद्ध एवं नए संदर्भों में विचार का विषय बनाते हुए, पुनर्मूल्यांकन और पुनराख्यान के द्वारा रूढ़ के अस्तित्व चेतना में पुनर्जागरण का पथ प्रशस्त करता है. अर्जुन धनुःसंधान करते करते, शत्रुपक्ष में, अपने बाणों के लिए लक्ष्य बने योद्धाओं में एकाएक अपने पारिवारिक सम्बन्धों को देखने लगता है, अपने आत्मीय रूप में उनकी पहचान करने लगता है. इस अतिदर्शन के तत्काल दो प्रभाव सामने आते हैं : इसके विस्तार के सामने, संक्षिप्त, नियोजित अनुभव की अभ्यस्त, व्यवहार की यान्त्रिकी काम करना बंद कर देती है, और परा-व्यावहारिक चेतना में मुक्त हुआ अनुभव उस मनोवैज्ञानिक परिस्थिति को रेखांकित करता है, जो सृजन और अनुसंधान की भूमि है. अर्जुन एक मसीहा नहीं है, पैगम्बर या धर्मगुरु भी नहीं, किन्तु उसकी त्रासदी, गीता में जिस प्रकार उसका वर्णन हुआ है, उन मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों को बताती है, जिनमें एक महात्मा बुद्ध, भगवान् महावीर, एक

ईसा, हजरत मुहम्मद या गुरु नानक का जन्म होता है, और जिनसे गुजरता हुआ कोई भी व्यक्ति, औरों के लिए नहीं तो कम से कम स्वयं अपने लिए उद्धारक मसीहा अवश्य बन सकता है.

२. अर्जुन द्वारा युद्धस्थल का निरीक्षण : अतिदर्शन और उसकी परिणति :

दुर्योधन केवल युद्धस्थल का निरीक्षण करता है, और अपनी 'रिपोर्ट' गुरु द्रोण के सामने प्रस्तुत करता है, जब कि अर्जुन युद्धस्थल में देखने की इच्छा के साथ प्रवेश करता है. दोनों के देखने में एक सूक्ष्य अन्तर है. 'देखना' स्वभाव से एक चयनात्मक प्रक्रिया है, जो पश्चाद्वर्ती उपयुक्त क्रिया को जन्म देता है, जबकि 'देखने की इच्छा' अस्तित्त्व की एक कोटि की अभिधायक है जो देखने, करने की जैव-अभियान्त्रिकी से कहीं ऊंची है. देखने की इच्छा कर्म की ओर नहीं, चिन्तन की ओर ले जाती है, जो कर्म का प्रवर्तक हो भी सकता है, और नहीं भी हो सकता. 'निरीक्षेऽहम्' 'अवेक्षेऽहम्' इन मुहावरों का असकृत् प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि पाण्डव योद्धा का 'निरीक्षण', चैतन्य की उच्चतर कोटि में प्रवेश कर चुका है, या यों कहें कि व्यवहार के मार्ग से भटक गया है.

निकट से विचार करें तो सहज स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन का युद्धस्थल निरीक्षण, श्रीकृष्ण के संकेत के आधीन एक प्रायोजित व्यापार है. रथ के घोड़ों की लगाम ही नहीं, अर्जुन के मन की डोर भी कुशल सारथी कृष्ण के हाथों में पहुंच चुकी है. वे बड़ी चतुराई से भीष्म-द्रोणादि की तरफ संकेत करते हुए अर्जुन को उस अतिदर्शन के मार्ग पर ले चलते हैं, जो अर्जुन में अन्तर्द्वन्द्व और व्यवहार-वैक्लव्य को जन्म देता है. जैसा कि ऐतिहासिक पात्रों के ऊपर दिए विवरण से स्पष्ट है, अर्जुन गीता के परिदृश्य में अकेला पात्र है, जिसमें उपदेश के लिए उपयुक्त भूमि के दर्शन होते हैं. हजारों साल बाद कभी ही ऐसा संयोग आता है जब उपदेष्टा का उपयुक्त पात्र से समागम होता है. हजारों वर्ष पूर्व जो उपदेश भगवान ने विवस्वान को दिया था, और काल के क्रम में जिसे भुला दिया गया, आज उसी के पुनराख्यान का अवसर है. इस अवसर को श्रीकृष्ण आसानी से हाथ से नहीं जाने दे सकते. अतः संकेत द्वारा, बड़े ही सूक्ष्म ढंग से, अर्जुन को अतिदर्शन में नियोजित करते हुए, वे उसके मन में व्यग्रता और कर्तव्यसंदेह रूप उपदेश निमित्त का सृजन करते हैं.

इस उद्‌बुद्ध अतिचेतना में गुरु द्रोण का वह प्रिय शिष्य कहीं खो गया है, जिसने कभी, गुरु के सामने धनुर्विद्या की परीक्षा के लिए प्रस्तुत होते समय, प्रश्न किए जाने पर कहा था कि उसे अपने लक्ष्यबिन्दु के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा है.

महाभारत कथा में यह प्रसंग आता है कि एक बार गुरु द्रोण ने धनुर्विद्या में अपने शिष्यों की परीक्षा लेने का निश्चय किया. उन्होंने उनमें से एक एक को क्रमशः अपने पास बुलाया और वृक्ष पर 'बैठी चिड़िया' पर लक्ष संधान करने को कहा. किन्तु वे बाण चलाने की अनुमति देने से पूर्व प्रत्येक शिष्य से पूछते, कि क्या वह, अब भी लक्ष के अतिरिक्त पास खड़े अपने गुरु को, भाइयों को, निकटवर्ती परिदृश्य को देख रहा हैं. प्रत्येक ने अपने सकारात्मक उत्तर से गुरु को निराश कर दिया, अर्जुन को छोड़कर, जिसने कहा कि उसे तो चिड़िया की गर्दन के सिवा और कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा है. महाभारत युद्ध के प्रारम्भ के क्षणों में, सफल प्रवृत्ति के लिए आवश्यक, चयनात्मकबोध की इस सहज योग्यता पर, अर्जुन की पकड़ ढीली पड़ती जा रही है. वह उससे अधिक देख रहा है जितना एक योद्धा को देखना चाहिए.

बोध की प्रयोजननिरूपित-चयनात्मकता सफल क्रिया की पहली शर्त है. आदत और संस्कारों से, प्राणियों के ज्ञान में सहज चयनात्मक वृत्ति बन जाती है, ताकि वे जीवन की व्यावहारिक चुनौतियों का सामना कर सकें. संकट उस समय उत्पन्न होता है, जब व्यावहारिक चुनौती के सम्मुख खड़ा व्यक्ति उससे अधिक को अपनी दृष्टि की परिधि में ले लेता है, जितना तात्कालिक व्यवहार के लिए आवश्यक है. संकट का प्रथम एहसास अतिक्रान्त करने वाले भावोद्रेग के रूप में होता है, जो कर्तव्य में द्विधा वैक्लव्य उत्पन्न करता है, प्रथम, शरीर की साधनभूत कर्मयांत्रिकी को निष्प्रभावी बनाकर, और द्वितीय प्रस्तावित कर्म की नैतिकता को लेकर संशय तथा मूल्यविषयक प्रश्नों को जन्म देकर. गीता एक नियत तार्किक क्रम में घटनाचक्र का विवरण प्रस्तुत करती है — (१) अर्जुन द्वारा युद्धस्थल का निरीक्षण, जिसे केवल युद्धनीति का अंग होना चाहिए था, की (२) अतिदर्शन में परिणति, (३) तज्जनित भावोद्रेक का (४) कर्तव्य के शारीरिक और मानसिक उपादानों पर प्रभाव, अर्थात् भावोद्रेकजन्य (क) शरीर की विकलता (ख) कर्तव्य में संदेह (अनिश्चय) तथा (५) मिथ्यानिर्णय. गीता के सन्दर्भित श्लोक, धर्मसंकट के इस मनोवैज्ञानिक क्रम का यथावत् अनुसरण करते हैं.

३. अर्जुन का कार्पण्य : धर्मसंकट की प्रामाणिकता

गीता के प्रथम दो अध्यायों में 'कृपा', 'कार्पण्य', 'कृपया' प्रभृति कृप्धात्वर्थक शब्दों का प्रयोग विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है. यह एक भावाक्रान्त असहाय्यबोध को बताता है, जिसका आभ्यन्तर संकट अथवा विकल्पविहीन निष्करुण परिस्थिति के बीच किसी व्यक्ति द्वारा अनुभव हो सकता है. *'कृपणान् सततं दृष्ट्वा ततः संजायते कृपा. धर्म निष्ठां यदा वेत्ति तदा शाम्यति सा कृपा'.* (शान्ति.१६३.२०) इससे कार्पण्य शब्द, धर्मसंकटजनित-निरुपायिता-निरूपित- भावग्रन्थिविशेष को ही लक्षित करता है. यह गीता-महाभारत में इन पदों के व्यवहार से प्राप्त अर्थ है.

धर्म संकट का भावतलस्पर्शी उच्छ्वास उसे उस स्वरूपसिद्धि से विभूषित करता है, जो वास्तविक धर्मसंकट को उसके उन बहुत से प्रतिभासों से अलग करता है जिन्हें लोग बौद्धिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक विवशताओं के कारण धारण किए फिरते हैं. यह प्रश्न सहज मन में उठता है कि महाभारत के सुविस्तृत कलेवर में, ऐसे बहुत से पात्र हैं जो धर्मसंकट से गुजरते दिखते हैं, फिर अर्जुन को और केवल अर्जुन को ही, वह भी कुरुक्षेत्रीय देशकालविशिष्टसंकटापन्न अर्जुन को ही गीतोपदेश के लिए पात्र रूप में क्यों कर चुना गया. इन पात्रों में युधिष्ठिर प्रमुख हैं, जो कुरुक्षेत्रयुद्धावसान के अनन्तर, अनुशयतप्तहृदय, राज्य का परित्याग कर, वनवास के लिए जाने की इच्छा करते हैं. युधिष्ठिर का युद्ध के अनन्तर का सन्ताप, युद्धपूर्व के अर्जुन के विषाद का, शब्द और कथ्य में अनुसरण करता प्रतीत होता है. (शान्ति.१-३६) किन्तु यह युधिष्ठिर के लिए गीतोपदेश की पात्रता अर्जित नहीं कर पाता. उसके विषादापनयन के लिए कोई गीता प्रगट नहीं हुई. कारण स्पष्ट है. शान्तिपर्व में वर्णित युधिष्ठिर के अनुशोक में वैसी विह्वलता का अभाव है जो अर्जुन के विषाद का वैशिष्ट्य है, और जो उसके विषाद को योग की हैसियत प्रदान करती है. ऐसा प्रतीत होता है कि युधिष्ठिर का अनुताप राजनैतिक शिष्टाचार मूलक होने के कारण, भीष्म प्रतिपादित राजधर्म में ही उसकी पात्रता को नियत करता है, जहां शोक प्रदर्शनि की औपचारिकता को राजधर्म के रूप में निरूपित किया गया है —

हन्तॄणामाहतानां च यत् कुर्युरपराधिनः।
क्रोशेद् बाहुं प्रगृह्यापि चिकीर्षन् जनसंग्रहम्।। शा.प.१०२.३८

(शत्रुओं को मारने वाले, अपने वीरों में जो आहत हुए हों, उनकी हानि के लिए इस प्रकार दुःख प्रगट करे, जैसे

अपराधी किया करते हैं. जनमत को अपने अनुकूल करने की इच्छा से जिसकी हानि हुई हो, उसकी बांह पकड़कर सहानुभूति प्रगट करते हुए जोर जोर से रोए और विलाप करे)

युधिष्ठिर तो क्या, स्वयं अर्जुन भी गीतोपदेश के पुनराख्यान की योग्यता नहीं रखता. महाभारत युद्ध के अनन्तर, भगवान श्रीकृष्ण गीता को पुनः सुनने के उत्सुक अर्जुन के परितोष के लिए उसे अनुगीता सुनाते हैं. वे स्पष्ट करते हैं कि उपजीव्य मनोभूमि के अभाव में, गीतानुभव की पुनरावृत्ति स्वयं श्रीकृष्ण के लिए भी असम्भव है. यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि धर्मसंकट में कातरता का होना उसके याथार्थ्य को, उपदेश के लिए उपयुक्त मनोभूमि रूपमें, उसके दावे को प्रमाणित करता है. यह कार्पण्यभाव ही गीता का जिज्ञासासूत्र है. यह धर्मसूत्र से भिन्न है, और ब्रह्मसूत्र से भी, क्योंकि यह भावभूमि में अवतरित, भावप्रमाणित धर्मसंकटबोध के अधीन है.

महाभारत के अनेकानेक पात्र द्वन्द्वात्मक मनोदशा से ग्रस्त हैं. न केवल भीष्म, विदुर, कर्ण शल्यादि इसे निरन्तर अनुभव करते हैं, अपितु धृतराष्ट्र गान्धारी द्रौपदी प्रभृति पात्र भी इससे आक्रान्त दिखते हैं. किन्तु द्वन्द्वसमवारि जीवन में अभ्यास-शिक्षित होने से, वे इसके कारण किसी गम्भीर भावनात्मक समस्या का अनुभव नहीं करते. उनमें, ऐसी कोई अनिवार्य धर्मसंकट की चेतना नहीं दिखती जो, द्वार खटखटाती, सम्पूर्ण अस्तित्व को धमकाती, अर्जुन को आक्रान्त कर रही है, और अनिर्बन्ध होकर समाधान के लिए उद्वेलित करती है.

४. गीतोपदेश : प्रामाणिक मनोभूमि और अधिकार :

श्रीमद्भगवद्गीता में कार्पण्याभिव्यञ्जक स्वतःस्फूर्त शरीरविकारों का आलेख, धर्मसंकटापन्नमनोदशा के भावनिबद्ध प्रमाण्य को पुष्ट करने के लिए है, किसी नाटकीय प्रभाव के लिए नहीं. कुशल व्यक्तियों के द्वारा भावविकारों का अनुकार नाटकादि में ही नहीं, लोक व्यवहार में भी देखा जाता है. 'मिथ्याचारः स उच्यते' इस श्रीमद्भगवद्गीता में संकेतित अनुकाररूप भावाभासों के निराकरण के लिए, कार्पण्य से अभिभूत अर्जुन में, तत्कार्यभूत शरीरविकारों का जो वर्णन गीता में किया गया है, वह कार्पण्यविशिष्ट-भावभूमि को प्रमाणित करता है, और प्रमाणित हुई वह, धर्मसंकट के याथार्थ्य को, उसके अकृत्रिम, अनायास स्वरूप को प्रमाणित करती है.

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय में, युद्ध की विभीषिका, कुरुवंश के अवश्यम्भावी विनाशरूप में इसकी परिणति की जिस कल्पनामात्र से उद्विग्न होकर अर्जुन महाभारत युद्ध से हटने की बात सोचता है, जिससे जुड़े नैतिक प्रश्न गीतोपदेश का निमित्त बनते हैं, महाभारत युद्ध की समाप्ति पर अर्जुन की वह कल्पना एक हृदयद्रावक वास्तविकता बन कर सामने आती है. किन्तु गीतोपदेश से संस्कृत हुआ अर्जुन, अब इस त्रासद अनुभव को जीने और कहने की योग्यता खो चुका है. धृतराष्ट्र द्वारा जिस कुरुक्षेत्र की चर्चा के साथ श्रीमद्भगवद्गीता का समारम्भ होता है, जिसको दुर्योधन और अर्जुन अपनी अपनी दृष्टि से निरीक्षण का विषय बनाते हैं, उस कुरुक्षेत्र का गान्धारी का अपना अनुभव है. युद्ध की समाप्ति पर व्यास के वरदान के प्रभाव से गान्धारी कुरुक्षेत्र की रणभूमि को देखती है, जहां महाभारत युद्ध की समस्त भयावह सम्भवनाएं, जिनकी कल्पना मात्र से, युद्धभूमि में खड़े अर्जुन के पैर लड़खड़ाने लगे थे, आज एक मन दहला देने वाला यथार्थ बनकर गान्धारी के सामने खड़ी थीं. युद्ध की विभीषिका का पैमाना, उसकी असीम वेदना और सर्वस्पर्शी छिलन की गवाह तो केवल एक नारी ही हो सकती है. हृदय की सामर्थ्य से अधिक वेदना की बाढ़ से बचाव के लिए, सर्जनात्मक चिन्तन और कर्म के रूप में सुरक्षा-कपाट हैं, पुरुष के पास. किन्तु दुःख के बोझ को, बिना किसी संस्कार के, बिना किसी बहाने के, ज्यों का त्यों स्वीकार करने का धैर्य केवल नारी में ही हो सकता है. अर्जुन का विषाद, एक योग है, जो उसे गीता के तत्त्व-ज्ञान से जोड़ता है. महाभारत के युद्ध में हुए ज्ञाति-विनाश से युधिष्ठिर बहुत दुःखी हैं, लेकिन उन्हें उबारने के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं, राज्य के अधिकार और दायित्व. महाभारत युद्ध के दर्द का दायभाग तो गान्धारी, द्रौपदी, उत्तरा, तथा कुरुवंश की पुत्रवधुओं का ही है. द्रौपदी के पुत्रों के वध के अनन्तर, कुन्ती को सन्त्वना देती, गान्धारी इस बात को, थोड़े से शब्दों में कह जाती है :—

मा शुचो न हि शोच्यास्ते संग्रामे निधनं गताः ।
यथैवाहं तथैव त्वं को नावाश्वासयिष्यति ।। स्त्री. १६.४४

(वे सभी वीर संग्राम में मारे गए हैं, अतः शोक करने के योग्य नहीं हैं. आज जैसी मैं हूं, वैसी ही तुम भी हो. हम दोनों को कौन धीरज बंधाएगा).

यही कारण है कि, युद्ध की विभीषिका से साक्षात्कार के लिए, व्यास गान्धारी का चुनाव करते हैं. योद्धाओं की लाशों से पटे युद्धस्थल में वह देखती है, अपने पुत्रों को, भाई भतीजे,

दामाद, प्रियबान्धवों और सम्मानित गुरुजनों को, कुछ उसी प्रकार जैसे अर्जुन का संवेदनशील कल्पना-प्रवण मानस, कृष्ण के संकेत पर, युद्ध के लिए सन्नद्ध प्रतिपक्ष का निरीक्षण करते करते उनमें आत्मीय सम्बन्धों को देखने लगा था. कृष्ण यहां भी विद्यमान हैं, एक अलक्ष्य उत्प्रेरक के रूप में, जो महाभारत में उनकी भूमिका का रहस्य है. गान्धारी और अर्जुन के कुरुक्षेत्र दर्शन में वही सम्बन्ध है जो सम्भावना और उसकी परिणति में होता है, जो परिकल्प और आकार में होता है. दोनों साकांक्ष हैं, एकदूसरे के पूरक हैं. कुरुक्षेत्र, धृतराष्ट्र द्वारा जिसके उल्लेख के साथ गीतोपदेश का समारम्भ होता है, दुर्योधन से प्रारम्भ हुआ जिसका निरीक्षण, अर्जुन के लिए गीताज्ञान में निमित्त बनता है, गान्धारी द्वारा कुरुक्षेत्र की रणभूमि के यथार्थ का साक्षात्कार, इस क्रम का तार्किक पर्यवसान है. इसके बाद कुरुक्षेत्र के पास देने को कुछ नहीं बचता. गान्धारी का कुरुक्षेत्र दर्शन, युद्ध की विनाशलीला का साक्षात्कार, करुण रस के उत्कृष्ट, सार्वकालिक काव्य को जन्म दे गया है. संस्कृत के काव्यशास्त्र के ग्रन्थ इसके केवल एक श्लोक के काव्यसौष्ठव की चर्चा करते हैं. किन्तु यह सम्पूर्ण प्रसंग, स्त्रीपर्व के १० अध्याय (१६-२५), युद्ध की विभीषिका पर लिखा गया संसार का सर्वश्रेष्ठ काव्य है, इस बात की चेतना, पारम्परिक अथवा आधुनिक काव्यसमीक्षकों में कहीं दिखाई नहीं देती. हमारे लिए इसकी प्रासङ्गिकता मूलतः श्रीमद्भगवद्गीता की भावभूमि के उपकारक रूप में है. परिवार (कुल), जाति, अथवा धार्मिक समूहों के आत्मकेन्द्रित मूल्यविधानों, उनकी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं और आतंकपर्यवसायी आचारसंहिताओं के विरुद्ध, श्रीमद्भगवद्गीता निरुपाधिक-करुणा का शास्त्र है. संसार में युद्ध का सनातन कारण है, आस्था की जातीय अवधारणा (कुलधर्माः सनातनाः), जो अर्जुन की समझ में धर्म का अर्थ है, और जिसकी रक्षा के लिए वह चिन्तित है. धर्म की इस संकुचित, खतरनाक अवधारणा के विरुद्ध, धर्म के सार्वभौमिक अर्थ का अनुसंधान करती गीता, सार्वभौमिक आस्था-सूत्र के रूप में निरुपाधिक-करुणा की प्रतिष्ठा करती है. युद्ध की विभीषिका का कारुणिक उपन्यास, न केवल गीतोपदेश के महत्त्व और उसके उद्‌भव की मनोभूमि को समझने में उपकारक है, अपितु सार्वभौमिक करुणा के प्रतिबन्धक, धार्मिक अथवा राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित आतंकवाद के विरुद्ध, शस्त्रग्रहण की अपरिहार्यता और औचित्य दोनों को बताता है. जो सम्प्रदाय आतंकवाद और बलपूर्वक धर्मप्रवर्तन का विधान करते हैं, उनके साथ सभ्य संसार का कभी कोई टिकाऊ समझौता नहीं हो सकता. अहिंसा और सर्वधर्मसमभाव की एकतरफा निष्ठा को दुहराते रहने से, उनके साथ टकराव को

टाला नहीं जा सकता, टकराव जिनकी आस्था का अंग है. यही गीता के संदेश का निहितार्थ है. स्वतंत्रता संग्राम से लेकर, पचास वर्ष का स्वतंत्र्योत्तर भारत का इतिहास, इस्लामी आतंकवाद के सामने मुल्क के समर्पण और समझौतों का इतिहास है. जब समर्पण के लिए भी कुछ बचेगा ही नहीं तब क्या देकर टकराव को टालेंगे? जिनके लिए आतंक और परधर्मोच्छेद ही आस्था का पर्याय है, उनके सामने समर्पण और समर्पणमूलक, संवैधानिक समझौते कुछ समय के लिए टकराव को टाल तो सकते हैं, लेकिन वे किसी स्थाई समझ के रिश्ते का आधार नहीं बन सकते. आततायी के सामने समर्पण के औचित्य में, अहिंसा, धर्मनिरपेक्षता, सर्वधर्मसमभाव, के रूप में जो सिद्धान्तों का वितान प्रस्तुत किया जाता है, वह आत्मप्रवंचना है, सिद्धान्तों का दुरुपयोग है, सभ्यता के लिए खतरे की घड़ी में कर्तव्य से भागने का बहाना है. सिद्धान्तों के इस दुरुपयोग को ही गीता में प्रज्ञावाद कहा है. टकराव जिनके लिए आस्था का अंग है, उनके साथ टकराव से बचा नहीं जा सकता, उसे अनिश्चित काल तक टाला भी नहीं जा सकता. अहिंसा, धर्मनिरपेक्षता, सर्वधर्मसमभाव की रक्षा के लिए, परस्पर सम्मान और सार्वभौमिक करुणा पर अधारित विश्वसंस्कृति की प्रतिष्ठा के लिए, आततायी के साथ युद्ध कर्तव्य है. इससे बचने की कोई कोशिश नहीं की जानी चाहिए. श्रीमद्भगवद्गीता में सार्वभौमिक करुणा की प्रतिष्ठा, और युद्ध के विधान की विरुद्धार्थग्रन्थि का यही रहस्य है.

महाभारत का सन्दर्भित स्थल (गांधारी द्वारा युद्ध की विभीषिका के साथ साक्षात्कार) निरुपाधिक-करुणा की गीता-महाभारत की एकरूपता, महाभारतयुद्ध के उपक्रम और उपसंहार की संगति, के निदर्शन के द्वारा, महाभारत में गीता के कालान्तर प्रक्षेपाभियोग का निराकरण करते हुए, जहां भाष्य के लिए प्रस्तावित अध्ययन-पद्धति का समर्थन करता है, वहीं गीतोपदेश की प्रामाणिक भावभूमि तथा उपदेश में अधिकार सम्बन्धी निष्कर्षों की पुष्टि करता है. युद्ध की विभीषिका से उत्पन्न सन्त्रास, उससे विगलित होती करुणा का, समस्त विधानों को तुच्छ बनाता विस्तार, ही गीतोपदेश की प्रमाणिक भावभूमि है; यह भावभूमि जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के कुरुक्षेत्र से पाता है, कुलमर्यादा अथवा जाति की सीमित-प्रतिबद्धताओं पर आधारित, मूल्यचिन्तन को सवालों के घेरे में लेते हुए, जब व्यक्ति में व्यापक सन्दर्भों के प्रति संवेदनशील, प्रामाणिक मूल्यों के लिए उत्कण्ठा को जन्म देती है, उस समय यह (भावभूमि) अपनी प्रामाणिकता, और गीता में सन्दर्भित व्यक्ति के अधिकार, दोनों को एक साथ प्रमाणित करती है. गीतोपदेश की

प्रामाणिक भावभूमि तथा अधिकार सम्बन्धी इन निष्कर्षों को, महाभारत सन्दर्भों के सावधान अनुशीलन के बिना ठीक से नहीं समझा जा सकता.

५. गीता में मनोविज्ञान : आचार्य रजनीश की अन्तर्दृष्टि :

आचार्य रजनीश श्रीमद्भगवद्गीता को 'मनुष्य जाति का पहला मनोविज्ञान' कहते है, तो इसमें सच्चाई का अंश है, इसमें कोई संदेह नहीं. उनका यह कथन विचार के योग्य है : **"अगर मेरा वश चले तो कृष्ण को मनोविज्ञान का पिता मैं कहना चाहूंगा. वे पहले व्यक्ति हैं जो दुविधाग्रस्त चित्त 'माइण्ड इन कन्फ्लिक्ट', संतापग्रस्त मन खण्ड खण्ड टूटे हुए संकल्प को अखण्ड और ''इण्टीग्रेट'' करने की कोशिश करते हैं. कहें कि वे पहले आदमी हैं, जो 'साइको-एनालिसिस' का, मनन विश्लेषण का उपयोग करते हैं. सिर्फ मनस-विश्लेषण का ही नहीं, बल्कि साथ ही एक और दूसरी बात का भी – 'मनः संश्लेषण' का भी 'साइकोसिन्थेंसिस' का भी.**

कृष्ण सिर्फ फ्राइड की तरह मनोविश्लेषक नहीं है; वे संश्लेषक भी हैं. वे मन की खोज ही नहीं करते कि क्या क्या खण्ड हैं उसके ? वे इसकी भी खोज करते हैं कि कैसे अखण्ड व्यक्तित्व को 'इण्डिविजुएशन' को उपलब्ध हो; अर्जुन कैसे अखण्ड हो जाय".

श्रीमद्भगवद्गीता को विद्वानों ने अलग अलग रूपों में देखा है. कुछ लोगों ने इसे वेदान्त का प्रस्थानग्रन्थ माना है, तो औरों ने इसे क्रमशः कर्म, ज्ञान, भक्ति के शास्त्र रूप में स्थापित करने के प्रयास किए हैं. श्यामाचरण लाहिड़ी जी ने तो गीता को योग का ग्रन्थ मानते हुए, आद्योपान्त हठयोग-परक भाष्य लिखा है. आचार्य रजनीश यदि मनोविश्लेषण (साइकोएनालिसिस) और मनःसंश्लेषण के ग्रन्थ के रूप में गीता का निर्वचन करते हैं, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है. अध्ययन की यह परिपाटी गीतापाण्डित्य परम्परा के अन्तर्गत आती है. किन्तु एक गंभीर अध्येता की निगाह से यह बात नहीं बच सकती कि सैंकड़ों किस्से कहानियों से भरे, गीता के रजनीश-शास्त्र में उक्त प्रतिज्ञात पक्ष को स्थापित करने का कोई गंभीर प्रयास दिखाई नहीं देता. रजनीश से पहले भारतीय विद्वानों का एक वर्ग, योगशास्त्र से मनोविज्ञान का, विशेषरूप से साइकोएनालिसिस का प्रारम्भ मानता रहा है, तो दूसरी ओर पश्चिम के साहित्य समीक्षक शेक्सपियर को साइकोएनालिसिस का जन्मदाता मानते हैं, और उनकी कृति हैमलेट को अवचेतना के अध्ययन का उत्कृष्ट उदाहरण. इन सबने अपने पक्ष के समर्थन में उच्यकोटि के उद्देश्यपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किए हैं. किन्तु आचार्य

रजनीश के लिए 'प्रतिज्ञा' का अर्थ यह नहीं है कि वे उसका निर्वाह करेंगे ही. उनके लिए यह एक अन्तर्दृष्टि है, एक स्फुरण, मुग्ध श्रोताओं को आश्चर्यचकित और स्तब्ध करने के लिए. प्रामाणिक निर्वचन के योग्य, एक मर्यादित कथन आचार्य रजनीश की शैली नहीं है.

वस्तुतः इस प्रकार के सपाट सामान्यों से, जिनके गढ़ने में रजनीश को महारत हासिल है, सुनने वाले को चौंकाने के अलावा, किसी प्रयोजन की सिद्धि होती नहीं दिखती. गीता 'मानवजाति का पहला मनोविज्ञान है,' इस ज्ञान से मनोविज्ञान के इतिहास की समझ में तो वृद्धि हो सकती है, किन्तु गीता को समझने में इससे सहायता मिलने की अपेक्षा, अहित अधिक हो सकता है, क्योंकि गीता में मनोविज्ञान के अलावा भी बहुत कुछ है जो मूल्यवान है, महत्त्वपूर्ण है, जिसकी अनदेखी करते है इस प्रकार के उत्कथन. आचार्य रजनीश की अन्तर्दृष्टि सार्थक चिन्तन में सहायक हो सकती है तो तभी जब उसे सही परिप्रेक्ष्य में, और अपेक्षित अवच्छेदकों के साथ प्रस्तुत किया जाय. गीता में मनोविज्ञान है, इसमें कोई संदेह नहीं, किन्तु यह फ्रायड का मनोविश्लेषण है, इसका कोई प्रमाण न तो गीता में हैं, और न आचार्य रजनीश के गीता व्याख्यान में कुछ ऐसा है, जो इस मान्यता की संदेह से परे स्थापना कर सके. गीता का मनोविज्ञान वस्तुतः आस्था का मनोविज्ञान है, साधना का मनोविज्ञान है. संसार के धर्मग्रन्थों में श्रीमद्भगवद्गीता अकेला धर्मग्रन्थ है जो आस्था के मनोविज्ञान पर विचार करता है, और एक सार्थक उपासनापद्धति के चुनाव या अनुसंधान में इसका किस प्रकार प्रयोग हो सकता है, यह बताता है. हमने पिछले एकक में, गीता में ऐतिहासिक पात्रों की भूमिका पर विचार करते हुए उन्हें विभिन्न व्यक्तिक्षेत्रों के रूप में निरूपित किया है; ये व्यक्तिक्षेत्र महत्त्वपूर्ण अर्थ में मनोविज्ञान-क्षेत्र भी हैं. मनोवैज्ञानिक अर्थ के बिना उनकी कोई सार्थक भूमिका नहीं बन सकती. इन विशेष अर्थों को ध्यान में रखते हुए यदि हम गीता के मनोवैज्ञानिक स्वरूप की चर्चा करते है, तो यह मनोविज्ञान गीता के स्वरूप और अर्थ की समझ में उपादेय हो सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं.

आचार्य रजनीश का चिन्तन सन्दर्भ-निरपेक्ष है. वे भारत में पैदा हुए; पले और बढ़े. लेकिन भारत की गरीबी अशिक्षा और कुपोषण सामाजिक विषमताएं, यहां की राजनैतिक चुनौतियों और धार्मिक कट्टरता की समस्याएं उनके लिए कोई समस्या नहीं थीं. दारिद्र्य और सड़ी-गली परम्पराओं की विरासत को ढोते इस देश को छोड़कर वे अपने क्रान्तिदर्शन को लेकर अमेरिका

जा बसे, जो उनके सपनों का देश था. लेकिन अमेरिका हो या भारत, या फिर दुनियां का कोई और देश, सबके अपने कुछ स्थानीय सन्दर्भ होते हैं, कुछ स्थानीय समस्याएं और प्रतिबद्धताएं होती हैं, जिनके प्रति संवेदनशील हुए बिना कोई भी चिन्तन सार्थक नहीं हो सकता. स्थानीय सन्दर्भों में सफल परामर्श ही चिन्तन की सार्वभौमिकता की कसौटी है. कुछ ही समय गुजरा होगा कि रजनीश को अमेरिका और अमेरिका को रजनीश, एक दूसरे को सड़े-गले नजर आने लगे. और चूंकि सड़ी-गली वस्तु का ठिकाना सड़ी-गली जगह में ही हो सकता है, रजनीश अपनी ज्ञान-गठरी को सिर पर रखे वापस भारत आ गए. रजनीश की यह त्रासदी, संदर्भ-निरपेक्ष चिन्तन की त्रासदी थी.

वस्तुतः यह सन्दर्भ-निरपेक्षता ही रजनीश के गीता-चिन्तन को अप्रामाणिक बनाती है. गीता चिन्तन के आसानी से पहचाने जा सकने वाले, कुछ ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ हैं, साफसुथरे, और सुपरिभाषित. इन सन्दर्भों में अतिदर्शन अर्जुन में व्यवहार की यांत्रिकी को कुण्ठित करता हुआ उसे आचरण और तत्त्वदर्शन के संसार में ले जाता है. तत्त्व के साक्षात्कारात्मक अनुभव से सम्पन्न अर्जुन, और यह महत्त्वपूर्ण बात है, पुनः उसी व्यवहार के संसार में वापस लौटता है; जिस अतिदर्शन ने व्यवहार की यांत्रिकी को अवरुद्ध कर दिया था, वही अब तत्त्व के निश्चयात्मक बोध में परिणत हो कर न केवल व्यवहार की यांत्रिकी का पुनरुद्धार करता है, अपितु एक नए निश्चय के साथ अर्जुन को युद्धस्थल में वापस भेजता है. गीता जिस सन्दर्भ में प्रारम्भ होती है उपदेश के साथ वहीं वापस लौटती है, जैसा कि नीचे दिए श्लोक से स्पष्ट है –

''नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।। गी.१८.७३

(हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है, स्मृति प्राप्त हुई है. अब मैं संशय रहित हो कर स्थित हूं और आपकी आज्ञा का पालन करूंगा.)

गीतोपदेश की इस स्पष्ट, संदर्भ-केन्द्रित संरचना के सर्वथा विपरीत, आचार्य रजनीश के चिन्तन में उड़ान है, उड़ान के लिए अनन्त आकाश है, किन्तु उसमें वापस अपनी जगह पर लौटने की गुंजाइश नहीं है, क्योंकि वे जहां से उड़ान भरते हैं, उस जगह का नक्शा अपने पास नहीं रखते. यह उनके लिए महत्त्वपूर्ण है भी नहीं. रजनीश का चिन्तन सन्दर्भविहीन है, केद्रविहीन है; वे

अष्टावक्र गीता पर लिख सकते हैं अधिकारपूर्वक, क्योंकि अष्टावक्र-गीता की चिन्तन-शैली रजनीश चिन्तन की भांति एक-आयामी, अपलापिनी और केन्द्रविहीन है. किन्तु श्रीमद्भगवद्गीता के बहुआयामी सन्दर्भ-जीवन्त, साकार, धर्मदर्शन पर लिखना आचार्य रजनीश के बस की बात नहीं है, क्योंकि गीता उनके चिन्तन की दिशा में नहीं आती. रजनीश का चिन्तन हसीन है, तारों भरी रात की तरह, उसमें बहकाने और बहा ले जाने की ताकत तो है, लेकिन उसकी रोशनी सितारों के मुट्ठी भर अस्तित्व को प्रकाशित करने में ही चुक जाती है. किसी को राह दिखा सके, किसी की राह रौशन कर सके, इतनी रोशनी उसके दामन में भरे मोतियों में होती ही कहां है? आचार्य रजनीश के चिन्तन के बारे में यह आकलन, उनकी गीता-व्याख्या के बारे में कुछ अधिक ही सही है. गीता के अध्येताओं को, रजनीश के प्रातिभ-स्फुरणों को पढ़ते समय विशेष सावधानी बरतनी चाहिए. श्रीमद्भगवद्गीता में मनोविज्ञान है, तो किस रूप में है, और उसकी गीतार्थ-निरूपण में क्या प्रासंगिकता है, रजनीश के एक स्फुरित उद्‌बोधन का आकलन करते हुए, इस विषय पर यहां विचार किया गया. सम्प्रति आस्था-मनोविज्ञान के सैद्धान्तिक निहितार्थ पर विचार करते हैं.

धर्म और मनोविज्ञान : विद्यारूप में धर्म की पात्र-सापेक्ष अवधारणा : हिन्दूधर्म प्रचारक धर्म क्यों नहीं बन सका? डा. अम्बेडकर के सन्दर्भित चिन्तन की समीक्षा :

श्रीमद्भगवद्गीता में आस्था का मनोविज्ञान, उपदेश के लिए प्रामाणिक व्यक्तिक्षेत्र की तलाश और अर्जुन में उसका निर्धारण कुछ उसी तरह है जैसे आजकल लोग मनोवैज्ञानिक से बच्चे का अभिवृत्ति परीक्षण करवाते हैं, और उसके परामर्श के अनुसार तय करते है कि बच्चे को डाक्टर बनना है या इंजीनियर, वैज्ञानिक बनना है या साहित्यकार, चित्रकार या संगीतज्ञ. उपदेश के लिए उपयुक्त मनोवैज्ञानिक क्षेत्र की अर्थात् 'पात्र' की तलाश आस्था के एक नए अर्थ को जन्म देती है जो धर्म की स्थिर संहिताबद्ध पुस्तकीय अवधारणा से सर्वथा भिन्न है. 'धर्म' पद का प्रसिद्ध अर्थ है, शास्त्रविधान का अनुपालन. किन्तु जब हम धर्मोपदेश के लिए उपयुक्त पात्र की तलाश करने लगते है तो इसका अर्थ है कि वक्ष्यमाण उपदेश एक सामान्य विधान नहीं अपितु 'विद्या' या विज्ञान है, जिसे केवल उपयुक्त व्यक्ति को ही दिया जा सकता है. विद्या का उपदेश, विद्या लौकिक हो या आध्यात्मिक, अधिकारि-निरपेक्ष नहीं हो सकता. एम. ए. में दाखिला लेने के लिए बी. ए. की परीक्षा पास करना आवश्यक है. कभी किसी को यह शिकायत करते नहीं सुना कि

इस व्यवस्था से समानता के जनतांत्रिक अधिकार का हनन होता है. जहां धर्म का अर्थ केवल 'विधान का अनुपालन' है; जहां 'विद्या' रूप में धर्म की कोई अवधारणा है ही नहीं, ऐसे धर्मावलम्बियों को हिन्दूधर्म के इस आयाम को समझने में खासी दिक्कत होती है. हिन्दूधर्म को न समझने के लिए प्रतिबद्ध डॉ. अम्बेडकर की पुस्तक (Thoughts on Pakistan) से एक दिलचस्प उद्धरण विचार के लिए प्रस्तुत कर रहे हैः-

"हिन्दू धर्म एक प्रचारक धर्म नहीं है, मौलाना मुहम्मद अली बिल्कुल सही थे, जब उन्होंने कांग्रेस के अध्यक्ष रूप में भाषण करते हुए कहाः-

"अब अपने हिन्दू भाइयों से बहुत समय से मेरी यह शिकायत रही है कि, और एक बार इलाहाबाद में सन् १९०९ में भाषण देते हुए मैंने हिन्दू और मुसलमान के बीच अन्तर को स्पष्ट किया था कि मुसलमान के विरुद्ध जो अधिक से अधिक कहा जा सकता है वह यह है कि उसमें सुरुचि का अभाव है, और जिसे वह बादशाहों के योग्य पकवान समझता है, उसे सब के साथ बांट कर खाना चाहता है, उसके गले में भी ठूंसते हुए जिन्हें यह पसंद नहीं है, जबकि उसका हिन्दू भाई जिसे अपनी पाकविद्या पर अभिमान है अपनी रसोई के एकान्त कोने में छिप कर जो कुछ बनाया है उसे लोलुपता पूर्वक अकेला ही खा जाता है, अपने भाई की छाया से उसे बचाते हुए, बिना एक टुकडा भी उसके लिए छोड़े हुए. यह बात मैंने एक बार महात्मा गांधी से अपनी आस्था के इस पक्ष के औचित्य को सिद्ध करने के लिए कहा था".

ऊपर दिए उद्धरण पर गौर से विचार करे तो दो बातें सहज स्पष्ट हो जाती है. पहली तो यह कि इसमें इस्लाम के बलात् धर्म प्रवर्तन को 'अधिक से अधिक सुरुचि का अभाव' बता कर दूसरे धर्मों के प्रति इस्लाम की ज्यादतियों को बहुत हल्का करके पेश किया है. यदि कोई अपने बनाए पकवान को दूसरों को जो अनिच्छुक हैं, उन्हें भी आग्रहपूर्वक खिलाता है, तो निःसंदेह उसका अपराध 'सुरुचिबोध के अभाव' की कोटि में ही आता है. किन्तु यदि वह व्यक्ति तलवार तान कर आपके ऊपर खड़ा हो जाय, घर में जो कुछ बना है, उसे उठा कर सड़क पर फेंक दे, और कहे कि आज के बाद तुम मेरे दिए 'पकवान' के अलावा और कुछ नहीं खा सकते, तो इसे केवल रुचिव्यतिक्रम का मामला नहीं कह सकते. तलवार के बल पर धर्मान्तरण करवाना, दूसरों के उपासना-स्थलों को नष्ट करना, दूसरों की आस्था पर जजिया जैसे टैक्स लगाना — अत्याचारों के इस इतिहास को रुचि का व्यतिक्रम कहना एक कुटिल अवकथन है, भाषा का

दुरुपयोग है. भारत में हिन्दुओं के प्रति इस्लाम का आचरण सुरुचि के व्यतिक्रम का नहीं समस्त सभ्याचार के व्यतिक्रम का उदाहरण है. उक्त उद्धरण का दूसरा पहलू है, हिन्दूधर्म के बारे मे इसकी धारणा. इस्लाम और ईसाइयत जैसे धर्मों से भिन्न, हिन्दूधर्म एक बहुआयामी धर्म है. इसका एक सामान्य रूप है, जो संहिताबद्ध और सर्वजनसुलभ है. इसका दूसरा रूप है, आध्यात्मविद्या या विद्याओं का, जो अधिकारि-सापेक्ष है. इसके अतिरिक्त स्वधर्म के अनुसंधान रूप में, धर्म का एक विशिष्ट, अत्यन्त वैयक्तिक रूप भी हो सकता है जिसकी मान्यता हिन्दूधर्म में है. हिन्दू-आस्था के इन अधिकारि-सापेक्ष और वैयक्तिक धरातलों के स्वरूप को बिना ठीक से समझे, मुहम्मद अली पाकशास्त्र से लिए गए अपने रूपक का विस्तार करते हुए कहते हैं कि ''हिन्दू अपने रसोई के एकान्त कोने में छिपकर जो कुछ उसने बनाया है, उसे अकेला ही खाजाता है, अपने भाई की छाया से उसे बचाते हुए बिना उसके लिए एक टुकड़ा भी छोड़े हुए." वास्तविकता यह है कि आध्यात्मविद्या भाई भतीजों के लिए नहीं, सत्पात्र को दी जाती है. आध्यात्मविद्या का साधक 'छिपकर अकेला पकवान खाने वाला' नहीं बल्कि विद्या का ट्रस्टी होता है, जिसे सत्पात्र को सौंपना उसकी जिम्मेदारी होती है. हर गुरु में पात्र की एक बेचैन तलाश उसके जीवन भर चलती रहती है. महाभारत में अनेक पात्र है, जो अन्तर्द्वन्द्व और विषाद की मनोदशा से ग्रस्त हैं. कृष्ण उन सब को देख रहे हैं सबको परख रहे है. जैसे ही उनको उपदेश के लिए प्रामाणिक मनोदशा की सिद्धि अर्जुन में होते दिखती है, वे बिना समय गंवाए, अपने सम्पूर्ण दिव्य अनुभव को अर्जुन पर उंडेल देते हैं. जहां तक स्वधर्म की बात है, वह तो होता ही वैयक्तिक है. हर व्यक्ति को अपने लिए स्वधर्म का अनुसंधान करना होता है. जिसमें दूसरे की भागीदारी हो जाय, वह 'स्वधर्म' नहीं हो सकता.

स्पष्ट है, जनाब मुहम्मद अली की उक्त रूपकाश्रित समीक्षा में, जिसे बाबा साहब परमज्ञान के आधिकारिक स्फुरण की तरह उद्‌धृत करते हैं, जो इस्लामधर्म के आततायी इतिहास को केवल 'सुरुचि का व्यतिक्रम' कह कर हल्का करने की कोशिश की गई है, उसे तो खैर लेखक की एक मानवीय दुर्बलता समझ कर उपेक्षा की जा सकती है. हमारे प्रयोजन के लिऐ जो महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य बात है, वह है उक्त चिन्तन में परिलक्षित हिन्दूधर्म के बहुतलीय स्वरूप का अज्ञान, विशेष कर उसके उस पक्ष की समझ का अभाव जब धर्म आध्यात्मविद्या का रूप लेता है, या

'स्वधर्म' का अनुसंधान बन कर सामने आता है. यह समझ का अभाव अम्बेडकर के सम्पूर्ण हिन्दूधर्म चिन्तन की सहज पहचान है. इसके कारण ढूंढ़ने के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं है. मुहम्मद अली हों या अम्बेडकर, या फिर इनके जैसे कोई अन्य आलोचक, इन सभी के साथ समस्या यह है कि ये साक्षात् हिन्दूधर्म अध्ययन का विषय न बना कर, उसे इस्लाम या ईसाइयत के एक-आयामी 'माडल' को सामने रख कर समझने का प्रयास करते हैं. परिणाम यह होता है कि वे हिन्दूधर्म में उन विशेषताओं की तलाश करते हैं जो ईसाई या इस्लाम धर्म में हैं. यह विशेषताएं उन्हें वहां मिलती नहीं, और जो हिन्दू धर्म में है, वह इन्हें दिखाई नहीं देता. अतः इनकी आलोचनाएं कैसी होंगी, कितनी प्रामाणिक और वस्तुनिष्ठ होंगी, इस बात का सहज अंदाजा लगाया जा सकता है.

६. नैतिक प्रश्न : अर्जुन के युद्धोपरति-चिन्तन की पूर्वपीठिका :

अर्जुन की प्रारम्भिक उक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी चिन्ता जो श्रेयस्कर है, हितकर है, उसकी पहचान को लेकर है. किन्तु तनिक ध्यान से इन्हें पढ़ें तो स्पष्ट हो जाएगा कि वह 'श्रेय' और 'प्रेय' में अन्तर नहीं कर पा रहा है. एक ओर जहां वह कहता है, '*न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे,*' वहीं यह भी कि '*निहत्य धार्तराष्ट्रन्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन,*' तथा *स्वजनं हि कथं हित्वा सुखिनः स्याम माधव*. उपनिषत्काल से लेकर आज तक, दार्शनिक इस बात पर बल देते आए हैं, कि 'श्रेय' और 'प्रेय', 'हितकर और 'रुचिकर' दो सर्वथा भिन्न अवधारणाएं हैं, और दोनों पर्याय या विनिमयार्थक नहीं हैं. युद्ध से पलायन रूप जिस आचरण को अर्जुन 'श्रेय' रूप में प्रतिपादित करता है, वह तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो 'प्रेय' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है.

अर्जुन का यह विभ्रमितमूल्यबोध ही गीता में श्रेय-पदार्थ के तात्त्विक निर्वचन का प्रस्थानबिन्दु है. जिसे अर्जुन ने श्रेय समझ रखा है वह तो श्रेय का भ्रम है, श्रेयोभास मात्र है, जो प्रज्ञा की बजाय प्रज्ञावाद को जन्म दे रहा है. इसके लिए अर्जुन को झिड़कने के साथ ही दूसरे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक से, गीतोपदेश का समारम्भ होता है --

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।। २.११

'श्रेय' प्राप्त नहीं, प्राप्तव्य है, और प्राप्तव्य रूप में इसका निर्धारण, केवल शास्त्र से, अथवा शास्त्र और शुद्धान्तःकरण के द्वारा होता है. जब हम किसी 'प्रिय' वस्तु को प्राप्तव्य रूप में प्रस्तुत करते हैं, तो वस्तुतः इच्छा में जो विषय के लिए निसर्गवृत्ति प्राप्त है, उसी का पुनराख्यान कर रहे होते हैं. यहां जो निसर्ग प्राप्त है, उसी का प्राप्तव्य रूप में निर्वचन हो रहा है, जो कि अनभीष्ट है, और भाषा के दुरुपयोग से श्रेयोभास को जन्म देता है. इस प्रकार 'हमें सोना चाहिए' 'भोजन करना चाहिए' आदि विधायक वाक्य अर्थहीन हैं, क्योंकि नींद और भोजन करना, स्वभावप्राप्त हैं, इनके विधान करने का कोई अर्थ नहीं है. हां, स्वभाव प्राप्त के नियमन का विधान हो सकता है. 'हमें कम से कम ६ घंटे सोना चाहिए', 'हमें परिमित भोजन करना चाहिए', आदि विधिवाक्य सार्थक हैं. अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है. यहां केवल इतना जान लेना आवश्यक है कि 'प्रेय' का विधान, प्राप्त का विधायक होने से, अप्रामाणिक है. केवल श्रेय का विधान ही प्रामाणिक है, यह न तो स्वभाव से प्राप्त है और न ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों से. इसकी प्राप्ति केवल शास्त्रों से ही हो सकती है. सभी धर्म सम्प्रदाय सामान्य रूप से इस बात को स्वीकार करते हैं. श्रीमद्भगवद्गीता भी कुछ संशोधन के साथ, इसे स्वीकार करती है. गीता श्रेय के परिज्ञान में, शास्त्र की प्रामाणिकता को स्वीकार करती है, लेकिन शास्त्र ही एक मात्र प्रमाण है, यह बात उसे स्वीकार्य नहीं है. शास्त्रों के साथ, शुद्ध चित्तवृत्ति तथा श्रेष्ठजनों का आचार भी श्रेय के ज्ञान में प्रमाण हैं. यह प्रमाणरूपा शुद्धचित्तवृत्ति बुद्धियोग से प्राप्त होती है, जिसका प्रतिपादन गीता के द्वितीय और तृतीय अध्यायों में हुआ है. यदि कदाचार के स्रोत - काम क्रोधादि के उपादान मानव व्यक्तित्व के अंग हैं, तो उन पर अनुशासन, की वृत्ति, सदाचार की प्रमाणिक समझ की यांत्रिकी भी उसी व्यक्तित्व का ही अंग होना चाहिए. यह बात तथ्यों के अधिक निकट है, क्योंकि जहां धर्म की कोई पुस्तकीय अवधारणा नहीं है, वहां भी धर्म है, वहां भी शुभाशुभ के विचार का सद्‌भाव देखा जा सकता है. पुनः जहां धर्मशास्त्र हैं, और तत्प्रतिपादित धर्म की समाज में मान्यता है, वहां कुटिल, विकृतवुद्धि वाले लोगों के द्वारा स्वार्थसिद्धि के लिए धर्मशास्त्रों की सुविधानुसार व्याख्या कोई नई बात नहीं है. अतः शास्त्रों की प्रामाणिक समझ और व्याख्यान के लिए ही नहीं, अपितु शास्त्रों के पूरक, धर्मचेतना के एक स्वतंत्र स्रोत के रूप में शुद्धान्तःकरण की प्रमाणिकता को स्वीकार करने से नहीं बचा जा सकता. गीता के प्रथम अध्याय में, जहां अर्जुन का भावाक्रान्त अन्तःकरण, उसकी धर्म-जिज्ञासा को, अस्तित्व की मांग के रूप में पहचान और प्रामाणिकता देता है, वहां

यही हेतु उसके युद्धोपरति चिन्तन को अप्रामाणिक बना रहा है. परिजन-मोह एक निसर्ग, स्वभावप्राप्त भाव है, और जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, तल्लब्ध श्रेयश्चिन्तन को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता. इसे समझने के लिए अर्जुन के युद्धोपरति-चिन्तन का विश्लेषण आवश्यक है. यह विश्लेषण ही अग्रिम एकक का विषय है.

■ ■ ■

पञ्चम एककः

'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' इति युद्धस्य अश्रेयस्करत्वोपपादनाय प्रवृत्तमनेकतर्काभास- भासितमर्जुनस्य युद्धोपरतिचिन्तनं पञ्चमैककस्य विचारबन्धः, चतुर्ग्रन्थिग्रथित-चतुर्दशश्लोकात्मकस्य. (श्लो. ३२-४५)

६+२+५+१

(क) न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।।३२।।
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।।३३।।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।।३४।।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।।३५।।
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।।३६।।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।।३७।।

और हे कृष्ण ! मैं विजयको नहीं चाहता और राज्य तथा सुखों को भी नहीं चाहता, हे गोविन्द ! हमें राज्यसे क्या प्रयोजन है अथवा भोगों से और जीवन से भी क्या प्रयोजन है, क्योंकि हम जिनके लिए राज्य, भोग और सुखादिक

चाहते हैं, वे ही यह सब धन और जीवनकी आशा को त्यागकर युद्ध में खड़े हैं. (इनमें) गुरुजन, ताऊ, चाचे, लड़के और वैसे ही दादा, मामा, ससुर, पोते, साले तथा और भी सम्बन्धी लोग हैं. इसलिए हे मधुसूदन ! मैं (इनके द्वारा) मार भी दिया जाऊं, अथवा तीनों लोकों का राज्य मुझे मिले, फिर भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता, फिर पृथिवी के लिए तो कहना ही क्या है. हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मार कर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी, इन आततायियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा. इससे हे माधव ! अपने बान्धव धृतराष्ट्रके पुत्रों को मारना हमारे लिए उचित नहीं हैं, क्योंकि अपने कुटुम्ब को मारकर हम कैसे सुखी होंगे

(ख)
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।।३८।।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।।३९।।

(यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए यह लोग कुल के नाशकृत दोष को और मित्रो के साथ विरोध करने में पाप को नहीं देखते हैं.परन्तु हे जनार्दन ! कुलके नाश करने से होते हुए दोष को जाननेवाले हम लोगोंको इस पाप से बचने के लिए क्यों नहीं विचार करना चाहिए.)

(ग)
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।।४०।।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ।।४१।।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।।४२।।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।।४३।।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।।४४।।

(क्योंकि कुलके नाश होने से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्म का नाश होने से संपूर्ण कुल को पाप दबा लेता है. तथा हे कृष्ण ! पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियां दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय ! स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है. और वह वर्णसंकर कुलघातियों को और कुल को नरक में ले जाने के लिए ही होता है. लोप हुई पिण्ड और जल की क्रियावाले इनके पितर लोग भी गिर जाते हैं. और इन वर्णसंकरकारक दोषों

से कुलघातियों के सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं. तथा हे जनार्दन ! नष्ट हुए कुलधर्मवाले मनुष्योंका अनन्त काल तक नरक में वास होता है, ऐसा हमने सुना है.)

(घ) अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।।४५।।

(अरे कितने दुःख की बात है कि हम लोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करने को तैयार हुए हैं, जो कि, राज्य और सुख के लोभ से अपने कुल को मारने के लिए उद्यत हुए हैं.)

(क) प्रस्तुतं युद्धम् अश्रेयस्करम् असुखत्वात् पापाश्रयत्वाच्च, इति युक्तिद्वयमाश्रयते युद्धोपरति-चिन्तनमर्जुनस्य। अत्र असुखत्वादिति युक्तेः विशदार्थः दीयते, पापाश्रयत्वं तु अतिरिक्तः हेतुर्विशदनिर्वचनाय अनुगतश्लोकेषु अग्रिमोपैककान्तर्गतेषु ।

(ख) पूर्वं सामान्यरूपेण संकेतितस्य पापस्य 'कुलक्षयकृतदोषरूपेण निर्धारणम्।

(ग) 'कुलक्षयकृतं दोषम्' इति पापस्य स्वरूपं विव्रियतेऽत्र, कार्यकारणरूपानर्थ-परम्परोद्घाटनमुखेन।

(घ) 'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिताः वयम्' इति निगमनम् उपर्युक्तस्य तर्कविस्तरस्य।

१.१ द्रष्टव्यमत्र अनुप्रसक्तिः उपर्युद्धृतगीताश्लोकानां व्यक्तानुमानावयवानाम्। तत्र 'न योत्स्य. ..' इति प्रतिज्ञावाक्यं पुरस्कृत्य 'सति स्वजनविनाशे श्रेयोऽभावात्' इति हेतुना 'यत्र यत्र स्वजनविनाशे सति श्रेयोऽभावस्तत्र तत्र कर्तव्यताकाभाव' इति व्याप्तिबलेन युद्धे कर्तव्यताकाभावः प्रतिपादितो वर्तते। इयं हि अर्जुनस्य प्रथमा युक्तिः युद्धादुपरतेः समर्थनाय ।

अत्र हेतुः 'सति स्वजनविनाशे श्रेयोऽभावात्' सोपाधिकः, स्वजनविनाशरूपोपाधेर् हिंसाऽकर्तव्यताकरूपसाध्यव्यापके सति 'मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति प्राणिमात्रवधे श्रेयोऽभावरूपहेत्वव्यापकत्वात्।

अयमाशयः -यदि युद्धे स्वजनानां विनाशो न भवेत्तदा तद् युद्धमपि श्रेयोवहं भवितुं शक्यमित्यश्रद्धेयोपपत्तिरनिवार्या अर्जुनस्य युद्धोपरतिचिन्तनस्य। न चैतादृशं युद्धमसम्भवम्। सशिखण्डिपाण्डवानामवधं प्रतिज्ञाय भीष्म एतादृश एव युद्धे प्रवर्तते। एतामेव सोपाधिकयुद्धनिवृत्तिं प्रत्याख्यायति भगवान् कृष्णः तस्याः ममत्वसंकुचितमनोवृत्ति-जन्यत्वात्, निरुपाधिक-करुणा-प्रवृत्ति-प्रतिबन्धकत्वाच्च।

यद्यर्जुनेनोक्तमभविष्यत् 'युद्धं न कर्तव्यं, हिंसामूलत्वात्' अथवा 'युद्धमश्रेयस्करं प्राणिवधे श्रेयोऽभावात्', तर्हि तस्य वाचोयुक्तिः नालभिष्यत् गीतायाः प्रस्थानस्थानगौरवम्। स्वजनक्षेमचिन्तानिष्ठश्रेयश्चिन्तनं स्वीयसंकुचिताधारवशादेव प्रस्थानत्वं (न तु पूर्वपक्षत्व) भजते, न केवलं गीताया अपि तु सर्वेषामेव विकासक्रमप्राप्तमानववादिप्राणि-मात्रहितवादिसमग्रसृष्टिक्षेमदर्शिदर्शनानां, लोकसंग्रहस्याऽधिकाधिकव्यापकाधारा-नुसन्धानपराणां चिन्तनधाराणामास्तिकनास्तिकानाम्।

१.२ अकर्तव्यं स्वजनविनाशहेतुकं युद्धम्, कुलक्षयकृतदोषानुविद्धत्वादिति अर्जुनस्य द्वितीया युक्तिः युद्धोपरति-समर्थने। अविच्छिन्नतामर्हति कुलपरम्परा इहामुत्रलोकव्यापिनी कुलजानां श्रेयस इति विश्वासो धार्मिकाणाम्। श्रुतिस्मृतिपुराणविहितपिण्डोदकादि-क्रियारूपकुलधर्माचरणेन कुलजनैर्निश्चीयत एषाविच्छिन्नता। धर्मविपर्यासाद् कुलागतवर्णसंकर एतामविच्छिन्नतां सन्देहास्पदतां नयति। अर्जुनस्य चिन्ताकुलितहृदय-मचिरं कल्पनाप्रवणतां भजते । प्रचीयमानसंविदसौ पश्यति कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्, तर्कयति अवश्यम्भावीनि परिणामानि चास्याः युद्धपरिणतेः । अत्र मित्रद्रोहे च पातकमिति उत्तरपादाभिहितस्य पूर्वपादपदार्थाङ्गता स्वीकर्तव्या । तथा च अष्टत्रिंशत्तमात् पंचचत्वारिंशत्पर्यन्तं सर्वे श्लोकाः कुलक्षयकृतं दोषमिति पदार्थस्यैव विवरणपराः। कुलक्षयदोषजनितपातकपरम्परा फलति वर्णसाङ्कर्ये. किन्तु धर्मनाशाधर्माभिवृद्धिजनितपापपरिणामो वर्णसङ्करः नान्तिमा परिणतिरुपक्षयरूपा। किन्तु स्वयं पापरूपो भजत्यसावनर्थपरम्पराहेतुताम्। तथा च पिण्डोदकादिक्रियास्वनधिकारत्वात्, तल्लोपतद्हेतुककुलधर्मोच्छेदतन्मूलक -पिण्डोदकादिक्रियोपजीविपितृपतन-नरकवास-रूपानर्थसंततिं जनयति वर्णसंकरः उभयलोकसंक्रामिकाम्। एवं प्रस्तौत्यर्जुनः कुलक्षयकृतदोषविवरणमतिरिक्तहेतुं युद्धोपरतिसमर्थने.

महाभारतपरिवेशो हि वर्णसाङ्कर्यसहिष्णुः। अतो महाभारते एवंजातीयकानां श्लोकानां सद्भावः क्रमागतधर्मस्याभ्युपगमो महाभारतधर्मचिन्तनस्य प्रस्थानबिन्दुरूपेणैवेति सांगत्यमाश्रयते। कुलविनाशहेतुके युद्धे कर्तव्यताकाभावः, कुलधर्मविनाशहेतुत्वादित्यु-परिनिर्दिष्टयुक्त्यां सोपाधिकहेतुभूतः कुलधर्मो ह्यत्र उपलक्षणं सर्वेषां समूहसम्बोधकानां, संस्थागतानां धर्माणाम्, कुलस्य न्यूनतमसंस्थाबन्धत्वात्.

२.१ अथाऽर्जुनप्रपञ्चितः कुलचेतनाश्रितसंस्थागतधर्मो गीतायाः प्रस्थानबिन्दुः। वस्तुतः

प्राणिमात्रसाधारणा मूलवृत्तिरूपा कुलचेतना प्रायेण सर्वेषामेव संस्थागतधर्मपन्थानामुद्गमः। अतो तदुपलक्षितः, न केवलं हिन्दुधर्मस्य संस्थागतपक्षविशेषः समालोचितो वर्तते गीतायाम्, अपि तु तन्मुखेन कुल-चेतना-संस्कार-निमित्त-स्व-पर-भेद-लक्षणाः सर्व एवाऽऽदिम-धर्मपन्थानो गीतासमालोचनविषयतां भजन्त एव ये चानतिक्रमणीया मन्यन्ते स्व-पर-धर्म-विभजनरेखाम्, विभक्तामेव पश्यन्ति मानवजातिं शश्वद्।

२.२ प्रस्थानबिन्दुसदृश्यां महाभारतीय-व्यापकाध्यात्मिकाधारव्यतिरेक्यां अत आध्यात्मिक-विकासनिरवकाशायां पृष्ठभूमौ जन्म अभवत् योरुपीयमानववादस्य धर्मनिरपेक्षस्य। प्रस्थानसादृश्यं भजते गीतामानववादयोः चिन्तनविकासः। किन्तु महाभारतसदृश-व्यापकधर्मचेतनाफलकस्याभावात् अनिवार्यतया धर्मनिरपेक्षतां भजते, प्रस्तुताग्रिम-सोपानोपक्षयलक्षणः योरुपीयमानववादः। तद्विलक्षणं, गीतायां प्रस्थानबिन्दुरूपेणोप-स्थितस्य संस्थागतकुलधर्मस्य व्यापकाध्यात्मिकाधारे समन्वयः कृतो दृश्यते, महाभारते तादृशाधारस्य सद्भावात्।

महाभारतदृष्ट्यालोचितो योरुपीयमानववादः कुलचेतनाया एव उदारसंस्करणम्, स्व-पर-भेद-दृष्ट्याश्रितत्वात्तस्य प्राणिमात्रहितव्यापकीभूतकरुणायाः प्रतिबन्धकत्वात्। संयोगवैचित्र्यात् मानववादस्य युद्धविरोधिचिन्तनमाधुनिकम् अर्जुनस्य कुलमोहजनितां युद्धोपरतिं तन्निष्ठचिन्तनसंरचनां निकटतयानुहरति, तस्याः परिमिततामपि सोपाधिकहेतुनिबन्धिनीम्। 'युद्धमश्रेयस्करं मानवविनाशहेतुत्वाद्' इति मानवावधिकारुणिकानां मानववादिनां युद्धचिन्तने न लक्ष्यते काऽपि चिन्ता प्रकृतिविनाशकारिणो निरीहप्राणिनः प्रति प्रतिक्षणक्रूराचाररूपस्य सभ्यमानवस्य अनवरतयुद्धस्यैकपक्षीयस्य। मानवाधिकारचर्चासततासक्तचित्तानां मनसि अन्येषामपि प्राणिनां केचन अधिकाराः सन्ति न वाऽस्मिन् भूमण्डले, इति प्रश्न एव नोदेति परव्यतिरेकिमानवावधिककारुणिकस्य मानववादस्य मूलास्थया एव बहिष्कृतत्त्वात्तस्य।

वस्तुतस्तु मानवस्यात्मकेन्द्रितं मानववादिचिन्तनम् आधुनिकोप-भोक्तृसंस्कृतेर्जनक्रम्। समर्थयतीदं अन्यप्राणिनामुत्पीडनं वधञ्च मानवहितसाधकम्। सोपाधिकं मानवादिपर्यावरणचिन्तनं मानवसौविध्याय प्रकृतेः पशूनाञ्च नियोजितदोहनापरपर्यायः। मानवस्योपभोगार्थमेव रचितेयं सृष्टिः, प्रकृतेः सौन्दर्यसम्पदा, प्राणिनां जीवनञ्च। आत्मसम्मोहितचिन्तनस्यैते बहवः प्रकाराः स्वपरभावोपादाननिमित्ताः

कुलचेतनाया एव क्रमशोऽधिकाधिकव्यापकोन्मेषाः। पूर्वापेक्षया सापेक्षश्रेयोभाजः, ते सर्वे निरुपाधिकं करुणाप्रसरं परं श्रेयोरूपं संकेतयन्ति सुनिश्चितम्। प्रसरो न निषेधः पूर्वसोपानस्य, तस्यात्यन्तिकास्पदाभियोगमेव निराकरोति, स्फुटयति च तस्य सापेक्षप्रयोजकतां निरुपाधिकश्रेयस्तत्त्वस्य परिज्ञानाय। प्रासङ्गिकैषा विचारसरणिः गीतायाः युद्धसम्बन्धिचिन्तनस्य सम्यङ्निरूपणाय।

३. युद्धं नाम न केवलं सैन्यव्यवहारविशेषः, अपि तु स्वाभ्युदयं पराभिभवञ्च यतमाना मानसिकी वृत्तिः काचिद्। स्व-पर-व्यवहार-हेतुभूत-ममत्वमेव संघर्षस्य युद्धस्य वा कारणं सनातनम्। यथा पूर्वमुक्तं धृतराष्ट्रस्य ममत्वं मूलकारणमासीत् महाभारतयुद्धस्य। ममत्वं यद् धार्तराष्ट्रान् युद्धे प्रवर्तयति तदेवाधुना युद्धोपरतिं जनयत्यर्जुनस्य मनसि। उपादानदोषदूषितत्वात्तस्योपरतिः श्रेयोभासरूपा नैव तात्त्विकश्रेयसे। संघर्षमुक्तसमाजस्य संरचनायै स्व-पर-व्यवहार-हेतुभूतस्याज्ञानजनितमोहस्यापाकरणमावश्यकम्। अतः सार्वभौमिककरुणाप्रतिबन्धकस्य निरुपाधिकाहिंसायामुपाधिभूतस्य अज्ञाननिमित्तमोहस्य निराकरणाय गीतोपदेशः तन्निष्ठयुद्धपलायनमपि बाधते। अस्मिन् विवेकेऽशिक्षिताः गीतया युद्धसमर्थनमाक्षिपन्ति विचारसाहसिकाः केचन। तदसत्, अतत्त्वदर्शिप्रतिभासबद्ध-धीजाड्यत्वजन्यत्वात्तस्य। गीता युद्धं न समर्थयति, केवलं सोपाधिकी युद्धोपरतिं निराकरोति निरुपाधिककरुणायाः परमश्रेयस्तत्त्वरूपेण प्रतिष्ठायै।

४. वस्तुतस्तु (क) स्वजनक्षेमानुरक्त-कुलमर्यादाश्रित-चिन्तनप्रस्थानम्, (ख) निरुपाधिक-श्रेयोभावनाया विस्तीर्यमाणार्थस्य चेतना, (ग) सम्बन्धनिरासमुखेन तस्या उपपत्तिः सर्वधर्मसमभाविसंस्कृतेश्चाविर्भावः। गीताया द्वन्द्वात्मकचिन्तनस्य त्रिपुट्येषा गीतामहा-भारतीय-समाज-दर्शनस्य मूलाधारः। पुनः तत्र धर्मरूपेण प्रवर्तितः परधर्मोच्छेदकानां आतंकः जनयति आत्मविमर्शं, तद्विना कर्तव्याचरणस्यानुपपन्नत्वात्। अभिग्रहनिराकरणा-नन्तरं, पुनः प्रारभ्यते यथानिरूपितद्वन्द्वात्मिका प्रक्रिया, इति रहस्यं गीतायां निरुपाधिककरुणागर्भितयुद्धविधानस्य।

एकक विमर्श :

'*युद्ध में स्वजनों को मारकर मैं कोई श्रेय नहीं देखता*' इस निश्चय के समर्थन में अनेक तर्काभासयुक्त, अर्जुन का युद्धोपरति-चिन्तन पंचम एकक के विचार का विषय है. १४ श्लोकों का यह एकक, चार सुसम्बद्ध उपैककों से मिलकर बना है. इनका क्रम निम्नवत् है —

(क) प्रस्तुत युद्ध अश्रेयस्कर है, 'असुखकर होने के कारण', और 'पापाश्रय होने के कारण'. अर्जुन का युद्धोपरति-चिन्तन इन दो तर्कों का सहारा लेता है. 'युद्ध असुखकर है', इस युक्ति का विशदार्थ है, श्लोक ३२ से ३५ तक का कथ्य. '*पापाश्रयत्व*' युद्धोपरति के लिए अतिरिक्त हेतु है, जिसका स्पष्टीकरण अनुगत श्लोकों में, अग्रिम उपैकक के अन्तर्गत किया गया है.

(ख) पूर्व श्लोक में सामान्यरूप से संकेतित पाप की '*कुलक्षयकृतदोष* रूप में पहचान.

(ग) *कुलक्षयकृतदोष* इस पापविशेष का स्वरूप बताते हैं. यह कार्यकारणसन्तानरूप जिस अनर्थपरम्परा को जन्म देता है, उसका उद्‌घाटन करते हुए, इस पापविशेष का विशदार्थ प्रस्तुत किया गया है.

(घ) '**अहो बतमहत्पापं कर्तुं व्यवसिताः वयम्**', यह निगमन उपर्युक्त तर्क-विस्तार का निगमन, अर्थात् निष्कर्षवाक्य है.

अर्जुन का युद्धोपरति-चिन्तन : सैद्धान्तिक आधार :

युद्ध से हटने के लिए अर्जुन, परस्पर सम्बद्ध, दो कारण देता है जो इस प्रकार हैं :

(१) प्रस्तुत युद्ध अश्रेयस्कर है, क्योंकि इसमें स्वजनों का, अपने ही बान्धवों का विनाश हो रहा है, जो असुखकर है (**निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन**)

(२) प्रस्तुत युद्ध अश्रेयस्कर है, क्योंकि इसमें जो स्वजन-विनाश होगा, वह सनातन कुलधर्म के विनाश, और तदनुक्रमित अनर्थपरम्परा को जन्म देगा (**पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैता-नाततायिनः**)

उक्त दोनों ही युक्तियां 'स्वजन-विनाश' को अश्रेयस्कर मानते हुए प्रवृत्त होती हैं. इनमें दूसरी युक्ति, स्वजनवध में ही अतिरिक्त हेतु 'पापाश्रयत्व' का उद्‌भावन करती है. इस प्रकार, स्वजनवध में कोई श्रेय न होने, और इसके पापानुविद्ध होने के कारण, कुटुम्ब का विनाश करानेवाला यह युद्ध, अश्रद्धेय है, प्रवृत्ति के योग्य नहीं है, ऐसा अर्जुन का विचार है.

मोटे तौर पर देखें तो अर्जुन ने कुछ भी गलत नहीं कहा है. वह अपने कुल बान्धवों को

मार कर, गुरुजनों के रक्त से रंजित राज्यसुख को भोगने के बजाय, भिक्षाटन करते हुए, जीवन यापन करने को श्रेयस्कर समझता है. यह एक त्याग का, आत्मोत्सर्ग का उच्च आदर्श है, जिसका हर धर्मप्राण व्यक्ति समर्थन करेगा. यह गीता भी कैसा धर्मग्रन्थ है, जो अर्जुन को, त्याग के इस उच्च आदर्श से, विचलित कर रहा है, और उसे जबरन युद्ध में ढकेल रहा है, जिसका उसका अन्तर्मन समर्थन नही करता. यह कैसा धर्मग्रन्थ है जो युद्ध की विभीषिका की भरपूर चेतना के बीच युद्ध का समर्थन कर रहा है. हिन्दुओं का यह कैसा प्रतिनिधि-शास्त्र है, जो उनके अहिंसा और सार्वभौमिक करुणा के सनातन मूल्यों के विरुद्ध, धर्म के नाम पर युद्ध को भड़का रहा है. ये सवाल जिन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता और हिन्दूधर्म पर ढेरों असहानुभूतिपूर्ण आलोचनाओं को जन्म दिया है, प्रबुद्ध हिन्दुओं के मन को भी उद्वेलित करते रहते हैं. इन सन्दर्भों को ध्यान में रखते हुए, अर्जुन के युद्धोपरति चिन्तन की निकट समीक्षा आवश्यक है.

१.१ युद्ध से हटने के लिए अर्जुन की पहली युक्ति : स्वजनविनाश का हेतु होने से युद्ध अश्रेयस्कर है : युक्ति का परीक्षण :

यहां, सुव्यक्त अनुमानावयववाले, ऊपर दिये एकक में, श्लोकों का प्रगाढ तार्किक सम्बन्ध ध्यान देने योग्य है. इनमें ' *न योत्स्ये* ' इस प्रतिज्ञावाक्य को सामने रखकर, *सति स्वजनविनाशे श्रेयोऽभावाद्* इस हेतु तथा' *यत्र यत्र स्वजनविनाशे सति श्रेयोभावस्तत्र तत्र कर्तव्यताकाभावः*', इस व्याप्ति की सहायता से युद्ध में कर्तव्यता के अभाव का प्रतिपादन किया गया है. यहां हेतु *सति स्वजनविनाशे श्रेयोऽभावात्*; सोपाधिक है, स्वजनसंयोगरूप उपाधि का हिंसाऽकर्तव्यताक-रूपसाध्य में व्यापक होते हुए ' *मा हिंस्यात्सर्वाभूतानि* ऐसे प्राणिमात्र के वध में श्रेयोऽभावरूप हेतु के अव्यापक होने के कारण.

भारतीय दर्शन की मान्यताओं के अनुसार हेतु का सोपाधिक होना एक युक्ति-दोष है. इसके लक्षण ''साध्यव्यापके सति हेत्वव्यापकत्वम्' का अर्जुन की युक्ति में उद्भावन करते हुए, उसके युद्धोपरति-चिन्तन के दोषपूर्ण स्वरूप को दिखाने का प्रयास किया गया है.

साधारण भाषा में आशय यह है - यदि युद्ध में स्वजनों का, अर्थात् अपने लोगों का विनाश न हो तो वह युद्ध श्रेयस्कर हो सकता है, ऐसा अश्रद्धेय निष्कर्ष अर्जुन के युद्धोपरति चिन्तन से

अनिवार्य रूप से प्राप्त हो रहा है. ऐसा युद्ध असंभव है, यह भी नहीं कहा जा सकता. शिखण्डी सहित पाण्डवों का वध न करने की प्रतिज्ञा करके भीष्म ऐसे ही एक युद्ध में प्रवृत्त हो रहे हैं. गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ऐसी ही सशर्त, सोपाधिक युद्धनिवृत्ति का प्रत्याख्यान करते हैं, क्योंकि यह निवृत्ति ममत्वसंकुचित मनोवृत्ति से उत्पन्न है, और निरुपाधिक करुणा की प्रतिबन्धक है.

यदि अर्जुन ने ऐसा कहा होता कि 'युद्ध नहीं करना चाहिए', उसके हिंसा-मूलक होने के कारण', अथवा युद्ध अश्रेयस्कर है, प्राणिवध में श्रेय के अभाव के कारण', तो उसका कथन सर्वथा निरापाद होता और ऐसी दशा में, उसे गीतोपदेश का निमित्त होने का अवसर नहीं मिल सकता था. स्वजननिष्ठ-श्रेयश्चिन्तन अपने संकुचित आधार के कारण न केवल गीता की, अपितु सभी विकास-क्रम-प्राप्त-मानववादी, प्रणिमात्र-हितवादी, समग्र-सृष्टिक्षेमदर्शी-दर्शनों का — लोकसंग्रह की अधिकाधिक व्यापकाधारानुसंधानपरा, आस्तिक, नास्तिक, सभी चिन्तनधाराओं का प्रस्थान बिन्दु बन जाता है.

१.२ अर्जुन की दूसरी युक्ति : स्वजन विनाश का पाप, उससे उत्पन्न अनर्थपरम्परा, उसकी कुलधर्मोच्छेदक परिणति :

इस लोक से परलोक तक व्याप्त कुलपरम्परा की अविच्छिन्नता की रक्षा होनी चाहिए, वंशजों की हितसाधक होने के कारण, ऐसा धार्मिकों का विश्वास है. कुलजनों के द्वारा श्रुतिस्मृतिविहितपिण्डोदकादिक्रियारूप कुल-धर्माचरण की सहायता से इस अविच्छिन्नता को सुनिश्चित किया जाता है. धर्म-विपर्यास के कारण, अथवा दैवयोग से, कुलागत वर्णसंकर इस अविच्छिन्नता को संदेहास्पद बनाता है. धर्मनाश, अधर्माभिवृद्धि से उत्पन्न पाप का परिणामरूप वर्णसंकर, उपक्षय की अन्तिम परिणति नहीं है, अपितु स्वयं पापरूप, वह एक लम्बी अनर्थपरम्परा को जन्म दे जाता है. पिण्डोदकादिक्रिया में अनधिकार होने के वर्णसंकर, उनके लोप, तद्हेतुक कुलधर्मोच्छेद, तन्मूलक पिण्डोदकादिक्रियोपजीवी, पितरों के पतन और नरकवासरूपा, उभयलोक-संक्रामिका अनर्थसंतति को जन्म देता है. धर्म-विपर्यास और वर्णसांकर्य का हेतु होने से, युद्ध इन समस्त अनर्थों की जड़ है, अतः त्याज्य है, यह अर्जुन के कथ्य का सारांश है.

महाभारत काल सामाजिक उथल पुथल का युग है. तदनुसार महाभारत का परिवेश

वर्णसांकर्य सहिष्णु है, जिसमें यत्र तत्र ऐसा चिन्तन बिखरा पड़ा है, जो वर्ण को जाति का समानार्थक न मानते हुए, उसे वैयक्तिक गुणों का वर्गीकृत निर्धारण मानता है. कहने का तात्पर्य यह है कि महाभारत में वर्णसांकर्य कोई समस्या नहीं है; उसमें इसको लेकर ऐसी किसी बेचैनी का एहसास नहीं है, जिसने गीता के अर्जुन को बुरी तरह उद्वेलित कर दिया है. गीता में वर्णसाङ्कर्य का पूर्वपक्षरूप में उल्लेख, न तो वर्णसाङ्कर्य को महिमामण्डित करने के लिए है, जैसा कि आचार्य रजनीश का मानना है, और न ही यह अर्जुन की चिन्ता का केन्द्रबिन्दु है. वस्तुतः, महाभारत में वर्णसाङ्कर्य को लेकर एक बेफिक्री का आलम है, जो वर्ण की लचीली व्याख्या और धर्म की व्यापक संस्थानिरपेक्ष समझ के बिना सम्भव नहीं है. गीता में अर्जुन की चिन्ता का विषय वर्ण-सांकर्य नहीं अपितु कुलधर्म है, धर्म का संस्थागत रूप. वर्णसङ्कर सन्तति के कारण कुलधर्म के विघटन का खतरा पैदा हो रहा है, इसलिए वर्णसाङ्कर्य चर्चा का विषय बना है. अर्जुन की कुलधर्म-चिन्ता, यहां उपलक्षण है, संस्थागत धर्म और उसके विघटन के भय कीं. कुलधर्म की रक्षा को विचार का विषय बनाते हुए, गीता में संस्थागतधर्म का प्रस्थानबिन्दु रूप में अभ्युपगम हुआ है, ताकि धर्म के व्यापक संस्थानिरपेक्ष स्वरूप का अनुसंधान हो सके.

अर्जुन के युद्धोपरति चिन्तन के निहितार्थ : गीतार्थ को समझने में उसकी प्रासंगिकता का निर्धारण :

युद्ध में स्वजन-विनाश, अन्ततः कुलधर्म के उच्छेद में पर्यवसित होगा, अतः युद्ध त्याज्य है, अर्जुन की इस युक्ति में कुलधर्म की रक्षा मुख्य चिन्ता बन कर सामने आती है. यह गीतोपदेश का पूर्वपक्ष है. वैसे इसे पूर्वपक्ष कहने की अपेक्षा 'प्रस्थान' कहना अधिक उचित होगा, क्योंकि गीता कुलधर्म की अवधारणा का खण्डन करने की बजाय, उसकी सीमित अर्थवत्ता का निदर्शन कराते हुए, आस्था के तात्त्विक स्वरूप के निर्वचन में प्रवृत्त होती है. यह पूर्वपक्ष (प्रस्थान) उस सैद्धान्तिक परिस्थिति को बताता है, जो गीतोपदेश में निमित्त है, और जो उसके प्रयोजन, औचित्य और धर्मचेतना के विकास के क्रम में उसकी तार्किक अपरिहार्यता को बताता है. अतः अर्जुन की कुलधर्म-चिन्ता को, उसके मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पहलुओं को ठीक-ठीक समझना, गीतार्थ को समझने की पहली और आधारभूत शर्त है.

कुल अर्थात् परिवार, समाज की न्यूनतम इकाई है, जो रक्त और संस्कारों की सम्मिलित विरासत पर आधारित है. इस विरासत के प्रति दायित्वबोध ही कुलधर्म है. इस प्रकार संस्थागत धर्म की प्राथमिक इकाई है कुलधर्म, और गीता के पूर्वपक्ष रूप में इसके निहितार्थ निम्नवत् हैं :

१. अर्जुन के युद्धोपरति-चिन्तन के द्वारा, एक पितृपूजक, संस्थागत-कुलधर्म, गीता के धर्मोपदेश का प्रस्थान बिन्दु बनता है. यतः कुलधर्म संस्थागत की न्यूनतम इकाई है, अतः अर्जुन की कुलधर्मचिन्ता से उपलक्षित, संसार के यावन्मात्र संस्थागत धर्म गीताधर्मचिन्तन का पूर्वपक्ष बनते है.

प्रस्थानरूप में कुलधर्म का चुनाव बहुत ही विचारपूर्वक किया गया है. संसार में जितने भी संस्थागत धर्म हैं, वे सभी स्व-पर-भाव-संक्रमित छोटे बडे कुलधर्म ही हैं, अर्थात् वे रक्तसम्बन्धाश्रित मानव-समूह को, एक जाति को सम्बोधित हैं. इस समानधर्मिता के कारण ऐकान्तिक अस्मिताभिलाषी हिन्दू-सम्प्रदायों सहित संसार के समस्त संस्थागतधर्म, मानववादपर्यन्त समस्त जातीय श्रेयश्चिन्तन, बिना अपवाद के गीतोपदेश के प्रस्थान-बिन्दु बनते हैं.

२. यतः गीतोपदेश, अर्जुन द्वारा प्रस्ताविक कुलधर्म के विघटन की समस्या को विचार या खण्डन का विषय नही बनाता, किन्तु इसकी सीमित अर्थवत्ता को दिखते हुए समीक्षा करते हुए, उपदेश के व्यापक सन्दर्भों के निर्वचन में प्रवृत्तहोता है, अतः इसको पूर्वपक्ष कहने की अपेक्षा प्रस्थान-बिन्दु कहना अधिक उचित होगा.

३. संस्थागत-धर्मों की अपर्याप्तता की समीक्षा, चिन्तन की दो सम्भावित दिशाओं की ओर संकेत करती है : (क) धर्म का पूर्णरूपेण निषेध (ख) धर्मपन्थों की संस्थागत विविधता में अन्तर्निहित सामान्य आध्यात्मिक आधार का अनुसन्धान. संस्थागत धर्मों की समीक्षा ने योरुप में मानववादी, धर्मनिरपेक्ष चिन्तन को जन्म दिया, जो धर्म को मानव के लिए अनावश्यक मानते हुए, उसे पूरी तरह अस्वीकार करता था. इससे सर्वथा भिन्न, महाभारत में, तत्सारभूत श्रीमद्भगवद्गीता में संस्थागत धर्मों की समीक्षा, उनका निषेध नहीं करती, बल्कि उनकी सीमित अर्थवत्ता को दिखाते हुए, उनके तात्त्विक अर्थ, आध्यात्म के अनुसंधान

का सोपान बनती है.

४. जातीय-मूल्यचिन्तन, गीता में दो दृष्टियों से आलोचना का विषय बना है :

(क) समूहपर्यवसायी नैतिकता की अपर्याप्तता

(ख) आस्था के जातीय कबीलाई रूपों में बलपूर्वक सार्वभौमिक प्रतिष्ठा की आकांक्षा के रूप में पलती आततायी वृत्ति (आतंकवाद)

५. आस्थारूप में पनपते आतंकवाद के सामने, पलायन का निषेध, और युद्ध का विधान.

संस्थागत धर्म की उक्त सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विसंगतियां, गीता के संदेश की द्वन्द्वात्मक संरचना — सार्वभौमिक करुणा की गोद में बैठे युद्ध के संदेश — में पूर्वपक्ष रूप में संग्रहीत हैं. गीतार्थ की प्रतिपत्ति में, अर्जुन की कुलधर्म-चिन्ता से प्राप्त, उक्त प्रासंगिक निहितार्थों को समझाने के लिए, संस्थागत धर्म के स्वरूप और समस्याओं को निकट से समझना आवश्यक है.

२.१ संस्थागत-धर्म का अर्थ : उसका संकुचित, जातिबद्धमूल्यबोध :

संस्थागत से तात्पर्य है पुस्तक (शास्त्र), कर्मकाण्ड और पुरोहित व्यवस्था के रूप में आस्था की मूर्त अभिव्यक्ति. अभिव्यक्ति के लिए एक सामान्य साधन (भाषा) तथा माध्यम की आवश्यकता होती है. समूह विशेष की सामान्य इतिहास चेतना और मूल्यबोध धर्म की सांस्थिक अभिव्यक्ति के लिए सामान्य मुहावरा जुटाते हैं, जबकि यह समूह स्वयं अभिव्यक्ति का माध्यम या उपादान बनता है. अतः संस्थागत धर्म किसी समूह विशेष को ही सम्बोधित होता है. परिवार, कबीला, जाति, समाज अथवा सृष्टि की कोई इकाई, यथा सम्पूर्ण मानव जाति — कोई भी समूह संस्थागत आस्था का सम्बोध्य हो सकता है. वैदिक आर्यधर्म हो या जूडा, ईसाई और इस्लाम-प्रभृति धर्म, सभी अपने परिच्छिन्न सम्बोधन के कारण, मानवजाति को स्व-पररूप में विभाजित करके देखते हैं. यतः ये प्राचीन धर्म सामान्य अर्थ में मानव को सम्बोधित न हो कर, मानवजाति के तत्तद् समूहों को सम्बोधित हैं, उनके मूल्यबोध और तदाश्रित व्यवस्थाओं में सार्वभौमिकता का अभाव होता है. इस्लाम-धर्म को उसकी मूलवादी प्रतिबद्धताओं के कारण, आस्था के संस्थागतरूप का

एक समग्र उदाहरण कहा जा सकता है. यह ध्यान देने की बात है कि मुस्लिम धर्मशास्त्रों कुरानशरीफ और हदीस में, मुस्लिम-भ्रातृभाव की बातें, उसको प्रेरित और पुष्ट करने वाले उपदेश तो सर्वत्र मिलेंगे, किन्तु मानवमात्र के भ्रातृभाव की बात, विश्वबान्धुत्व की अवधारणा को पुष्ट करने वाले उद्धरण मुश्किल से ही मिलेंगे. वस्तुतः संस्थागत का मूलाधार है, रक्त सम्बन्धाश्रित नैतिकता, जिसका सर्वाधिक स्पष्ट उदाहरण है, गीता में उल्लिखित 'कुलधर्म'. जब हम 'मुसलमान कौम', 'सिख कौम' या 'यहूदी कौम' की बात करते हैं, तो इन प्रयोगों में धर्म की जातीय, रक्तसम्बन्ध-मूलक अवधारणा को सहज पहचाना जा सकता है. संस्थागत धर्म और उसकी मूल्यचेतना के इस जैव-मनोवैज्ञानिक (bio-psychological) पक्ष को समझने का अर्थ है, नैतिक-मूल्य रूप में उनकी संदेहास्पदता के आधारों को समझना, अर्थात् इस बात को समझना कि क्यों गीता में 'कुलधर्म-चिन्ता' को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है.

व्यक्ति में अपनी पहचान की समझ स्व-पर-भाव के विकास के रूप में बनती है. स्व-भाव अस्तित्वमोह को तथा पर-भाव भय को जन्म देता है. इस प्रकार आत्म-सुरक्षा और भयप्रतिकार के दो आधारभूत मूल्य, हर प्राणी में जैविक आवश्यकता के रूप में प्राप्त होते हैं. माता-पिता के स्नेहिल संरक्षण में पलते हुए बालक रक्तसम्बन्ध में सुरक्षा के प्रथम आश्वासन से परिचित होता है. उसमें इस प्रथम अनुभव की दीक्षा इतनी गहरी होती है कि रक्तसम्बन्धों में आजीवन सुरक्षा की तलाश उसकी सहज, अविचारित वृत्ति बन जाती है. सुरक्षा के लिए वह रक्तसम्बन्धाश्रित छोटे-बड़े समूहों के साथ तादात्म्य भाव स्थापित करता है, जो क्रमशः परिवार, कुल, कबीला, कौम या जाति जैसी इकाइयों को व्यावहारिक औचित्य देता है. इस परिकल्पित तादात्म्य-भाव के कारण, उक्त समूह, व्यक्ति के स्व-परभाव तथा तन्निष्ठ मूल्यबोध के सहज अधिष्ठान बन जाते हैं. संक्षेप में, ये रक्तसम्बन्धाश्रित समूह, छोटे और बड़े, परिवार से लेकर मानवजाति-पर्यन्त, जीवभूत-स्व-परभाव तथा तदाश्रित आत्मसुरक्षा एवं भयप्रतिकार के आदिम जीवन-मूल्यों को पूरी जागरूकता के साथ अविकल रूप में संजोए रहते हैं. मूल्यबोध के इस अदिम संग्रह को हम कुलधर्म, कबीलाई धर्म, संस्थागतधर्म – किसी भी नाम से सम्बोधित करें, अभिधेय अर्थ को ले कर कोई संदेह नही हो सकता. इस अभिधेय अर्थात् रक्तसम्बन्धाश्रित तादात्म्यभाव (मोह) तथा तन्निष्ठ स्व-परभाव को गीता के समारम्भश्लोक 'मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय' में प्रस्तुत करते हुए, अर्जुन के युद्धोपरति-चिन्तन में हेतुभूत स्वजन-विनाश, तन्निरूपित-कुलधर्मचिन्ता,

तन्निष्ठ-सोपाधिक-मूल्य-बोध का अवतरण करते हैं, ताकि उसकी अपर्याप्तता को दिखाते हुए, गीतोपदेश में मूल्यबोध के प्रमाणिक आधारों का अनुसन्धान किया जा सके. अर्जुन युद्ध से विरत होना चाहते हैं, इसलिए नही कि हिंसा मूलतः अनैतिक है, बल्कि इसलिए कि इससे अपने लोगों का विनाश होगा, कुल का विनाश होगा, और कुल के विनाश से अन्ततः कुलधर्म का विनाश होगा. अर्जुन ने यदि भगवान् से यह कहा होता कि युद्ध अश्रेयस्कर है या हिंसा अनैतिक है, इसलिए वह युद्ध नहीं करना चाहता, तो यह स्थल गीतोपदेश का प्रस्थानबिन्दु नही बन सकता था. किन्तु अर्जुन तो युद्ध से इसलिए हटना चाहता है, क्योंकि इसमें अपने लोगों का विनाश हो रहा है, अपनों के विनाश से कुल का और अन्ततः तदाश्रित कुलधर्म का विनाश हो जाएगा. निष्कर्ष यह कि यदि युद्ध में अपनों का विनाश न होता तो अर्जुन को युद्ध करने में कोई आपत्ति न होती. विवेच्य विषय यहां युद्ध करने न करने का निर्णय नही, बल्कि वह मूल्यबोध है, जिसे निर्णय के समर्थन में अर्जुन प्रस्तुत करते हैं. अपने पराए की भेद-चेतना पर आधारित यह मूल्यबोध सोपाधिक है, अतात्त्विक है, और इस आलोच्यता के कारण यह गीतोपदेश का प्रवृत्तिहेतु या प्रस्थान-बिन्दु बन जाता है. इस बात को सामान्यतया श्रीमद्भगवद्गीता के विद्वान् भाष्यकार, अर्जुन का 'मोह' या 'अज्ञान' जैसे पारिभाषिक शब्दों से कह कर आगे बढ़ जाते हैं. इससे सुनने वाले को कुछ भी पल्ले नही पड़ने वाला, क्योंकि यहां अर्थ की अनेक पर्तें हैं, जिनका खुलासा होना स्पष्ट समझ के लिए आवश्यक है. यहां रक्तसम्बन्धों का एक यथार्थ है, जिसे कुल या स्वजन जैसे शब्दों से कहा गया है. इन सम्बन्धों में तादात्म्यभाव, उससे उत्पन्न स्व-पर- भेद, तज्जनित सोपाधिक-मूल्यबोध और तज्जनित है अर्जुन का युद्ध से हटने का निर्णय. इस अर्थ-संभार के सुसम्बद्ध क्रम में समझ पैदा होते ही न केवल सुव्यक्त कबीलाई पृष्ठभूमि के धर्म, ईसाइयत और इस्लाम, अपितु स्वयं हिन्दुओं के बहुत से सम्प्रदाय और व्यवस्थाएं, एक साथ गीता के पूर्वपक्ष की कोटि में आ जाते हैं. इतना ही नही, आज के दलित और पिछड़ों के नाम पर हो रहे प्रतिक्रियामूलक सामाजिक-राजनैतिक- चिन्तन, जनतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत, राजनीति में दिनानुदिन पनपता वंशवाद भी, उपलक्षणया गीता का पूर्वपक्ष बनते हुए, गीता की आलोचना की परिधि में आ जाते हैं. वर्तमान भारत के बारे में यह एक दुःखद सच्चाई है कि यहां के धर्म-निरपेक्ष परिवेश में, धार्मिक-आस्था से प्राप्त मूल्यबोध का क्षरण होने के साथ, अपनों की, अपने परिवार और जाति की हितचिन्ता को, एक परम पुरुषार्थ के रूप में, या यों कहिए, एक अनन्य राष्ट्रीय

आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित किया जा चुका है. सम्प्रदायवाद, इसके अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक पोषक रूप, जातिवाद, परिवारवाद, और वंशवाद – इन सब के बीच एक सामान्य तत्त्व है, स्व-परभेदाश्रित अतः सोपाधिक मूल्यबोध, जो साक्षात् अथवा परोक्षरूप में रक्तसम्बन्धाश्रित तादात्म्यभाव से प्राप्त है. अतः अर्जुन की कुलधर्मचिन्ता के द्वारा उपलक्षित, उक्त सभी समूहसम्बोधक सिद्धान्त, गीतोपदेश के पूर्वपक्ष की कोटि में आते हैं.

२.२ मानववाद : जातीय-मूल्यचिन्तन की सीमा : गीता की दृष्टि से समीक्षा :

संसार के संस्थागतधर्म, अन्योन्य-व्यतिरेकी, जातिप्रतिबद्ध, सोपाधिक मूल्यविधान हैं. अतः वे अलग अलग अथवा समन्वित रूप से, सार्वभौमिक जीवन-मूल्यों के विधायक नहीं हो सकते. धर्म की ओर से निराश योरुप एक सामान्य, सार्वभौमिक मूल्यसंहिता की तलाश में मानवकेंद्रित चिन्तन की ओर उन्मुख हुआ. मानववाद नाम से प्रसिद्ध इस चिन्तनधारा के दो मूल सिद्धान्त हैं : (१) धर्म के मार्गदर्शन को सीमित और अपर्याप्त मानते हुए इसका प्रत्याख्यान, तथा (२) मानव की, मूल्यचेतना के प्रामाणिक आधार या स्रोत के रूप में स्वीकृति.

यहां खास बात ध्यान देने की यह है कि संस्थागत-धर्म की समीक्षा, उसकी अपर्याप्तता की चेतना, गीता-धर्म की ही भांति, मानववादी चिन्तन का प्रस्थान बिन्दु है. योरुप की धर्म की समझ, यहूदी धर्म, ईसाइयत तथा इस्लाम के दायरे तक सीमित थी, और यह सभी धर्म अपने संस्थागत आधारों में नितान्त विजड़ित, निरपेक्ष, और इस सीमा तक अन्तर्मुखी थे कि उद्‌भव की समान ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के वाबजूद वे एक व्यापक, सामान्य धर्मचेतना को जन्म नहीं दे सके. धर्म की इससे भिन्न, व्यापक सम्भावनाओं की कोई समझ या उसका निदर्शक कोई उदाहरण योरुप के सामने नहीं था. अतः गीता के साथ प्रस्थान-सादृश्य के वाबजूद, धर्म के महाभारतेतिहास जैसे विस्तृत विवरण के अभाव में, तथ्यों की संकुचित, आध्यात्मिक विकास के लिए निरवकाश पृष्ठभूमि में, जन्म हुआ योरुप के धर्मनिरपेक्ष मानववाद का.

गीता की दृष्टि से, मानववाद दो आधारों पर आलोचना का विषय बनता है. पहला तो यह कि धर्म का निषेध या अनास्था, संस्थागतधर्म की समीक्षा का अनिवार्य निष्कर्ष नहीं हो सकता. संस्थागत की अपर्याप्तता की चेतना, आस्था के व्यापक, आध्यात्मिक आधार के अनुसंधान की ओर ले जा सकती है, इस सम्भावना का आभास मानववादी चिन्तन को नहीं था. यतः तथ्यों

की अपर्याप्त जानकारी इसमें हेतु थी, इस त्रुटि की उपेक्षा की जा सकती है.

मानववाद का दूसरा दोष है, उसका अपर्याप्त मूल्यबोध. मानववाद के सिद्धान्त पक्ष पर निकट से विचार करें तो यह 'जातीयचेतना' का, गीता की भाषा में 'कुलचेतना' का ही एक उदार संस्करण प्रतीत होता है, स्व-पर-भेद-दृष्टि पर आधारित होने के कारण, तथा प्राणिमात्र के हित में व्यापकीभूत-करुणाका प्रतिबन्धक होने के कारण. अन्य प्रजातियों की तुलना में अधिक विकसित होते हुए भी, इस सृष्टि में मानव स्वयं एक जाति है ; अतः मानव को केन्द्र में रखकर किया गया चिन्तन, जातीय-संकोच की सीमाओं का अतिक्रमण नही कर सकता. अतः गीताधर्मदर्शन की दृष्टि में, 'कुलधर्म' एवं तदुपलक्षित संस्थागत धर्मों में जो दोष हैं, मानववादी मूल्यचिन्तन उनसे मुक्त नही है. अपेक्षाकृत व्यापक सन्दर्भ को सम्बोधित होने के कारण, निःसंदेह मानववाद, इस्लाम, ईसाईयत और जूडा प्रभृति धर्मों की तुलना में, अधिक उदात्त, अधिक प्रामाणिक और युक्तिसंगत आदर्श है, इसमें कोई सन्देह नही. योरुप को जब से अपनी मानववादी विरासत का ज्ञान हुआ है, ईसाईधर्म वहां केवल एक औपचारिकता बन कर रह गया है, और इस्लामधर्म सर्वत्र बहुत ही बेचैन और भयभीत, क्योंकि इस्लाम में मुसलमान की अवधारणा है, काफिर की अवधारणा है, किन्तु इंसान की कोई अवधारणा नही है. किन्तु जब गीता की दृष्टि से विचार करते हैं तो एक आदर्श के रूप में मानववाद उतना ही संकुचित, उतना ही छोटा और स्वार्थी प्रतीत होता है, जितना इस्लाम प्रभृति संस्थागत धर्म, मानववाद की तुलना में. यह बात मानववादी चिन्तन भंगिमाओं से सहज स्पष्ट हो जाती है. यह केवल संयोग नही है कि मानववाद का युद्धविरोधी चिन्तन, अर्जुन के कुलमोहजनित युद्धोपरति-चिन्तन का, निकट से अनुसरण करता है, उसकी हेतुभूत सोपाधिक मूल्यचेतना का भी. 'युद्ध अश्रेयस्कर है, मानव के विनाश का हेतु होने से', मानव ही जिनकी करुणा की आखिरी हद है, उन मानववादियों के इस युद्धविरोधी-चिन्तन में, प्रकृतिविध्वंसक, निरीहप्राणियों के प्रति प्रतिक्षण क्रूराचाररूप, सभ्य मानव द्वारा चलाए जा रहे, एकपक्षीय, अविराम युद्ध की कोई चिन्ता नही झलकती. मानव के अलावा इस धरती पर जो अन्य प्राणी रहते हैं, मानवाधिकारचर्चा में सततासक्तचित्त, इन मानववादियों के मन में यह सवाल कभी नही उठता कि मानवेतर अन्य प्राणियों के भी इस धरती पर कोई अधिकार हैं, क्योंकि मानववाद की जो परव्यतिरेकी, मानवावधिकारुणिक जो मूल आस्था है, उसमें इस प्रकार के प्रश्न के लिए कोई अवकाश नही है.

वस्तुतः मानव का आत्मकेन्द्रित मानववादी-चिन्तन, आधुनिक उपभोक्ता संस्कृति का जनक है. यह मानव की हितसिद्धि के लिए अन्य प्राणियों के उत्पीड़न और वध का समर्थन करता है. स्वार्थनिष्ठ, सोपाधिक, एवं एकपक्षीय, मानववादी पर्यावरणचिन्तन, मानव के सुख और सुविधा के लिए, प्रकृति और उसकी वन्यसम्पदा के नियोजित दोहन का अपर पर्याय है. कबीलाई धर्मविधानों से लेकर मानववाद पर्यन्त, आत्मसम्मोहित चिन्तन के ये बहुत से प्रकार, वस्तुतः स्व-पर-भावोपादाननिमित्त, कुलचेतना के ही क्रमशः अधिकाधिक व्यापक उन्मेष हैं. पूर्व की अपेक्षा से अधिक श्रेयस्पद परभाव के क्रम में व्यवस्थित, वे सभी करुणा के निरुपाधिक प्रसार को परम श्रेय के रूप में कल्पित करते हैं. प्रसार पूर्व सोपान का निषेध नहीं करता, वह केवल उसके आत्यन्तिकास्पदाभियोग का, उसके परम श्रेय होने के दावे का निराकरण करता है, साथ ही निरुपाधिक श्रेयस्तत्त्व के परिज्ञान में उसकी सापेक्ष प्रायोजकता को रेखांकित करता है. संस्थागतधर्म, अपने आत्यन्तिक अभिनिवेश में न केवल सैद्धान्तिक दृष्ट्या अप्रामाणिक है, अपितु एतज्जनित अस्वस्थ मनोग्रन्थि के कारण मानवता के लिए बहुत बड़ा खतरा हैं.

३. श्रीमद्भगवद्गीता में युद्ध का विधान : उसकी अपरिहार्य परिस्थिति और नैतिकता :

परिच्छिन्न अस्तित्व की भयग्रन्थि : युद्ध का मूल कारण : यतः परव्यतिरेक, प्रत्येक समूह-चेतना का अंग है, तद्हेतुक असुरक्षा और भय, इसमें अर्थतः प्राप्त हैं. अर्जुन के लिए कुल के विनाश का अर्थ केवल आत्मीय परिजनों की हानि नही, अपितु उस धर्म का विनाश है, जो उस कुल को आधार बना कर टिका है. आस्था का संस्थागत स्वरूप, उसकी मूल्यव्यवस्था, लोक-परलोक को जोड़ते कर्मकाण्डों के मूर्तवितान, यह सब तभी तक अर्थवान् हैं, जब तक कि उनको अपनी श्रद्धा के द्वारा अर्थवान् बनाता मानवीय अधिष्ठान अक्षत है. धर्म, कुल का हो या कबीले का, अथवा किसी और बड़े समुदाय का, परिच्छिन्न अधिष्ठान में स्वरूप से प्राप्त असुरक्षा और भय के भाव तदुपहित धर्म के अंग होते हैं. अर्जुन की चिन्ता में इस भय को स्पष्ट देखा जा सकता है.

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।।३८।।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।।४०।।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।।४४।।

भय जातीय अस्मिता का स्थायीभाव है, और इसे जातीय पहचान से जुड़े सभी धर्मों की मूल्यव्यवस्था में आसानी से देखा जा सकता है. किन्तु इसका सबसे अच्छा निदर्शन इस्लाम धर्म के सिद्धान्त और व्यवहार में होता है, जो धर्म की जातीय प्रतिबद्धता का एक समग्र उदाहरण है. मुसलमान को भयमुक्त करने के लिए इस देश का विभाजन हुआ. लेकिन जहां तक इस्लाम धर्म की बात है, वह न हिन्दुस्तान में आश्वस्त है न पाकिस्तान में, और न ही अन्यत्र कहीं. जहां मुसलमान संख्या में कम हैं, वहां उन्हें अल्पसंख्यकाधिकारों के रूप में संवैधानिक संरक्षण चाहिए, और जहां वे बहुमत में हैं, वहां इस्लामी राज चाहिए. मुसलमान अल्पसंख्यक हैं या बहुसंख्यक, इससे कोई अन्तर नही पड़ता, क्योंकि भय का हेतु राजनैतिक नही बल्कि धर्मशास्त्रीय है. भय और संदेह यहां बहुसंख्यक से नही बल्कि अपने अन्दर छिपे इंसान से हैं, जिसकी अन्तर्निहित बौद्धिक क्षमता और उदारवृत्ति, समूह को सम्बोधित संस्थागत मूल्यविधान की संकुचित प्रतिबद्धताओं को लेकर सवाल करती रहती है. यह भय वैज्ञनिक चिन्तन और मानववाद से है, जो उसकी कबीलाई कुण्ठा को उजागर करते हैं, यह भय उसकी स्थित्यात्मक, संवादविमुख, व्यक्ति और परिवेशविद्वेषी आस्था के कारण है, जो समस्त बौद्धिक और धार्मिक परिवेश के विरुद्ध अपने को परिभाषित करती है. जहां तक इस्लाम धर्म के कबीलाई स्वरूप की बात है, इस बारे में कोई सन्देह नही होना चाहिए. स्वयं कुरान-शरीफ इसमें प्रमाण है कि इसका अवतरण, अरब कौम के उद्धार के लिए हुआ था. (कुरान, सूरः शुअरा आ. १९४-१९८, सूरः कसस, आ. ४७). अतः यहां संस्थागत का विवेचन, मुख्यतया, इस्लामधर्म को सामने रखकर किया जा रहा है.

संस्थागत धर्म के लिए दो तरफ से भय की सम्भावना बनती है. वैयक्तिक-विवेक एवं तज्जन्य आन्तरिक वैमत्य के कारण विघटन का भय, तथा वैज्ञानिक परिवेश तथा अन्य धर्मों द्वारा समूह-सम्बोधक आस्था की सार्वभौमिक आकांक्षा के औचित्य को लेकर उठती जिज्ञाओं के कारण अनास्था का भय. भय की इस द्विधा चेतना पर आधारित, इस्लाम का मूल्यचिन्तन, प्रतिकार रूप

में क्रमशः मूलवाद और जेहाद का विधान करता है. मूलवाद का अर्थ है, शास्त्र की विवेक-निरपेक्ष स्थापना. इसका उद्देश्य है, आस्था के विवेकपूर्ण, परिवेशसहिष्णु व्याख्यानों को प्रभावी ढंग से रोकना, और जो सामने आ चुके हैं, उनका निराकरण करना. इसमें साधन रूप में जेहाद का विधान है, जो प्रत्येक मुसलमान पर फर्ज है. जेहाद का अर्थ है, आन्तरिक और बाह्य, वैमत्य के बलपूर्वक निराकरण, और इस्लामी राज के लिए सशस्त्र संघर्ष का विधान. जहां सातवें आसमान पर बैठा खुदा, दूर धरती पर पड़ती अपनी परछाइयों से घबराता है,,भावुक इंसान द्वारा प्यार से बनाए अपने चित्रों और मूर्तियों को देख कर बेचैन हो उठता है, डरता है कि कही ये मेरे पूजे जाने के एकाधिकार में हिस्सा न बटा लें, और इस हद तक डर जाता है कि अपने भक्तों को हुक्म दे डालता है कि जहां भी मूर्तियां देखो, उन्हें तोड़ डालो. अपनी इबादत के हक की ऐसी रखवाली, अपने को पुजवाने के एकाधिकार में उन्माद की हदों को छूती यह आसक्ति, अगर किसी इंसान में हो तो उसे मनोरोगी ही कहा जाएगा. जब खुदा के ये हाल हैं तो बन्दों का क्या कहना. इस्लामधर्म, अपने खुदा की अधिकारासक्ति और भयग्रन्थि का मूर्तिमान् रूप है, इस धरती पर. कुरानशरीफ को पढें और इस्लामधर्म के इतिहास को देखें, तो यह सहज स्पष्ट हो जाएगा कि इस धरती के साथ, इस्लाम और उसके खुदा का एक ही रिश्ता है, और वह है, परस्पर डरने-डराने का रिश्ता, उभयपक्षीय भय और अविश्वास का रिश्ता. विधर्मियों के साथ, बुद्धिवादी परिवेश और वैमत्य के साथ, समझ और सौहार्द के रिश्ते की ललक न खुदा में है, न इस्लाम धर्म में. मूलवाद और जेहाद के उग्र-प्रतिविधान वस्तुतः अनास्था में अन्तर्निविष्ट भयग्रन्थि की ही परिणति हैं. समूहोद्बोधक, कबीलाई धर्मों की, अर्जुन की 'कुलधर्मचिन्ता' के द्वारा पूर्वपक्ष रूप में उपलक्षित, इस भयमूलक नैतिकता की सीमित प्रायोजकता और असीमित महत्त्वाकांक्षा, मानवजाति के लिए उसकी आततायी परिणति की भयावह सम्भावना की चेतना में, श्रीमद्भगवद्गीता, प्राणिमात्र के लिए करुणा और निर्भयता का संदेश देती है :

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।। गी.१२.१५

(जिससे कोई भी प्राणी उद्वेग(भय) को प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं किसी भी जीव के कारण उद्विग्न नहीं होता, तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेगादि से मुक्त है, वह भक्त मेरे लिए प्रिय है.)

संस्थागत धर्म की सीमित अर्थवत्ता और असीमित आकांक्षा में पलती आततायीवृत्ति (आतंकवाद) : युद्ध की निर्विकल्प परिस्थिति और औचित्य :

संस्थागत आस्था में सार्वभौमिकता की समस्या धर्मदर्शन की एक मूलभूत समस्या है. देश-काल तथा सांस्कृतिक-परिवेश-विशेष में आविर्भूत धर्म-विशेष के शास्त्रग्रन्थ, उनमें उपदिष्ट कर्मकाण्ड और जीवन-शैली को सारे संसार के लिए, हर काल के लिए, ईश्वरीय संदेश के रूप में कैसे स्वीकार किया जा सकता है? संस्थागत में सार्वभौमिक आकांक्षा, एक स्पष्ट विरुद्धार्थग्रन्थि को जन्म देती है. यह सार्वभौमिक अर्थ, परिच्छिन्न संस्थागत में अर्थतः प्रतिषिद्ध है, उसकी इतिहास-चेतना और समूहनिष्ठा के कारण. संस्थागत की सार्वभौमिक महत्त्वाकांक्षा को सैद्धान्तिक आधार और औचित्य प्रदान करने का कार्य करते हैं, धर्मग्रन्थ या शास्त्र जो संस्थागत की मूर्त-व्यवस्थाओं को दिव्य-अर्थ व शाश्वत प्रामाणिकता प्रदान करते हैं. तात्पर्य यह कि साम्प्रदायिक शास्त्र, समाज विशेष को, उसकी परम्पराओं, रीति-रिवाजों और मान्यताओं सहित, उसकी सम्पूर्ण सांस्कृतिक अस्मिता को उपादान बनाकर प्रवृत्त होते हैं, और उनसे प्राप्त व्यवस्था का अपेक्षित परिष्कार और नियमन करते हुए, उन्हें सार्वकालिक संहिता रूप में प्रस्तुत करते है. इस प्रकार स्वपरिभाषित सामाजिक ऐतिहासिक तत्त्वों को न केवल एक दिव्य-अर्थ प्रदान करते हैं, अपितु उन्हें एक सार्वभौमिक, त्रैकालिक सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं. देश-काल-परिच्छिन्न सामाजिक उपादान, तथा तन्नियामक पुस्तकीय संहिता (दिव्यग्रन्थ) की सार्वभौमिक आकांक्षा के बीच का अन्तर, तदाश्रित धर्म में एक चिरन्तन दबाव-केन्द्र का निर्माण करता है, जो साम्प्रदायिक आस्था में क्रमशः स्वेतर-आभिमुख्य, तथा उसमें नीचे दिए अनुसार दो प्रकार की प्रतिक्रियाओं को जन्म दे सकती है :

(क) अपने से भिन्न, धार्मिक, बौद्धिक, एवं सामाजिक परिवेश की मान्यता तथा उसके दवाब में, स्वरूपानुसंधान, जो स्वेतर के साथ समझ के उपादानों को आत्मसात् करते हुए, अपने स्वरूप में निहित सार्वभौमिकता को उजागर कर सके.

(ख) अपने पुस्तकीय स्वरूप की, ईश्वर के अन्तिम और एकमात्र प्रामाणिक उपदेश के रूप में पुष्टि, तथा सम्पूर्ण स्वेतर-परिवेश को, ईश्वर के विरुद्ध एक पापपूर्ण अभियान मानते हुए, न केवल उसकी अमान्यता, अपितु उसके विरुद्ध संघर्ष का, एक धार्मिक कर्तव्य रूप में विधान.

इस्लाम धर्म, संस्थागत में सार्वभौमिकता की तलाश के इस दूसरे प्रकार (ख) का एक सम्पूर्ण उदाहरण है. इसके पवित्र धर्मविधान में स्पष्ट रूप से पहचाने जा सकने वाली ठेठ कबीलाई परिवेश की व्यवस्थाएं — बहुविवाह, त्रिवाचा तलाक, गुलामी प्रथा, दण्डविधान में कोड़े मारने, हाथ काटने तथा पत्थरों से मार कर प्राणदण्ड के प्रावधान आदि, वर्तमान युग के लिए सर्वथा अस्वीकार्य व्यवस्थाएं — इस्लाम के लिए उतनी ही पवित्र और अपरिहार्य हैं, जितनी उसकी उदात्त नैतिक प्रतिबद्धताएं. इस सम्पूर्ण पुस्तकीय बोझ के लिए सार्वभौमिकता की तलाश का अर्थ सार्वभौमिक प्रभुसत्ता के अतिरिक्त और कुछ हो ही नही सकता. सार्वभौमिकता की सिद्धि के बौद्धिक साधनों की सहायता इस्लाम में दो कारणों से स्वीकार्य नहीं हो सकती. प्रथम, इसलिए कि इनके द्वारा प्रस्तुत व्याख्यान, मूल से अलग ले जाते हैं, और दूसरा, इसलिए कि वे अस्था की संस्थागत व्यवस्था में, आन्तरिक वैमत्य और बिखराव को जन्म देते हैं. अतः उसके विघटनकारी प्रभाव से 'दीन' को स्वच्छ रखने के लिए इस्लाम में मूलवादी आन्दोलनों का चलन है. इनका उद्देश्य होता है, आस्था में बुद्धि द्वारा किए गए हस्तक्षेप का रेचन. मूलवाद, मुख्यतः आंतरिक वैमत्य से निपटने के लिए है, जब कि बाह्य वैमत्य से, अपने से इतर धर्मो तथा विचारधाराओं की चुनौती से मुकाबले के लिए इस्लाम में शास्त्रार्थ या बौद्धिक संवाद की नही बल्कि 'जेहाद' (धर्मयुद्ध) की व्यवस्था है. इस्लाम से भिन्न आस्था 'कुफ्र' है, और उससे लड़ना ही 'जिहाद' है. यह जेहाद हर मुसलमान पर फर्ज है. जहां मुसलमान कमजोर हैं, संख्या में कम हैं, वहां जेहाद, वाचिक हो सकता है, और यह भी सम्भव न होने पर, मानसिक विद्वेष के रूप में जिहाद किया जा सकता है. किन्तु जहां मुसलमान शक्तिशाली और संख्या में अधिक हैं, वहां, कुफ्र को बलपूर्वक मिटाकर इस्लामी राज (दारुल इस्लाम) की स्थापना ही जेहाद का लक्ष्य है. संसार में, स्वेच्छा से या बलपूर्वक, इस्लाम की निर्द्वन्द्व स्थापना ही इस्लाम में सार्वभौमिकता का अर्थ है.

सभी धर्मों में उपरि-निदर्शित सार्वभौमिकता के दो आयाम तथा तज्जनित व्यवहार - मूलवाद, तथा उदार व्याख्यान के सैद्धान्तिक आधार खोजे जा सकते हैं, किन्तु उनमें से प्रत्येक की चिन्तनसंरचना इनमें से किसी एक कोटि की ओर सहज झुकाव रखती है. इस्लाम का जो स्वरूप, उसके इतिहास और व्यवहार के द्वारा सामने आया है, वह मूलवादी तथा इतर सम्प्रदायासहिष्णु है. किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि इस्लाम के उदार व्याख्यान सम्भव नहीं हैं. सूफी सन्तों ने इस्लाम की उदार व्याख्याएं प्रस्तुत करने के प्रयास किए हैं. इनमें से कुछ

ने तो इस्लामी मूलवाद की मूलभूत अवधारणा, आस्था में पैगम्बरे इस्लाम की हैसियत को लेकर सवाल उठाए हैं, जिसके कारण इनमें से बहुतों को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े. लेकिन यह सब अब बीते दिनों की बातें हैं. इस्लाम के मूलाभिमुख प्रवाह में यह उदार प्रवृत्तियां इस तरह बह गईं जैसे कभी हुई ही न हों. उदारवादी प्रयत्नों के वाबजूद इस्लाम धर्म के अन्तर्गत आज भी वह वैचारिक उपादान विकसित नहीं हो पाये हैं, जिनकी सहायता से वह अपने भीतर से उपजे सम्प्रदायों, अपने से भिन्न धर्मों, तथा एक धर्मनिरपेक्ष-परिवेश के साथ कोई समझ का रिश्ता कायम कर सके. भारत के नेहरूपंथी कुछ भी कहते रहें, इस्लामिक दृष्टि से हिन्दुस्तान 'दारुल हर्ब है' जिसमें विधर्मियों के विरुद्ध जेहाद करते रहना, तब तक करते रहना जब तक यह 'दारुल इस्लाम' में न बदल जाय, मुसलमानों के लिए फर्ज है. धर्मरनिपेक्षता इस्लाम में आस्था का नहीं, वक्ती सहूलियत का विषय है. इस्लाम के लिए धर्मनिरपेक्षता का अर्थ है, इस्लाम के आचरण, प्रचार-प्रसार के अनिर्बन्ध अधिकार, जिनमें प्रतिगामी नागरिक संहिता, वैमत्य के बलपूर्वक उच्छेद तथा परधर्म-विद्वेषी जेहाद के अधिकार भी शामिल हैं. यह सब समत्व पर आधारित एक जनतांत्रिक व्यवस्था में सम्भव नहीं है, जहां अधिकारों को दूसरों के प्रति कर्तव्य के साथ जोड़कर देखा जाता है. जहां तक इस्लाम की बात है, धर्मनिरपेक्ष, जनतांत्रिक व्यवस्था उसे कहीं से भी आश्वस्त नहीं करती. इसके अन्तर्गत उसे चाहिए विशेषाधिकारों की व्यवस्था; जहां मुस्लिम संख्या में कम हैं वहां भी, जहां अधिक हैं, वहां भी. भारत का संविधान, जहां मुस्लिम आबादी कम है, वहां इन विशेषधिकारों को अल्पसंख्यकाधिकारों के रूप में, और जहां संख्या में अधिक है, यथा काश्मीर में, वहां राज्य के विशिष्ट संवैधनिक अधिकारों के रूप में इसे सुनिश्चित करता है. यह द्वितरफा विशेषाधिकर व्यवस्था जिसके बारे में भारत का मुस्लिम समाज बेहद जागरूक है, विधर्मियों के साथ, वैमत्य के साथ, तथा आधुनिक परिवेश के साथ समझ का रिश्ता कायम कर पाने की इस्लाम की असमर्थता, तथा अन्य समुदायों के साथ समझ के रिश्तों के प्रति उसकी घृणा को ही ध्यान में रख कर बनाई गई है. धर्मनिरपेक्षी राजनेता आज बाबरी मस्जिद के विध्वंस के लिए, मुस्लिम समाज से माफी मांग रहे हैं. किन्तु लगभग १००० वर्ष के मुस्लिम-आधिपत्य के दौर में सैकडों मंदिरों को ध्वस्त किया गया, वर्तमान में पाकिस्तान, बंगलादेश, यहां तक की कश्मीर में अनगिनत मंदिरों को नष्ट कर दिया गया, कभी किसी मुस्लिम उलेमा को या किसी धर्मनिरपेक्षी मुस्लिम राजनेता को इसको लेकर आत्ममंथन करते, खेद प्रगट करते या पश्चात्ताप करते नही सुना है.

कारण स्पष्ट है : विधर्मियों की भावनाओं के प्रति किसी प्रकार की संवेदना इस्लाम में निषिद्ध है. मूर्तिपूजा का विध्वंस इस्लाम की शान भी है और दायित्व भी, जिसके लिए कोई मुसलमान न तो कभी पश्चात्ताप कर सकता है, और न ही जिसके परित्याग का वायदा. इस परिदृश्य में जब नेहरूपंथी राजनेता सर्वधर्मसमभाव के रूप में धर्मनिरपेक्षता का उपदेश देते हैं, तो यह पूछना जरूरी हो जाता है कि वे यह उपदेश किसको दे रहे हैं. यदि हिन्दू को, तो यह उसकी आस्था का अंग है, अतः उसके लिए इसका उपदेश अनावश्यक है; यदि यह उपदेश मुसलमान के लिए है तो भी यह बेकार है; एक मुसलमान इसे कभी स्वीकार नही कर सकता, क्योंकि कुफ्र के साथ सह-अस्तित्व तथा उसके विरुद्ध जेहाद के अधिकार का परित्याग इस्लाम में स्वीकार्य नही है.

राजनैतिक स्तर पर सैकुलरिज्म की बातें करते हुए यदि आस्था के स्तर पर सैकुलर नागरिक संहिता को रोके रखने, मंदिरों के विध्वंस के इतिहास को गौरवान्वित करने, भिन्न मत रखने वाले लेखकों की रचनाओं को बलपूर्वक प्रतिबन्धित करवाने, अल्पसंख्यक शिक्षाधिकारों के नाम पर जेहाद अर्थात् अन्य सम्प्रदायों के विरुद्ध घृणा तथा हिंसा की शिक्षा का खुलकर प्रचार करने के अधिकार अक्षुण्ण हैं, तो यह सवाल अपरिहार्य हो जाता है कि हिन्दुस्तान में मुसलमान ने सैकुलरिज्म को अपनाया कहां है? अल्पसंख्यकाधिकारों का वितान जहां प्रतिगामी नागरिक संहिता तथा साम्प्रदायिक घृणा की शिक्षा को वैधता प्रदान करता है, वहीं वैमत्य के प्रति इस्लामी असहिष्णुता को अनकहा समर्थन भी. अल्पसंख्यकों के भीतर और बीच में रह रहे अल्पसंख्यकों, सल्मान रश्दी तथा मुशीरुलहक जैसे असहमत बुद्धिजीवियों के, मुस्लिम बहुसंख्यकों के बीच अल्पसंख्यक अहमदिया मुसलमानों तथा कश्मीरी पंडितों के भी कुछ अधिकार हो सकते है, इस बारे में संविधान, राजनेता, तथा अल्पसंख्यक आयोग सभी एक स्वर से चुप हैं ; यह षडयंत्रकारी चुप्पी, जेहाद के अधिकार तथा वैमत्य को बलपूर्वक समाप्त करने के इस्लाम के आततायी आग्रह के प्रति धर्मनिरपेक्षता के मूकसमर्पण को रेखांकित करती है. इससे दो बातें स्पष्ट हैं : इस्लाम जितना अन्य धर्मों से आशंकित है, उतना ही आशंकित है, आधुनिक, उदार जनतांत्रिक व्यवस्था से. अतः इस्लाम का जेहाद, केवल इतर धर्मों के विरुद्ध ही नही, अपितु मानववादी मूल्यों पर आधारित समस्त उदार सभ्यताओं के विरुद्ध है. इस्लाम के रूप में हम एक ऐसी आस्था से मुखातिब होते हैं, जिसमें समन्वय, सहभाग, सहअस्तित्व, पंथनिरपेक्षता, जैसी मान्यताओं के लिए स्थान नही है. इसके साथ समझौते का, समझ के प्रत्येक प्रयास का एक ही अर्थ है, और वह है समर्पण. समर्पण

जिसका प्रत्येक कदम दारुल-इस्लाम के निर्माण की तरफ बढ़ रहा है. वर्तमान भारत का ५० वर्ष का इतिहास इसमें प्रमाण है.

ईसाई, जूडा, सिख आर्यसमाज जैसे अन्य सम्प्रदायों की स्थिति इससे कुछ अधिक अच्छी नहीं है. संस्थागत स्वरूप के कारण उनकी उपलब्धि तथा दुर्बलताएं इस्लाम के जैसी ही हैं. चूंकि इस्लाम धर्म में, प्रारम्भ से ही आस्था में विवेक और उस पर आधारित आस्था के पुनराख्यान को प्रतिबंधित रखा गया है, उसमें धर्म के मूर्त, संस्थागत-स्वरूप की जो निर्द्वन्द्व और अविकल प्रतिष्ठा हुई, वैसी अन्यत्र देखने को नही मिलती. जैसे सिंहासन पर मूर्ति की प्रतिष्ठा की जाती है, उसी तरह आस्था के मूर्त वितान की सावयव, अविकल प्रतिष्ठा के दर्शन का नाम मूलवाद है. **इस्लाम कितना भी मूर्तिपूजा विरोधी क्यों न हो, इस्लाम से बडा मूर्तपूजक धर्म कोई नहीं है.** अन्य सम्प्रदाओं की सैद्धान्तिक स्थिति, इस्लाम से केवल इतने अर्थ में भिन्न या बेहतर दिखाई है कि वे अपनी आस्था को विवेक और मानवीय संवेदनाओं से पूरी तरह असंपृक्त नही रख सके. जहां तक हिन्दू-आस्थासंघ के सम्प्रदायों की बात है, उनका तो जन्म ही मूल से वैमत्य और उसके पुनर्व्याख्यान में हुआ है. अतः समस्त साम्प्रदायिक प्रतिबद्धताओं के वाबजूद, वे मानवीय विवेक के प्रति, अपने बहुत्ववादी परिवेश और व्यापक मानवीय सन्दर्भों के प्रति निरपेक्ष नही रह सकते. जूडा और ईसाई धर्मों की, संस्थागत प्रतिबद्धताएं प्रारम्भिक दौर में इस्लाम धर्म के जैसी ही थी, किन्तु रेनेसां दौर के बुद्धिवाद ने, उन्हें अपेक्षाकृत संयत और परिष्कृत तेवर अपनाने को मजबूर कर दिया. इस प्रकार साम्प्रदायिक प्रतिबद्धताओं की मूलवादी परिणति को अवरुद्ध करने में भारत के आध्यात्मदर्शन तथा पश्चिम के रेनेसां के प्रभाव में विकसित मानववाद तथा वैज्ञानिक-संस्कृति का विशेष योगदान रहा है. इन चिन्तन-धाराओं ने संस्थागत आस्था की प्रतिबद्धताओं को एक सीमित, सापेक्ष अर्थ दिया और तदनुसार उनकी अर्थविवृतियों को व्यावहारिकता की सीमाओं के अन्दर रहने को विवश कर दिया.

यहां एक बात समझ में नही आ रही कि आखिर, इस्लाम और धर्म-निरपेक्षता की बातों का इस गीता-भाष्य में क्या प्रयोजन? श्रीमद्भगवद्गीता में तो कही दूर दूर तक इनकी चर्चा नही है. यह गीताभाष्य आखिर क्या कहना चाहता है? इस प्रकार के सवाल उठाये जा सकते हैं, और नहीं उठाये गए हैं, तो उठाये जाने चाहिए ताकि यह व्याख्यान, गीता में जिन आधारों पर युद्ध

से पलायन का निषेध और जिन परिस्थितियों में युद्ध का विधान किया गया है उन्हें समझा जा सके. इस्लामधर्म को केन्द्र में रख कर किये गए चिन्तन की प्रासंगिकता को समझने के लिए, गीता के प्रस्थान एवं तदाक्षिप्त, नीचे लिखे तीन बिन्दुओं को ध्यान में रखना आवश्यक है :

१. गीता कुलधर्मोपलक्षित धर्म के संस्थागत विधान को नैतिकदृष्टि से अपर्याप्त मानती है, अतः कुलधर्मरक्षा के नाम पर युद्ध से पलायन का निषेध करती है.

२. परस्वत्वोच्छेदकवृत्ति एक मनोविकार है, जो यदि किसी समुदाय की आस्था बन जाय तो सभ्य संसार के लिए एक आधारभूत चुनौती बन सकती है. इस विकृतिविशेष से संक्रमित व्यक्ति अथवा संस्था को 'आततायी' कहा जाता है. गीता में कौरवों की आततायी रूप में पहचान की गई है (**पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः**). समस्त सभ्याचार प्रतिषिद्ध, सभ्यता विरोधी इस विकृति के विरुद्ध गीता कर्तव्य रूप में युद्ध का विधान करती है.

३. युद्ध का यह विधान बिना किसी विकल्प के है. यतः एक आततायी आस्था से आततायी होता है, हालात से नही, उसके साथ समझ का कोई विश्वसनीय सम्बन्ध नही बनाया जा सकता. आततायी के साथ कर्तव्यरूप में प्राप्त प्रतिविधान से बचने के लिए, आततायी चुनौती पर पर्दा डालने के लिए जो उदात्त सिद्धान्तों का तानाबाना बुना जाता है, वह सिद्धान्त रूप में तो अप्रामाणिक है ही, व्यवहार में आत्मघात के सदृश है. इस प्रकार अर्जुन का युद्धोपरति चिन्तन, *'आवरण'* और *'विक्षेप'* इन दो आधारों पर आलोचना का विषय बनता है : कुलधर्म अर्थात् आस्था की जातीयसंकोचमूलक व्यवस्था को, धर्मतत्त्व के रूप में प्रस्तुत करने के कारण यह न केवल अप्रामाणिक मूल्यदर्शन का आक्षेप करता है, अपितु संकुचित अधिष्ठान में सार्वभौमिक प्रभुसत्ता की आततायी-वृत्ति को आवृत करते हुए उसे संरक्षण देता है. अप्रामाणिकता पक्ष की चर्चा पहले की जा चुकी है. आततायीवृत्ति पर पर्दा डालना और उसे संरक्षण देना (**पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः**) यह अर्जुन के कर्तव्य-विमुखता के दर्शन का दूसरा पक्ष है, जो सम्प्रति विचार का विषय है.

यतः इस्लाम, संस्थागतधर्मों की श्रृंखला में, संस्थागत का सर्वाधिक शुद्ध रूप है, यह जातीय आदर्शो की नैतिक अपर्याप्तता और उनके आततायी स्वरूप, दोनों का संगृहीत निदर्शन है. इस प्रकार अर्जुन की नैतिक समस्या के रूप में प्रस्तुत, गीता का पूर्वपक्ष अपनी समस्त सम्भावनाओं

के साथ इस्लाम धर्म में निदर्शित है. प्राचीन भारत में आततायी राजा तो थे, सम्भव है, धर्म के नाम पर संघर्ष और परोत्पीड़न भी होते रहे हों, किन्तु परधर्मोच्छेदक धर्मविधान, और बलात् धर्मप्रवर्तन के रूप में आततायी-आस्था के स्पष्ट उदाहरण भारत के प्राचीन इतिहास में नही मिलते. यही कारण है कि मनुस्मृति आततायी का सही लक्षण नही दे सकी, और मनु के इस दोष के कारण पारम्परिक गीताभाष्य आततायी चुनौती का समुचित आकलन नही कर सके. मनु द्वारा दिया गया आततायी का लक्षण '*अग्नदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः, क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः*' वस्तुतः डकैत का लक्षण है. आततायी ये सब अपराध करता है, यह सही है, किन्तु वह इन अपराधों को धन या शत्रुता के लिए नहीं, सिद्धान्त के लिए करता है. आततायी आस्था से आततायी होता है, परिस्थिति से नही. प्राचीन भारत के इतिहास में कंस, जरासंध, दुर्योधन आदि निरंकुश राजाओं के जो उदाहरण मिलते हैं, वे आततायी तत्त्व के अपर्याप्त निदर्शन हैं. इस्लामधर्म भारतीय इतिहास की इस कमी को बखूबी पूरी करता है, अतः गीता के पूर्वपक्ष की समस्त सम्भावनाओं को समझने समझाने के लिए उदाहरण के रूप में इस्लामधर्म का चुनाव किया गया है. इतना ही नही, सभ्य संसार के लिए, विशेषरूप से भारत के लिए, इस्लाम के रूप में धार्मिक आतंकवाद की चुनौती के सामने भारतीय राजनीति की पलायनवृत्ति, पलायन के समर्थन में सनातन सिद्धान्तों का अप्रामाणिक विनियोग, किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुन के आचरण का निकट से अनुसरण करते हैं.

जब हम इस्लाम धर्म को संस्थागत धर्म का एक समग्र उदाहरण कहते हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि इस्लाम धर्म अपनी कबीलाई संस्थाओं की रक्षा और धरती पर उनके एकाधिकार-पर्यन्त विस्तार के लिए न केवल प्रतिबद्ध है, अपितु इन प्रतिबद्धताओं के निर्वाह के लिए इसमें एक समग्र वैचारिक यांत्रिकी और कार्यक्रम उपलब्ध हैं. कबीलाई संस्थाओं की रक्षा का अर्थ है, आस्था में विवेक के हस्तक्षेप का निरोध ; इसके विस्तार का अर्थ है, इस्लाम-भिन्न धर्म, जिन्हें 'कुफ़्र' कहा गया है, के उच्छेद के लिए सतत संघर्ष करते हुए, संसार में बलपूर्वक इस्लाम की स्थापना. इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए साधन रूप में '*मूलवाद*' और '*जेहाद*' का विधान किया गया है, जो इस्लाम के क्रमशः बुद्धिप्रतिगामी आस्थामूल की रक्षा, और उसके प्रसार के लिए वैमत्योच्छेदक कार्यक्रमों को साकार करते हैं. सन् १९९९ में, जब भारतीय सेनाएं, कारगिल (कश्मीर) में पाकिस्तानी घुसपैठियों को खदेड़ने में लगी थी, और सारा देश उनकी सफलता के लिए प्रार्थना कर रहा था, लखनऊ के प्रख्यात इस्लामविद् श्री अली मियां ने, भारतीय सेना के पक्ष में दुआ

करने और पाकिस्तानी आतंकवादियों की निन्दा करने से इन्कार कर दिया था. अखबारों में छपी इस खबर का अली मियां की ओर से बयान देकर खण्डन कर दिया गया. खबर सच हो या गलत, इतना निश्चित है, जिन्हें दुनियां आतंकवादी कहती है, एक मुसलमान की निगाह में वे मुजाहिदीन हैं, जो कुफ्र के खिलाफ अल्लाह की राह में जेहाद कर रहे हैं. उनके विरुद्ध बोलने से अगर अली मियां या कोई अन्य उलेमा परहेज करते हैं तो वे ईमानदारी के साथ इस्लाम के सैद्धान्तिक यथार्थ को ही बताते हैं. धर्मनिरपेक्षी मुगालते में रहना ही चाहते हैं तो रहें, उलेमा ने किसी को धोखा नहीं दिया.

दूसरे के जीने, सोचने और पूजने के अधिकार की स्वीकृति सभ्यता की पहली शर्त है. इस्लामी मूलवाद के लिए, दूसरा तो सिर्फ कुफ्र है, जिहाद का निशाना. यह संसार के लिए सौभाग्य की बात है कि अधिकांश धर्मों ने मूलवाद और उसके निरंकुश, सभ्यता-प्रतिगामी धर्मदर्शन को स्वीकार नही किया, तथा अपने ऊपर आस्था की दुर्बलता के आरोप को स्वीकार कर लिया. संसार के सभी सम्प्रदाय या उनमें से अधिकांश, यदि अपनी-अपनी आस्था के मूलरूप की चरम तार्किक परिणतिपर्यन्त प्रतिष्ठा का संकल्प ले लेते, और बलपूर्वक संसार में उसकी प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष को एक धार्मिक दायित्व (फर्ज) बना देते, और इस तरह सार्वभौमिकता की इस्लामी तलाश का जेहादी इतिहास इस धरती पर तिगुना चौगुना होकर फैलता, तो इस धरती की क्या दशा होती यह कल्पना करके ही मन सिहर उठता है. ईसाई धर्म का अतीत इस्लाम से बहुत भिन्न नहीं है, किन्तु कालान्तर में, अपनी प्रसारवादी आकांक्षाओं की सिद्धि के लिए, साधन रूप में, बलप्रयोग की बजाय, धन और सुविधाओं के प्रलोभन जैसे अपेक्षाकृत सूक्ष्म और सभ्य उपायों को बेहतर विकल्प मानते हुए उनके प्रयोग को एक कला के रूप में विकसित किया. जहां तक प्रसारवादी प्रतिबद्धताओं की बात है, इस्लाम और ईसाइयत में कोई अन्तर नहीं है, या अन्तर है तो केवल कार्यशैली का.

गीता में कुलधर्म-चिन्ता की पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुति का पर्यवसितार्थ यह है कि जब पारिवारिक, जातीय अथवा वर्गीय हित आस्था की हद बन जाते है, तो उससे कौरव साम्राज्य, साम्यवाद, फासीवाद, और इस्लामधर्म जैसी आततायी व्यवस्थाओं का अभ्युदय होता है. ये सभ्यता-प्रतिगामी व्यवस्थाएं एक बार अस्तित्व में आ जाती हैं, तो सभ्य संसार के सामने युद्ध के सिवा कोई विकल्प नहीं छोडतीं. उनके साथ समझौते के प्रयास, संग्रह अथवा समर्पण की नीति, अप्रामाणिक आचरण

है. गांधी ने अपने जीवन के श्रेष्ठ वर्ष, भारतीय आध्यात्म की मुख्य धारा में इस्लाम धर्म के संग्रह के प्रयासों को दिए. किन्तु उनकी ईमानदार और समर्पित साधना, मुसलमानों को, देश के विभाजन और अलग राज्य की मांग से विरत नहीं कर सकी. इसके बाद दौर आया, स्वतंत्र भारत में इस्लाम के प्रति संवैधानिक समर्पणों का. मुस्लिम को आश्वस्त करने के लिए, उसे देश की मुख्य धारा में लाने के लिए, मूलभूत जनतांत्रिक प्रतिबद्धताओं के विरुद्ध, देश के संविधान में उनके लिए विशेषाधिकारों की व्यवस्था की गई. किन्तु इन विशेषाधिकारों के संरक्षण में भारतीय इस्लाम अधिक से अधिक उग्र, अधिक से अधिक मूलाभिमुख और असहिष्णु होता चला गया. गीता, आततायी के, और उसके प्रति, संग्रह और समर्पण के इन सभी पलायनवादी प्रयासों का, और उनके समर्थन में रचे जा रहे सिद्धान्ताभासों का, जिन्हें गीता में प्रज्ञावाद कहा गया है, मूल से निषेध करती है. कारण स्पष्ट है : दूसरों के धर्म का उच्छेद, अपने धर्म की बलपूर्वक प्रतिष्ठा और विस्तार, जिनकी आस्था का अंग है, जिनके लिए आतंक (जेहाद) एक धार्मिक कर्तव्य है, दूसरों के साथ उनके संग्रह करने की बात करना, अथवा यह सोचना कि देश के आध्यात्मिक परिवेश और जनतांत्रिक व्यवस्था के मानववादी विधान में उनके प्रतिगामी जीवनदर्शन को संरक्षण देकर, उन्हें अन्ततः सभ्यता के विरुद्ध जेहाद के पथ से विरत किया जा सकेगा, अपने आपको धोखा देना है, राष्ट्र को धोखा देना है, सभ्यता के प्रति अपने कर्तव्य से मुंह मोड़ना है, और मानवता के विरुद्ध जेहाद की मुहिम में शरीक होना है. आज जब इस्लामी जेहाद दरवाजे पर दस्तक दे रहा है, बल्कि यों कहिए ईरान, अफगानिस्तान और पाकिस्तान को रोंदता हुआ कश्मीर में प्रवेश कर चुका है, इस देश के कर्णधार, इसकी ओर पीठ करके खड़े हैं, और 'धर्मनिरपेक्षता' 'धर्मनिरपेक्षता' चिल्ला रहे हैं. इन्हें तो यह भी पता नहीं कि धर्मनिरपेक्षता की लड़ाई कहां लड़ी जानी है और किससे लड़ी जानी है. श्रीमद्भगवद्गीता परोत्सादक आतंक के सामने पलायन के समर्थन में, उदारवादी दार्शनिक सिद्धान्तों के दुरुपयोग के विरुद्ध सावधान करते हुए, उसके विरुद्ध युद्ध का निर्विकल्प विधान करती है.

एक आततायी-चुनौती — वह व्यक्ति के रूप में हो या समूह के रूप में, निरंकुश राजसता के रूप में हो या फिर इतर धर्मोच्छेदवादी सम्प्रदाय के रूप में — सामना करने वाले के लिए तीन विकल्प छोड़ती है : आत्मोत्सर्ग, समर्पण और संघर्ष. कौरवों के साथ युद्ध टालने के उददेश्य से प्रवृत्त अर्जुन का चिन्तन, आत्मोत्सर्ग और समर्पण पर आधारित है, जैसा कि नीचे दिए उद्धरणों

से स्पष्ट है –

यदिमामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।। १.४६

(यदि मुझ शस्त्ररहित, न सामना करनेवाले को शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मारें, तो वह मारना भी मेरे लिए अति कल्याणकारक होगा.)

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव-
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ।। २.५

(इसलिए इन महानुभाव गुरुजनों को न मारकर इस लोक में भिक्षा का अन्न भी भोगना कल्याणकारक समझता हूं, क्योंकि गुरुजनो को मारकर भी इस लोक में रुधिर से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगों को ही तो भोगूंगा.)

उक्त दो उद्धरण, आततायी के साथ युद्ध के बजाय, क्रमशः ***आत्मोत्सर्ग*** और ***समर्पण*** के द्वारा आततायी के साथ टकराव से बचाव में अर्जुन की श्रेयोबुद्धि का निदर्शन कराते हैं. अहिंसा और सह-अस्तित्व की परिधि में आततायी के संग्रह की परिकल्पना (**पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः**) ही आत्मोत्सर्ग है, जब कि स्वयं क्षत्रिय होते हुए, राज्याधिकार छोड़कर, भिक्षाटन करते हुए जीवन-यापन का विचार, आततायी के सामने उसकी समर्पण बुद्धि को बताता है.

अर्जुन के मोहजनित युद्धोपरति-चिन्तन के यह दो परस्पर सम्बद्ध पक्ष, ***'संग्रह*** और ***समर्पण'***, क्रमशः गांधीवाद और नेहरूपंथ के सैद्धान्तिक उपादान हैं.

जहां गांधीवाद, संघर्ष की घडी में आततायी के संग्रहरूप में 'आत्मघात' का दर्शन है, वही नेहरूपंथ मूलतः 'समर्पण' का दर्शन है, जो अर्जुन के युद्धोपरति-चिन्तन की दूसरी धारा को लेकर आगे बढ़ता है. नेहरूपंथ के पक्ष में यह स्वीकार करना पडेगा, कि गांधीवाद की अपेक्षा यह अधिक यथार्थवादी है. नेहरू इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि इस्लाम धर्म का संग्रह न तो आस्था के किसी सार्वभौमिक परिकल्प में हो सकता है, जैसा कि गांधी सोचते थे, और न ही व्यक्ति

को इकाई मानते हुए उसकी स्वतंत्रता और समानता के मानववादी मूल्यों पर आधारित संवैधानिक व्यवस्था में. अतः गांधीवाद को एक असंभव आदर्श मानते हुए, नेहरू ने उसे सिरे से निरस्त कर दिया. यह नेहरूवादी चिन्तन के निर्माण की दिशा में पहला कदम था. इसका दूसरा कदम था, ऐसी संवैधानिक व्यवस्थाओं का निर्माण जिनकी छत्रछाया में संविधान के सार्वभौमिक, मानववादी मूल्यों के विरुद्ध, इस्लाम धर्म को, उसकी समस्त प्रतिगामी प्रतिबद्धताओं के साथ संरक्षण दिया जा सके. एतदर्थ संविधान में अल्पसंख्यकाधिकारों की विशेष व्यवस्था की गई. यह व्यवस्था, जनतांत्रिक मान्यताओं के विरुद्ध, व्यक्ति के स्थान पर परिगणित धार्मिक समूहों को वैधानिक इकाई के रूप में मान्यता देती थी. इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि इन समुदायों के अन्तवर्ति-व्यक्ति को जीवन के, विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के, लिंगभेद-रहित समानता के जो नागरिक अधिकार संविधान से प्राप्त थे, वे वैधिक और व्यावहारिकरूप में संकुचित होकर सामुदायिक अनुशासन के अन्तर्गत आ गये. देश के राजनैतिक बंटवारे के बाद, यह भारतीय समाज का साम्प्रदायिक आधारों पर बंटवारा था, ठीक उन्हीं द्विराष्ट्रवादी सैद्धान्तिक आधारों, पर जिन पर पाकिस्तान का निर्माण हुआ था. इस्लाम, इस्लामेतर किसी सामान्य मूल्यव्यवस्था के अन्तर्गत, अन्य समुदायों के साथ सहअस्तित्व की बात को स्वीकार नहीं कर सकता. इस मूलवादी-मुस्लिमप्रतिबद्धता के सामने समर्पण, उसके विरुद्ध खड़े होने की असमर्थता, देश के राजनैतिक और उसी क्रम में फिर सामाजिक बंटवारे का सामान्य आधार था. हिन्दुस्तान के संविधान पर निकट से विचार करें, तो यह बंटे हुए भारत के दूसरे बटवारे का दस्तावेज है, जो अर्थतः सामान्य, मानववादी मूल्यों पर आधारित, धर्मनिरपेक्ष-समाज की अवधारणा का, विशेष व्यवस्थाओं के द्वारा निषेध करता है. यह विरोधाभास मात्र संयोग नहीं है कि जहां तथाकथित हिन्दू-साम्प्रदायिक संगठन धर्मनिरपेक्ष समाज और उसके सैद्धान्तिक आधार, समान नागरिक-संहिता की वकालत करते हैं, वहीं, अहर्निश धर्मनिरपेक्षता की माला जपने वाले संगठन इसका विरोध करते हैं. यह स्थिति भारतीय संविधान के अन्तर्निहित विरोधाभास का प्रतिबिम्ब है. **नेहरूपंथ धर्मनिरपेक्षता की मूल प्रतिबद्धताओं – धर्मनिरपेक्षसमाज, धर्मनिरपेक्षकानून, धर्मनिरपेक्षशिक्षा, धर्मनिरपेक्ष-समाजनियोजन –के विचार के प्रति न केवल उदासीन है, अपितु इनका स्पष्ट विरोधी है.** उसके लिए भारत आज भी विभाजित है; एक ओर है बहुसंख्यक भारत, जिसे हिन्दू-भारत भी कह सकते हैं, जिसमें सामाजिक न्याय के नाम पर हर प्रकार के उल्टे सीधे प्रयोगों की खुली छूट है; दूसरी ओर है,

संविधानानुमोदित साम्प्रदायिकता का अल्पसंख्यक नामधारी भारत, जिसकी अभेद्य दीवाल के अन्दर संविधान-प्रदत्त मूल अधिकारों का भी प्रवेश वर्जित है, या उन्हें उसी सीमा तक जाने की अनुमति है, जिस सीमा तक अल्पसंख्यकों का धार्मिक-नेतृत्व अनुमति देता है. (सल्मान रश्दी को, भारत का संविधान भले ही अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और 'जीवन' का अधिकार देता हो, नेहरूपंथ सिद्धान्ततः रश्दी के लिए इन अधिकारों का समर्थन नही कर सकता). कहने का तात्पर्य यह कि धर्मसंग्रह के गांधीवादी प्रयोग से सर्वथा भिन्न, नेहरूपंथ संगठित कट्टरवाद, विशेषकर इस्लामधर्म के मूलवादी चिन्तन और अलगाववाद के प्रति, बिना शर्त, समर्पण का दर्शन है. नेहरूपंथ, चाहे वह स्वनिर्मित संवैधानिक व्यवस्थाओं में हो, या फिर राजनैतिक व्यवहार में, अपने इस स्वरूप में सदा अव्यभिचरित है. **यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि नेहरूपंथी राजनैतिक दल स्वतंत्रभारत में इस्लामी जेहाद के हरावल दस्ते हैं, जो मुसलमानों के लिए बहुविवाह, त्रिवाचातलाक के अधिकार, जबरनपर्दा, शरीयत-अदालतों, और धार्मिक वैमत्य के बलपूर्वक उन्मूलन जैसे मध्यकालीन दुराग्रहों के मुसलमानों से भी बडे पक्षधर हैं.**

उक्त व्यवहार केवल राजनैतिक मिथ्याचार ही नहीं, वैचारिक मिथ्याचार भी है, जो अहिंसा, तथा सर्वधर्मसमभाव जैसे सनातन सिद्धान्तों का प्रयोग, आतंकवाद को संरक्षण देने, और उसकी चुनौती के सामने पलायन के समर्थन में करता है. इस वैचारिक मिथ्याचार को ही कृष्ण 'प्रज्ञावाद' नाम देते हैं, और मुस्कुराते हुए इसे उपालम्भ का विषय बनाते हैं :

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ।।१०।।
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।।११।।

आचरण के मिथ्याचार से कहीं अधिक घातक होता है, विचारों का मिथ्याचार, कर्तव्य का प्रतिबन्धक और अकर्तव्यता का संरक्षक. प्रज्ञावाद कोई सिद्धान्त नहीं बल्कि, इच्छाशक्ति के अभाव में, कर्तव्य की असामर्थ्य को छिपाने के लिए, सिद्धान्तों की शब्दावली में कुशलतापूर्वक बुना गया आवरण है, अपने को बहलाने और दूसरों को धोखा देने के लिए. अतः प्रथम दृष्ट्या यह खण्डन का नहीं उपहास का विषय बनता है, ताकि सामने खड़ी चुनौती को जितना जल्दी

हो, देखा जा सके. निरुपाधिक करुणा की संस्कृति की रक्षा के लिए, आततायी के विरुद्ध गीता शस्त्रसंधान का विधान करती है. सिक्ख गुरुओं ने इसी परम्परा को आगे बढ़ाया. सर्वधर्मसमभाव और सार्वभौमिक नैतिक मूल्यों पर आधारित संस्कृति की, इतरधर्मोच्छेदक, आततायी धर्मों से रक्षा के लिए गीता में सशस्त्र प्रतिकर्तव्य का विधान है. किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, सर्वधर्मसमभावी व्यवस्था में आततायी धर्म या धर्मों का निरोध. सर्वधर्मसमभावी व्यवस्था में सहभाग और संरक्षण का अधिकार केवल उन्हीं का हो सकता है, जो आस्था के धरातल पर सर्वधर्मसमभाव को स्वीकार करते हैं.

जो आस्था के धरातल पर, धन या बल की सहायता से इतरधर्मोच्छेद तथा आत्मप्रसार में विश्वास रखते हैं, वे सर्वधर्मसमभावी समाज और राज्यव्यवस्था में सहभागी कैसे हो सकते हैं? यहां अर्जुन की शैली में, धर्मनिरपेक्षी प्रज्ञावाद, आततायी सम्प्रदायों की सहायता के लिए आगे आता है. वह सर्वधर्मसमभावी व्यवस्था में, न केवल सर्वधर्मसमभाव-विद्वेषी सम्प्रदायों को सहभाग का अधिकार देता है, अपितु विशेष संवैधानिक व्यवस्थाएं बना कर, उसके प्रतिगामी, इतरधर्मोच्छेदक शिक्षा और कार्यक्रम को विशेष संरक्षण प्रदान करता है. श्रीमद्भगवद्गीता की दृष्टि में यह आत्मघाती कर्तव्यविमुखता से उपजी यह एक वैचारिक विकृति है, जिससे हर कर्तव्य-परायण व्यक्ति और समाज को सतत सावधान रहने की जरूरत है.

इस सम्बन्ध में धर्मनिरपेक्षियों द्वारा जो आपत्तियां उठाई जा सकती हैं, उनके निराकरण के लिए तो ऐतिहासिक वास्तविकता का एक संक्षिप्त सा संज्ञान ही पर्याप्त होगा. एक हजार साल की गुलामी के बाद, विभाजित होकर स्वतन्त्र हुआ यह भारतदेश, आज भीतर और बाहर, दोनों तरफ से इस्लामी-आतंकवाद के साये में कांपता, दूसरे विभाजन, बिखराव, और गुलामी की ओर तेजी से अग्रसर हो रहा है. यह सब पचास साल के धर्मनिरपेक्षी प्रज्ञावाद की तार्किक परिणति है. भारतदेश और हिन्दू-समाज की दुर्दशा का यदि कोई एक कारण बताने को कहा जाय, तो वह है, धार्मिक एकाधिपत्य के लिए, संगठित आततायी धर्मसमूहों की चुनौती के सामने पलायन की मनोवृत्ति, आततायी के साथ टकराव से बचने के लिए समर्पणों का अन्तहीन सिलसिला, और समर्पण को औचित्य देने के लिए अहिंसा, सर्वधर्म समभाव और सार्वभौमिक-करुणा जैसे सनातनमूल्यों का अनुचित विनियोग. श्रीमद्भगवद्गीता का सम्पूर्ण उपदेश, आततायी चुनौतियों से

पलायन के लिए बहानेवाजी के दर्शन के निर्माण में तत्त्वदर्शन और सार्वभौमिक-नैतिकता के प्रयोग का निषेध करती है, और आततायी चुनौती से, बिना किसी बहाने के सीधे सामना करने का विधान करती है, ताकि अहिंसा और सर्वधर्म-समभाव की संस्कृति की रक्षा हो सके. कर्तव्य की घड़ी में बहानेबाजी करना, कर्तव्य से बचने के लिए सिद्धान्तों का हसीन ताना-बाना बुन लेना हिन्दुओं की बुरी आदत है. हिन्दुओं के बीच धर्मनिरपेक्षी कहलाने वालों का जो दिगम्बर नाच हो रहा है, वैसा दुनिया के किसी अन्य समाज में देखने को नही मिलता. क्या हमें इन सब में अर्जुन के युद्ध से हटने, और अपने पलायन के समर्थन में उच्च सिद्धान्तों का चालाकी भरा उद्भावन दिखाई नही देता? श्रीमद्भगवद्गीता यदि हिन्दुओं का प्रतिनिधि शास्त्र है तो इस अर्थ में कि यह हिन्दू के दर्द का सही विश्लेषण और निदान प्रस्तुत करती है ; उसकी पलायनवादी मानसिक्ता का संज्ञान लेते हुए उसे यह स्पष्ट संदेश देती है कि जिनके लिए आतंक ही आस्था है, जिनके लिए बलात् धर्मान्तरण, धार्मिक-साम्राज्यवाद और परधर्मोच्छेद धर्म-विधान है, उनका किसी भी सर्वधर्म-समभावी व्यवस्था में न तो संग्रह किया जा सकता है, और न ही अलग रहते हुए उसके साथ समझ का कोई विश्वसनीय रिश्ता ही बन सकता है. आततायी के साथ युद्ध का कोई विकल्प नहीं हो सकता. उसके साथ युद्ध को टालने की बात करना, समझौते की राह तलाशना आत्मप्रवंचना है, अपने को धोखा देना है. गीता का संदेश जमीनी सच्चाई के निकट है. भारत में धर्मनिरपेक्षता के नाम पर हुए चिन्तन ने मूलवादी कट्टरता, फतवे और जेहादी उन्माद की धार्मिकता के सामने समर्पण की जिस सुविधाजनक संस्कृति और दर्शन को जन्म दिया है, गीता का संदेश उसके विरुद्ध न केवल एक स्पष्ट चेतावनी है, अपितु सिद्धान्तरूप में उसकी अप्रामाणिकता, तथा व्यवहार में उसकी अविश्वसनीयता का स्पष्ट निदर्शन है. गीता के तत्त्व-चिन्तन, और सार्वभौमिक करुणा के मूल्यदर्शन के बीच युद्ध का सन्देश, वस्तुतः इन्ही मूल्यों पर आधारित संस्कृति की रक्षा के लिए, कर्तव्य की नियम विधि है, जो आततायी के आत्मघाती संग्रह और उसके इतर धर्मोच्छेदक प्रसार में इनके संरक्षण की प्रसक्ति का निवारण करती है. हम भाष्य भूमिका में, विस्तार से इन विषयों पर विचार कर चुके हैं, यहां उस सब को दुहराने की आवश्यकता नही है.

४. गीता के द्वन्द्वात्मक चिन्तन की त्रिपुटी :

(१) स्वजनक्षेमानुरक्त, कुलमर्यादाश्रितचिन्तनप्रस्थान, (२) उसकी समीक्षा से श्रेयोभावना के विस्तीर्यमाण अर्थ की चेतना, (३) सम्बन्ध (उपाधि) निरासमुखेन धर्मरूप में निरुपाधिक करुणा

की प्रतिष्ठा — गीता के द्वन्द्वात्मक चिन्तन की यह त्रिपुटी गीता-महाभारतीय धर्म और समाज दर्शन का मूलाधार है. इसको द्वन्द्वात्मक कहने का तात्पर्य यह है कि अपने अन्तर्निहित, तार्किक परिणति-वेग के कारण, यह प्रक्रिया अविराम चलती रहती है. संसार में आततायिओं की चुनौती, विशेषकर, धर्मरूप में प्रवर्तित, परधर्मोच्छेदक-आतंक की चुनौती, समाज की वैश्विक अवधारणा में स्व-पर-भेद की कल्पना तथा निरुपाधिक-करुणामूलक धर्म में कुछ समय के लिए जातीय संकोच का आधान करती है, ताकि आततायी चुनौती के सामने प्रतिकर्तव्य का विधान किया जा सके. यह द्वन्द्वात्मकता गीतोपदेश के अन्तर्गत युद्ध के औचित्य, उसकी अपरिहार्य परिस्थिति और नैतिकता को परिभाषित करती है.

■ ■ ■

षष्ठ एककः

श्रेयसः यथोक्तः युक्तियुक्तनिश्चयः भवति कर्तव्यनिर्धारणाय , निर्धारितं च तज्जनयत्याचरणं स्वानुरूपम्। अयं क्रमक्रमशोऽभिनीतो लक्ष्यतेऽत्र श्लोकद्वयात्मकस्य षष्ठैककस्य द्वयोः उपैककयोः (४६-४७)। उपसंहारभूतत्वादाध्यायान्ताधिकारवत्त्वात्पुष्पिकाविवेचनोऽपि कृतो वर्तते अत्रैव।

(क) यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।४६।।

यदि मुझ शस्त्ररहित, न सामना करनेवाले को, शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मार भी दें, तो वह (मरना) भी मेरे लिए अपेक्षाकृत कल्याणकारक ही होगा.

(ख) संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।।४७।।

संजय बोला कि, रणभूमि में शोक से उद्विग्न मनवाला अर्जुन, इस प्रकार कह कर बाणसहित धनुष को त्यागकर रथ के पिछले भागमें जाकर बैठ गया.

(ग) ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रेश्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।

(क) श्रेयोनिश्चयानन्तरं कर्तव्यनिर्णयः (ख) कर्तव्यनिर्णयानन्तरं तन्निरूपित- व्यवहारस्य प्राप्तिः (ग) अध्यायान्ते पुष्पिकायाः प्राप्तिः विशेषविचारायेति प्रकृतैककस्य क्रमोद्भावनम्।

एकव्यक्तेः जीवनस्यैतिहासिके कालखण्डे प्रामाणिकाचरणस्य समस्या, तस्याभिनीत-निदर्शनान्तर्गतकर्तव्यनिर्धारणप्रक्रियायाः आचरणे फलपर्यन्तविवरणं प्रथमाध्यायस्य विषयानुक्रमोऽयं निरूपयति श्रीमद्भगवद्गीतायाः चिन्तनप्रस्थानम्. लक्ष्योऽत्रास्य सोपानक्रमः –

१. कुलविनाशहेतुत्वादासन्नयुद्धोद्यमः अश्रेयस्करः पापरूपश्चेति आकलनं जनयति युद्धोपरति-निर्णयम्। किन्तु जायत अनेन केवलं अपर्याप्तोपरतिव्यवहारः निर्णयस्याद्यापि सन्देहग्रस्तत्वादनिर्णायकत्वाच्च।

२. आततयिनोऽपि बान्धवाः न हन्तव्याः इति स्वजनकारुणिकस्य कुलधर्मस्य व्यवस्था अर्जुनाय विदधाति कुलविनाशहेतुभूतयुद्धादुपरतिम्। '*संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् शुश्रूषा ब्राह्मणानाञ्च राज्ञः श्रेयस्करं परम्*' तथा '*आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्*' इति धर्मशास्त्रं सामान्यविशेषविधिभिः निराकरोति क्षत्रियस्य युद्धोपरतिम् । अतो विरुद्धव्यवस्थामध्ये सन्त्रस्तस्य अर्जुनस्य पृतनामुखव्यवहारः युद्धस्थलादुपरत्यनुपरतिभिन्नाभिन्नां रथोपस्थशरणागतिं भजते।

निग्रहयोग्यस्य आततायिनो कुलधर्मे संग्रहस्य आत्मोत्सर्ग एव तार्किका परिणतिरनपायिनी अत्यन्तविरुद्धयोः संग्रहस्य आत्मघातपर्यवसायित्वाद्धर्मशास्त्रे आततायिवधविधानस्य निर्विकल्पत्वाच्च। 'आततायिनमायन्तं हन्यादेवाविचारन्' इति। अतो अर्जुनस्य युद्धोपरतिचिन्तनं परिणमते अर्जुनस्यात्मघातिने सत्याग्रहे-

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।

फलानुमेया ह्यत्राप्रामाणिकता अर्जुनप्रतिपादितकुलधर्मस्य आततयिसंरक्षक-विधानस्य भारतीयसंविधानस्यापि चाधुनिकस्य।

३. पुष्पिका विज्ञापयति प्रत्यध्यायान्तं गीतायाः औपनिषदिकं स्वरूपम्। समीक्षार्हं हि एतत्, प्रत्यक्षविरुद्धत्वात्। स्मृतिरियमित्यपि वक्तुं न शक्यते, अनुवादत्वहेतोरसिद्धत्वात्, श्रुत्यवतरणरूपत्वाच्च गीतायाः। अवतरणं देवस्य शास्त्रस्य वा नैव भवति अनुवादः पूर्वविग्रहस्य, अभूतपूर्वरूपत्वात्तस्य। उभयोः श्रुतिस्मृतिरूपयोरनुपपन्नत्वादनुपपन्नं गीतायाः शास्त्ररूपम्। उच्यते – औपनिषदिकसमाख्यानिराकरणेऽपि अव्याहतं गीतायाः श्रुतिरूपम्, अप्राप्तप्रापकत्वात्। भगवतः पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता श्रीमद्भगवद्गीता स्वरूपेण

श्रुतिः घटनारूपेण ऐतिह्यम्, 'रहस्यविद्या', गूढविद्या'-वेत्युपचारेण उपनिषदपि वक्तुं शक्यते पुष्पिकायाः मर्यादानिर्वाहायेत्यनवद्यम्.

एकक विमर्श :

(क) यह सहज बोधगम्य है कि कर्तव्य का निर्णय 'श्रेय' के निश्चय के आधीन होता है. प्रकृत में अर्जुन युद्ध में श्रेय के अभाव से उसमें कर्तव्यता के अभाव की सिद्धि करता है.

(ख) युद्ध की अकर्तव्यता का निर्णय तन्निरूपित युद्धोपरतिरूप व्यवहार को जन्म देता है.

(ग) अध्याय के अन्त में दी गई पुष्पिका, इसी क्रम में विचार का विषय बनती है.

१. युद्धोपरति-निर्णय और उसका अनिश्चित क्रियान्वयनः

कुलविनाश का हेतु होने के कारण, कुरुक्षेत्र में लड़ा जाने वाला युद्ध अश्रेयस्कर और पापभय है, यह आकलन अर्जुन के युद्ध से हटने के निर्णय को जन्म देता है. इस निर्णय के बाद अर्जुन को तुरन्त युद्धस्थल से हट जाना चाहिए था. लेकिन वह ऐसा नहीं करता और रथ के मध्यभाग में जाकर बैठ जाता है. स्पष्ट है कि युद्धोपरति का निर्णय निर्णायक साबित नहीं हो पा रहा है. निर्णय के क्रियान्वयन की दिशा में कदम बढ़ा देने के बाद भी निर्णय की प्रामाणिकता को लेकर चिन्तन की प्रक्रिया चल रही है. यह इस बात का प्रमाण है कि निर्णय सन्देह के परे अपने को स्थापित नहीं कर सका है. सन्देह-संक्रमित निर्णय अपर्याप्त क्रियान्वयन को ही जन्म दे सकता है. युद्ध से हटने का निर्णय करने के बाद भी अर्जुन न तो युद्धस्थल को छोड़ता हैं और न ही युद्ध में प्रवृत्त होता है. इससे स्पष्ट है कि वह अभी कुछ और कहना चाहता है, और सुनना चाहता है.

कुलधर्म की रक्षा के लिए, कुलबान्धवों की रक्षा की जानी चाहिए भले ही वे आततायी ही क्यों न हों. यह कुलधर्म की व्यवस्था अर्जुन के लिए एक ऐसे युद्ध से हटने का विधान करती है जिसमें कुल का विनाश निश्चित है. उसके ठीक विपरीत हैं धर्मशास्त्रों की आज्ञा. '**संग्राम में पीछे न हटना, प्रजाओं का पालन करना और ब्राह्मणों की सेवा करना, राजाओं के लिए परम श्रेयस्कर हैं**' तथा '**आततायी के आते हुए देख कर बिना विचारे उसका बध करे**, इन सामान्य और विशेष विधियों के द्वारा धर्मशास्त्र, क्षत्रिय के लिए युद्ध से न हटने का विधान करते हैं. अतः

कुलधर्म और धर्मशास्त्रों की परस्पर विरोधी व्यवस्थाओं के बीच संत्रस्त अर्जुन न तो युद्ध से हटता है, न उसमें प्रवृत्त होता है. उसे उपरति और अनुपरति दोनों से भिन्न, दोनों को छूते और दोनों से बचते आचरण पर्याय की तलाश है. अन्ततः अत्यन्त शोकाकुल अर्जुन रथ की गोद में मुंह छिपा कर बैठ जाता है. यह उपयुक्त आचरण पर्याय है, जो दो अत्यन्त विपरीत विधानों का संग्रह कर रहा है. रथ अभी भी युद्धभूमि में खड़ा है. उसकी गोद में बैठे अर्जुन के बारे में यह कैसे कहा जा सकता है कि वह युद्ध से विमुख हो गया है पुनः जो व्यक्ति हाथ में शस्त्र ले कर शत्रु सेना के सामने खड़ा नहीं है, वह युद्ध में प्रवृत्त है यह भी कैसे कहा जा सकता है. आचरण के लिए विरुद्ध विधानों की प्राप्ति उनके बीच बाध्यबाधक-विवेक के अभाव में आचरण में अत्यन्त विरुद्ध विधानों के संग्रह का असंभव प्रयास और उससे उत्पन्न विभ्रम और अस्पष्ट आचारपर्याय, इन सब के समन्वित अर्थ का बोध कराता है अर्जुन का रथ की गोद में मुंह छुपा कर बैठना, उसकी आधी अधूरी युद्धोपरति.

२. आत्मोत्सर्ग : आततायी के संग्रह की अनिवार्य परिणति :

अर्जुन के युद्धोपरति चिन्तन के दो दोष एक दम स्पष्ट हैं. वह कुलधर्म और तदाश्रित पिण्डोदकादि मूर्तव्यवस्था को धर्म के सार्वभौमिक अर्थ, उसके परमार्थ के रूप में प्रस्तुत करता है. किन्तु इससे भी कहीं अधिक गम्भीर दोष यह है कि यह संक्षिप्त सा कुलधर्म अपनी मूल्यव्यवस्था में 'भद्र' और 'आततायी' के बीच अन्तर नहीं करता, क्योंकि जहां तक कुलधर्म की पिण्डोदकादि सातत्य रूप और्ध्वलौकिक व्यवस्था की बात है, उसके लिए तो कुलजनों का जीवित रहना भर काफी है उनकी नागरिकगुणवत्ता यहां अप्रासंगिक है. किन्तु सभ्य-समाज की इकाई के रूप में उसके अस्तित्व के लिए, सभ्यतापर्यवसायी लौकिक मर्यादाऐं उतनी ही या उससे अधिक महत्वपूर्ण हैं, जितनी और्ध्वलौकिक व्यवस्थाओं का सातत्य. यह लौकिक मर्यादाएं वस्तुतः सभ्य समाज की समता, सहिष्णुता और मानवीय गरिमा की मर्यादाएं हैं, जो विभिन्न कुलों के बीच, विभिन्न मानवीय समुदायों के बीच सहभाव और सहयोग को सुनिश्चित करती हैं. कुलधर्म की और्ध्वदैहिक व्यवस्था की रक्षा के लिए, आततायी पर्यन्त कुलजनों का निर्विशेष संग्रह और संरक्षण एक सभ्य सामाजिक इकाई के रूप में कुल के उच्छेद को ही सुनिश्चित करता है. जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, 'कुलधर्म' गीता में आस्था के समस्त सामाजिक पर्यायों का उपलक्षण है.

आततायी का संग्रह, कुलधर्म के अन्तर्गत हो या सार्वभौमिक अहिंसाधर्म के अन्तर्गत, मानववादी संवैधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत हो या केवल व्यक्तिगत आदर्श के रूप में – आत्मोत्सर्ग इसकी अनिवार्य परिणति है. अत्यन्त विरुद्धों का संग्रह आत्मघातपर्यवसायी ही होता है. यही कारण है कि धर्मशास्त्रों में आततायी के वध का विधान निर्विकल्प है : '*आततयिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्*'. तात्पर्य यह कि आततायी को आक्रमण के लिए आते देख यदि आप बिना विचार में समय गंवाए उसका वध नहीं करते और अर्जुन की शैली में सैद्धान्तिक चिन्तन की दुनियां में उतर जाते हैं, तो वह आततायी आपका वध कर देगा. इसीलिए 'अविचारयन्' विशेषण दिया गया है. अर्जुन कुलविनाशहेतुभूत युद्ध को अश्रेयस्कर एवं पापपूर्ण मानते हुए उससे हटने का निर्णय लेता है. किन्तु वह यह भी जानता है कि युद्ध से हटने का अर्थ है, क्षत्रिय धर्म से हटना. अपने क्षात्रधर्म को अक्षत रखते हुए युद्धोपरति कैसे हो यह अर्जुन की समस्या है. वह सोच विचार कर आत्मोत्सर्ग का विचित्र निर्णय लेता है. वह युद्ध स्थल का परित्याग नहीं करता और युद्ध के लिए भी अपने को प्रस्तुत नहीं करता, अपितु शस्त्रत्याग कर रथ के मध्यभाग में जा कर बैठ जाता है. वह मन ही मन चाहने लगता है कि इस हालत में धृतराष्ट्र-पुत्र उसे मार ही डालें तो अच्छा हो. इससे वह युद्ध करने के अपराध से भी बच जाएगा और युद्ध से भागने के अपराध से भी –

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणेहन्युस्तन्मेक्षेमतरं भवेत् ।।

वस्तुतः अत्यन्त विरोधी ध्रुवों के संग्रह के प्रयास की अनिवार्य परिणति है आत्मघात. अपने आत्मघाती निर्णय के द्वारा अर्जुन अनेक विरोधी ध्रुवों को मिलाने का प्रयास कर रहा है. युद्ध से उपरति और अनुपरति को, कुलधर्म की रक्षा के लिए 'आततायी' के संग्रह के द्वारा धर्म और अधर्म को, अहिंसाधर्म और क्षात्रधर्म को. आत्मघात इस असम्भव संग्रह से उत्पन्न समस्या का समाधान भी है और तार्किक परिणति भी.

आज के सन्दर्भों में अर्जुन के क्रम में गांधीवाद और नेहरूपंथ, आततायी के संग्रह और उसके प्रति समर्पण के दर्शन के निकट उदाहरण हैं. इनके चिन्तन को साकार करता भारत का संविधान और उसके भेदभावपूर्ण प्रावधान – संविधानानुमोदित साम्प्रदायिकता तथा अल्पसंख्यकाधिकारों के नाम से सुनिश्चितकी गई आततायी अधिकारों की व्यवस्थाएं इसका

व्यावहारिक रूप है. देश के कोने कोने में फैलता जेहादी आतंकवाद धन और आतंक के सहारे अलगाववादी सम्प्रदायों का प्रसार इसकी सुव्यक्त परिणति हैं. अर्जुन के धर्मविभ्रम और पलायन के दर्शन का निकट से अनुसरण करते आधुनिक भारत के वैचारिक मिथ्याचार की तार्किक परिणति राष्ट्र के आत्मघात और बर्बर सल्तनत की पुनः स्थापना से भिन्न और कुछ नहीं हो सकती. आज के भारत को गीता के उपदेश पर मनन करने की जैसी आवश्यकता है, वैसी शायद पहले कभी न रही हो.

३. पुष्पिका विचार :

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत का अंश है, और इस कारण से, उसे ईश कठ केन आदि उपनिषदों की श्रेणी में रखना, और उपनिषद् मान कर उसकी व्याख्या करना, युक्तिसंगत नहीं है, प्रत्यक्षविरुद्ध होने के कारण. इस विषय पर प्रथम एकक में 'गीता का धार्तराष्ट्रिकोपक्रम' उपशीर्षक के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है. यतः प्रत्येक अध्याय के अन्त में दी गई '**ॐ श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु** ...' पुष्पिका गीता के उपनिषद् रूप की बारम्बार पुष्टि करती है. यहां इसके क्रमप्राप्त होने पर, गीता की औपनिषदिक समाख्या पर पुनरुक्ति से बचते हुए, निकट से विचार करते हैं.

हिन्दूधर्म-चिन्तन शास्त्रों को श्रुति तथा स्मृति इन दो कोटियों में रखता है. वेदों को, जो मंत्र, आरण्यक, ब्राह्मण और उपनिषदों का संगृहीत विग्रह है, श्रुति कहा गया है. अपौरुषेय, स्वतःप्रमाण, शाश्वत ज्ञानराशि का नाम श्रुति है. इससे भिन्न स्मृति अर्थात् धर्मशास्त्र हैं, जो इस शाश्वतज्ञान की ऋषियों द्वारा देशकाल के अनुसार लोकव्यवहार हेतु व्यवस्था-मूलक विधान प्रस्तुत करते हैं. ये विधान स्वतः प्रमाण नहीं अपितु वेदानुमत अथवा वेदाविरोधी होने से ही लोक में प्रमाण है. स्मृति यद्यपि एक पारिभाषिक शब्द है, यहां इसका प्रयोग बडे ही सार्थक रूप में किया गया है. दार्शनिकों में, अधिकांश ने स्मृति को प्रमाण नहीं माना, क्योंकि यह अनुभव या ज्ञान की जनक न होकर पूर्वानुभव का अनुवाद होती है. स्मृति अनुवादक होती है और अनुभव के प्रमाण से ही प्रमाणित होती है यह सही है, किन्तु उसे केवल अनुवाद नहीं कहा जा सकता. स्मृति का उद्बोधन परिवेश-जन्य होता है; अन्तः तथा बाह्य परिवेश, स्मृति के उद्बोधन में एक चयनात्मक व्यापार का निवेश करते हैं. यह परिवेश-संसर्गोद्भव इसे अनुवादव्यावर्तक, सर्जनात्मक

चरित्र देता है. यह स्मृति ही है जो शाश्वत ज्ञान को प्रासंगिकता या मूल्य प्रदान करती है. स्मृति, शाश्वत-ज्ञान का मूल्यबोध है, उसकी कालचेतना है, उसका सार्थक, प्रासंगिक विवरण, ठीक उसी तरह जैसे काव्य अनुभव का सार्थक विवरण होता है. शाश्वत ज्ञान मूल्यनिरपेक्ष होता है ; व्यक्ति और समाज से जुड़ कर, उनकी देश-काल चेतना से संपृक्त हो कर ही वह स्वयं मूल्यवान् बनता है और मूल्याश्रित व्यवस्था को जन्म देता है. यही विधि की अधिकारि-सापेक्षता है.

कहने का तात्पर्य यह कि हिन्दुओं ने मूल्यविधान तथा तदाश्रित समाजव्यवस्था को, उसके परिवर्तनशील स्वरूप के कारण, श्रुति की बजाय स्मृति का विषय माना है, जो मनीषियों के सतत विवेचन परीक्षण तथा परिष्कार का विषय हैं. इस कथन में स्मृतियों के रूप में उपलब्ध विचारशील शास्त्रपरम्परा स्वयं प्रमाण है. प्रकृत में, प्रश्न यह उठता है कि गीता को शास्त्र की श्रुति और स्मृति इन दो कोटियों में से किस में रखा जाय? गीतोपदेश के कथ्य पर विचार करें तो वह धर्मशास्त्रों की अपेक्षा उपनिषदों के अधिक निकट लगता है. किन्तु गीता का मूल्य चिन्तन उसे उपनिषदों की कोटि से अलग करता है. गीता में आत्मविचार है, तत्त्व-चिन्तन है, अनेक स्थलों पर ऐसा कि वह उपनिषदों का अनुवाद करती प्रतीत होती है. किन्तु गीता में इस तत्त्वज्ञान को एक व्यक्ति के धर्मसंकट के क्षणों में, व्यक्तित्व के ऐतिहासिक संदर्भों के बीच अवतरित होते हुए, अन्यान्य अनुशासनों के साथ मिल कर, अपने लिए भूमिका का अनुसंधान करते हुए देखा जा सकता है. श्रीमद्भगवद्गीता में तत्त्वज्ञान एक अन्तरंग, व्यक्तिप्रमाण अर्थ ग्रहण करता है, जिसके लिए उपनिषदों के शाश्वत परिवेश में कोई अवकाश नहीं है. गीतोपदेश में वैयक्तिक इतिहास की स्वीकृति और अपने लिए अनुकूल भूमि तलाश करने की स्वयं उपदेश की जिम्मेदारी, उसे मानव के कुछ सामान्य अर्थों को सम्बोधित उपनिषद् और धर्मशास्त्र दोनों से अलग एक स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान करते हैं. ऐसा नहीं कि उपनिषदों में अधिकारी की अपेक्षा नहीं है. किन्तु उपदेश को व्यक्ति के इतिहास से जोड़ा जाय यह उन्हें कभी स्वीकार नहीं होगा. 'अधिकारी' शब्द व्यवस्था-मूलक है. और यह बताता है कि उपदेश में अधिकार के निरूपण के लिए आकलन या परीक्षण व्यक्ति का होना है उपदेश का नहीं. किन्तु जब व्यक्ति के धर्म संकट को, उसके ऐतिहासिक सन्दर्भों में रख कर चिन्तन किया जाता है, तो उपदेश को अपनी उपयुक्तता अपनी प्रासंगिकता या अधिकार प्रमाणित करना होता है व्यक्ति को नहीं. व्यक्तिक्षेत्र में उपदेश की यह प्रासंगिकता सामान्यतया अनुसंधान का विषय

होती है और उपदेश को एक गत्यात्मक आयाम प्रदान करती है. उपदेश का यह स्वरूप, वस्तु और निर्वचन दोनों में उपनिषदों के सपाट, एक आयामी तत्त्वचिन्तन से बिल्कुल अलग है. ऐसे में गीता को उपनिषद् कहें तो भी कैसे ? उक्त प्रश्नों का सीधे उत्तर न देकर विद्वान् व्याख्याता रूपकों कि दुनिया में उतर जाते हैं. गीता सभी उपनिषदों का सार है –

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।

यह सब अपनी जगह ठीक है. श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषदों का सार है, इस बात को ले कर कोई विवाद नहीं है. किन्तु प्रश्न 'क्या गीता एक उपनिषद् है,' अनुत्तरित रह जाता है. गीता उपनिषदों का सार है, यह इस प्रश्न का उत्तर नहीं हो सकता कि क्या गीता एक उपनिषद् है. यदि उपनिषद् (श्रुति) रूप में गीता को स्थापित करने में समस्या है तो स्मृति रूप में तो उसकी स्थापना और भी मुश्किल है. श्रीमद्भगवद्गीता धर्म का व्यवस्थामूलक विधान नहीं है, इसलिए उसे स्मृति नहीं कह सकते. पुनः गीता के प्रति जो आस्था है, वह उसे परतः प्रमाण, स्मृति के रूप में निरूपित किए जाने के विरुद्ध है.

मीमांसक श्रुति का लक्षण देते है : *निरपेक्षो रवः श्रुतिः*. 'निरपेक्ष' शाब्दबोध जो अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता', श्रुति का यह लक्षण गीता में घटित नहीं होता, क्योंकि गीता भगवद्-वाक्य होने के कारण प्रमाण है, अर्थात् आप्तपुरुष-प्रणीत होने से प्रमाण है. वस्तुतः पुरुष कोई भी क्यों न हो, गलती कर ही सकता है, अतः प्राचीन मान्यता अपौरुषेयत्व को श्रुति प्रमाण की अनिवार्य शर्त मानती है. इसके विपरीत, श्रीमद्भगवद्गीता इसलिए प्रमाण है, क्योंकि यह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् पुरुष, भगवान् पद्मनाभ के मुखपद्म से साक्षात् प्राप्त हुई है. स्पष्ट है, श्रुति का श्रौत अर्थ गीता में नहीं घटता. वस्तुतः अवतारवाद और ऐतिह्य की मान्यताऐं, शब्द प्रमाण के दायरे में कुछ नए आयाम जोड़ती हैं जिन्हें श्रुति और स्मृति के परम्परानुमत विभागों में से किसी में भी नहीं बैठाया जा सकता. इन्हें स्थान देने के लिए आवश्यक है कि या तो श्रुति और स्मृति के अतिरिक्त एक तीसरे विभाग की कल्पना करें, या फिर उनके लक्षणों का परिष्कार करते हुए, किसी एक में, अवतार के मुख से 'अवतरित शब्द' को स्थान दें. भगवद्वाक्यरूप श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषप्रणीत होते हुए भी श्रुति है, क्योंकि इसका अवतरण

साक्षात्कारात्मक अनुभव के रूप में हुआ है, स्मृति के रूप में नहीं. यह पक्ष युक्तिसंगत प्रतीत होता है. किन्तु गीता को श्रुति किस रूप में माना जाय, यह समस्या अपनी जगह पर बनी रहती है. गीता को उपनिषद् मानने में जो समस्याऐं हैं, उनकी विस्तार से चर्चा की जा चुकी है.

पं. मोतीलाल गौड़ ने गीता तथा उपनिषदों के बीच एक सामान्य अर्थ के निष्पादन का प्रयास किया है. उपनिषत् पद का अर्थ है 'गूढ़विद्या ' या 'रहस्यविद्या'. महाभारत स्वयं इस अर्थ का समर्थन करती है :

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम् ।। शा. २९९.१३/१२.२८८.१३

यहां 'उपनिषद्' पद का यह अर्थ है, तत्त्व अथवा रहस्य. यह अर्थ कठ केनादि उपलक्षित वैदिक वाङ्मय और श्रीमद्भगवद्गीता दोनों में समान रूप से प्रसक्त है. इस प्रकार रहस्यविद्यारूप में उपनिषद् पदार्थ का निरूपण करते हुए, पं. मोतीलाल गौड़, उस निरापद अर्थ का उद्घाटन करते हैं, जिस अर्थ में गीता को उपनिषद् कहा जा सकता है. किन्तु कुशलतापूर्वक गीता के औपनिषदिक स्वरूप की सिद्धि के बाद भी वे गीता को स्मृति ही मानते हैं, श्रुति नहीं. आशय स्पष्ट है. उनके रहस्यविद्यारूप में उपनिषत् पदार्थ के निरूपण का प्रयोजन केवल पुष्पिका की मर्यादा की रक्षा करना है, गीता को उपनिषत् सिद्ध करना नहीं. पुनः एतदर्थ उन्होंने जिस समान्य अर्थ का उद्भावन किया है, वह इतना अधिक सामान्य है, कि वह न तो गीता की उपनिषदों के साथ एकवाक्यता का आधार बन सकता है, और न ही उसके द्वारा वेदान्त परम्परा में लिखे गए गीताभाष्यों की विश्वसनीयता को स्थापित किया जा सकता है.

मोतीलालजी जिस कारण से गीता को श्रुति न मान कर उसे स्मृति की कोटि में रखते हैं, वह क्वचिद् भिन्न है. उनके अनुसार '**गीता के उपदेश में कुछ भी नया नहीं है, सब कुछ श्रुतियों से लिया गया है, केवल प्रस्तुतीकरण नया है, अतः उसे स्मृति मानना चाहिए**'. 'नए प्रस्तुतीकरण' से उनका क्या आशय है, इसका अर्थ *अनुवाद* है, *चयनात्मक संकलन* है, अथवा *अवतरण,* वे इसे स्पष्ट नहीं करते. किन्तु चूंकि वे गीता को स्मृति कोटि में रखते हैं, वे इसे अनुवाद ही मानते हैं, ऐसा अनुमान किया जा सकता है. यदि ऐसा है तो निश्चय ही उनका निष्कर्ष श्रीमद्भगवद्गीता

के सर्जनात्मक स्वरूप के असंज्ञान पर आधारित है. गीता श्रुतियों का अनुवाद मात्र नहीं अपितु विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भों में उनका सृजन है, व्यक्तिक्षेत्र में उनका देश-काल विशिष्ट अवतरण. केवल इसी अर्थ में गीता को '*सर्ववेदार्थसारसंग्रहभूत*' कहा जा सकता है. वस्तुतः श्रुतियों के अवतरण की बात को स्वीकार किए बिना अवतारवाद की अवधारणा अधूरी रहती है.

देश-काल की परिस्थितियों और उनसे उत्पन्न संकट का संज्ञान लेते हुए, जिस प्रकार संसार के उद्धार के लिए ईश्वर का अवतार होता है, उसी प्रकार संकटग्रस्त देश, समाज और व्यक्ति के मार्गदर्शन के लिए, दिव्य-ज्ञान का, सन्दर्भ विशिष्ट अवतरण होता है. श्रीमद्भगवद्गीता एक ऐसे ही संकटापन्न, कर्तव्यविमूढ व्यक्ति के मार्गदर्शन हेतु भगवती श्रुति का अवतरित रूप है. अवतार ब्रह्मा, विष्णु, महेश, रूप किसी दिव्यविग्रह का हो या श्रुति का, उसे मूल स्वरूप का *अनुवाद* नहीं *अवतरण* कहा जाता है, जिसका अर्थ है अवतरित विग्रह का अनन्य स्वरूप. वैष्णव जब कहते हैं कि 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' तो इसका अर्थ यही है कि अवतार को एक निरपेक्ष, समग्र विग्रह के रूप में स्वीकार किया जाय, उसे पूर्वरूप की छाया या अनुवाद के रूप में न देखा जाय. इसी क्रम में भगवती श्रुति का अनन्य, अपूर्व रूप है श्रीमद्भगवद्गीता. उसके अर्थ को समझने के लिए, पीछे पलट कर देखने की, इस या उस वैदिक वाङ्मय में इसका अन्तर्भाव करके पढ़ने का कोई औचित्य नहीं बनता. अवतरण की प्रक्रिया में परमार्थ अपना कुछ भी नहीं खोता. '***पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते***'. गीता का श्रुतिरूप अक्षुण्ण है, उसे केवल स्मृति मानने का कोई औचित्य नहीं है. वस्तुतः गीता के श्रुतिरूप को स्वीकार किए बिना, उसके साक्षात्कारात्मक स्वरूप और श्रद्धालु जनों के लिए उस आश्वासन का निर्वाह कैसे होगा, जो नीचे लिखे गीता माहात्म्य से प्राप्त है :

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ।।

(अन्य शास्त्रों के विस्तार में जाने की क्या आवश्यकता है? गीता का भलीभंति पाठ करना चाहिए जो साक्षात् भगवान् पद्मनाभ के मुखपद्म से निकली है)

उक्त विवेचन का निष्कृष्टार्थ यह है कि श्रीमद्भगवद्गीता स्वरूप से श्रुति है, घटनारूप में ऐतिह्य और केवल उपचार से उपनिषद् है.

उपसंहार

एक ईसाई या मुस्लिम से उसके धर्मग्रन्थ के बारे में पूछा जाय तो वह विना झिझक बाइबिल या कुरान का नाम बता सकता है. किन्तु एक प्रबुद्ध हिन्दू से उसके धर्मग्रन्थ के बारे में यही सवाल किया जाय तो उत्तर शायद इतना सीधा और आसान नहीं होगा. धर्मग्रन्थ के नाम पर हिन्दू के सामने एक पुस्तक नही बल्कि सम्पूर्ण पुस्तकालय है, जिसके पारायण के लिए शायद एक जीवनकाल पर्याप्त नही है. शास्त्रों के इस अनन्यसंग्रह में एक क्रम है. दिव्य-संदेश, मानव के मार्गदर्शन के लिए निश्चयात्मक शाब्दबोध के रूप में अवतरित होता है, यह बात सभी धर्म स्वीकार करते है. आधारभूत दिव्यज्ञान के इस वैशिष्ट्य को ध्यान में रखते हुए उसे 'श्रुति' नाम दिया गया. इसके अन्तर्गत शाखा, प्रशाखाओं सहित सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का, अर्थात चारों वेद, ब्राह्मण, तथा आरण्यकों (उपनिषदों) का संग्रह हुआ है. इस साक्षात्कारात्मक ज्ञान के मनन और विश्लेषण के आधार मनीषियों ने जिस व्यवस्थामूलक विधान का सृजन किया, वह परोक्षधर्मी होने से, श्रुति की तुलना में स्मृति कहलाया. बदलते हुए सामाजिक परिवेश में काव्य और इतिहास के माध्यम से, श्रुति और स्मृति वाङ्मय के जो सर्जनात्मक अवतरण हुए, वे इतिहास पुराणादि रूप प्रतिष्ठित हुए.

श्रीमद्भगवद्गीता इस हजारों वर्षो के कालखण्ड में फैली, इस विशाल, ज्वाज्वल्यमान शास्त्रपरम्परा का न केवल अन्तिम ग्रन्थ है, अपितु हिन्दुओं की कुछ मूल प्रतिबद्धताओं के विरुद्ध, उसे वह हैसियत मिल चुकी है, जो ईसाईधर्म में बाइबिल की तथा इस्लाम में कुरान की है. महाभारत का कलेवरांशभूत होने के बावजूद, इसे व्यवहार में महाभारत संदर्भो से न केवल भिन्न अपितु सर्वाधिक श्रेष्ठ, काल और संदर्भ व्यवधान का अतिक्रमण करते हुए, उपनिषद्रूप में मान्यता देकर, श्रुतिप्रमाण्य की चरम एवं निरपेक्ष विश्वसनीयता में प्रतिष्ठित किया गया है. यह श्रीमद्भगवद्गीता, न केवल हिन्दूशास्त्रपरम्परा में, अपितु संसार के समस्त धर्मग्रन्थों के बीच, संस्थागत से परे धर्म की व्यापक एवं व्यक्तिप्रमाणं अवधारणा के लिये, एक विशिष्ट स्थान रखती है.

संसार के अधिकांश धर्म, अलग अलग जातियों को, कौमों का सम्बोधित हैं, और इस रूप में वे न तो आध्यात्म की वैयक्तिक मांग के प्रति संवेदनशील हो सकते हैं, और न ही उनके संस्थागत स्वरूप और संदेश में अपेक्षित सार्वभौमिकता. श्रीमद्भगवद्गीता कौम को नहीं व्यक्ति

को सम्बोधित है. इस प्रकार गीता, जहां संसार में पहली बार धर्म की व्यक्ति-प्रमाण अवधारण प्रस्तुत करती है, वही कबीलाई धर्मविधानों से सर्वथा भिन्न, मूल्यबोध के प्रमाणिक आधार के रूप में, वैश्विक-समाज और सृष्टि की तात्त्विक एकता और उद्देश्यपूर्ण संवादरूपता की परिकल्पना भी सामने रखती है. इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता का धर्मदर्शन न केवल धर्म की एक व्यापक, सार्वभौमिक अवधारण प्रस्तुत करता है, अपितु व्यक्तिक्षेत्र-प्रमाण, स्वधर्म की अवधारणा के द्वारा उसमें एक गुणात्मक अन्तर ला देता है. यह धार्मिक आस्था की एक विलक्षण अवधारण है, गत्यात्मक एवं अवगतिरूपा, जो केवल महाभारत जैसे विशाल एवं अप्रतिम धर्मेतिहास की पृष्ठभूमि में ही विकसित हो सकती थी.

गीता का पहला अध्याय उपदेश के लिये उपयुक्त मनोभूमि की तलाश को समर्पित है. धृतराष्ट्र, और उसकी आकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब दुर्योधन, अपने व्यावहारिक, अर्थसाधक राजनीति-दर्शन से संतुष्ट है. उनमें जो जिज्ञासाएं हैं, वे नितान्त व्यावहारिक और तात्कालिक प्रयोजनानुविद्ध हैं. इससे अधिक की जिज्ञासा, उनकी मनोभूमि का विषय नहीं हो सकती. दोनों पक्षों के महारथी, जिनका उल्लेख गीता में हुआ है, परम्पराप्राप्त क्षात्रधार्म के सम्बन्ध में पूर्णतया आश्वस्त हैं और अपनी आस्था से प्रेरित हुए, युद्ध में प्रवृत्त हो रहे हैं. धर्म-जिज्ञासा को जन्म दे सके, ऐसा कोई अन्तर्द्वन्द्व, या संदेह उनमें नहीं है. द्रोण का नियति के सामने दीन समर्पण और भीष्म में धर्म की दुर्धर्ष, अप्रतिहत चेतना, में भी धर्म जिज्ञासा के लिये कही अवकाश नहीं है. इन चरित्रों की पृष्टभूमि में, युद्धघोष करती, युद्ध के लिये सन्नद्ध सेनाओं के मध्य, श्रीकृष्ण के साथ रथ पर विराजमान अर्जुन धर्मजिज्ञासा के मूर्तिमान रूप में अवतरित होते हैं.

दुर्योधन की भांति अर्जुन भी युद्धारम्भ से पहले युद्धस्थल का निरीक्षण आवश्यक समझते हैं. ध्यान से पढ़ा जाय, तो कोई भी प्रबुद्ध पाठक दुर्योधन और अर्जुन के युद्धस्थल निरीक्षण और उनके मूल्यांकन के अन्तर को लक्षित किये बिना नहीं रह सकता. दुर्योधन का निरीक्षण स्पष्ट और चयनात्मक है. एक कुशल सेनापति की भांति, वह युद्धस्थल को व्यूह बनाकर युद्ध के लिये सन्नद्ध, विरोधी सैन्यबलों में विभाजित देखता है, और उसकी 'अपने', 'पराये' केवल इतनी भर व्यावहारिक पहचान को अपने आकलन में स्वीकार करता है. इससे सर्वथा भिन्न, अर्जुन के लिए सामने युद्ध के लिये सन्नद्ध सैन्यबल केवल निशाने नहीं है, हमले करने और नष्ट कर

दिये जाने के लिये. उनके बीच वह देखता है, सम्मानित पितामह व गुरुजनों को, प्रिय मित्रों, पुत्रों और प्रपुत्रों को. दुर्योधन युद्धस्थल देखने का निर्णय नहीं लेता, वह केवल देखता है और तदनुसार आकलन व निर्णय लेता है. इससे सर्वथा भिन्न, अर्जुन युद्धस्थल के निरीक्षण करने का निर्णय लेता है, और यह निरीक्षण, उसे उस सीमा से ज्यादा दिखा देता है, जितना एक योद्धा के लिये आवश्यक है. उत्तम कोटि का व्यावहारिक ज्ञान एक क्षण के लिये भी अन्तर्मुखी नहीं होता. अपने अन्दर देखने के बजाय, वह केवल वस्तु को, उद्देश्य और साधन को देखता है. किन्तु जहां प्रयोजन को नहीं बल्कि स्वयं अपने को उद्देश्य बनाकर ज्ञान की प्रवृत्ति होती है, वहां प्राथमिकता के विपर्यास से ज्ञान में तात्कालिक आवश्यकतानुरूप व्यवहार की आरोपित सीमायें, उपेक्षित हो जाती हैं, और ज्ञान व्यक्ति को तथ्यों की एक व्यापक व्यवहार-निरपेक्ष चेतना में ले जाता है, जो न केवल तात्कालिक व्यवहार के लिये अनुपयोगी है, अपितु व्यवहारोपपादक मूल्यव्यवस्था की तुच्छता और सोपाधिक स्वरूप को उजागर करते हुए, उसकी नैतिकता और औचित्य के सम्बन्ध में प्रश्नों को जन्म दे जाती है. युद्ध का इतिहास उतना ही पुराना है जितना मानवजाति का. कर्तव्य (धर्म) की व्यवस्थामूलक अवधारणा के विरुद्ध पहला प्रश्न उस योद्धा के मन में ही उठा होगा, जिसने युद्ध में मारे गए लोगों में 'शत्रु' के अलावा मानवीय सम्बन्धों को पढ़ना पहचानना प्रारम्भ किया होगा — यह कि मारा गया व्यक्ति किसी का, पुत्र, किसी का भाई, किसी का पति और किसी का पिता रहा होगा. उस वैज्ञानिक के मन में, जिसने मरमाणु बम बनाया, अपने अनुसंधान कार्य की नैतिकता के बारे में अवश्य ही प्रश्न उठे होंगे, कि वह मानवीय सम्बन्धों के एक सम्पूर्ण संसार को नष्ट करने में निमित्त बना है. राष्ट्रीयता और जातीय श्रेष्ठता के लिये लड़े गये 'जिहाद' अथवा 'धर्मयुद्ध', और उनकी नैतिकता, उस एक प्रश्न के घेरे में आ जाते हैं, जो अर्जुन के मन में, युद्ध के लिये तत्पर एक योद्धा के मन में उत्पन्न होता है, जब वह शत्रुओं में, अपने, बान्धवों, गुरुजनों, पुत्र और पौत्रों को पहचानता है.

कर्तव्य की संस्थागत धर्म से प्राप्त अवधारणा की समीक्षा करता 'मानववाद' गीता का प्रस्थान बिन्दु है, क्योंकि मानववाद अपनी आत्मप्रचारित उदारता के वाबजूद, कुलधर्मोपलक्षित जातीयप्रतिबद्धता का अतिक्रमण नहीं कर पाता. धार्मिक आस्था के लिए, मूल्य चेतना के मानववाद से परे, मानववाद से अधिक व्यापक, आधारों का अनुसंधान, जो मानव तक ही सीमित न रहकर, सृष्टि के प्रत्येक स्पन्दन को दायित्व चेतना की परिधि में ले सके, गीतोपदेश का प्रयोजन है. गीता

न तो संस्थागत का प्रत्याख्यान है, और न ही मानववाद का, इन सबको स्वीकारते हुए ही इसकी अनुसंधान प्रक्रिया, श्रेय के उस तात्त्विक धरातल की खोज की ओर उन्मुख होती है जिसमें मानव की सम्पूर्ण आध्यात्मिक सम्भावना, बिना किसी अवरोध के निःश्शेष अभिव्यक्ति पा सके. इस दृष्टि से देखें, तो श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, धर्मदर्शन के एक महत्वपूर्ण पाठ्यग्रन्थ के रूप में सामने आती है, जो धर्म की कोटियों का न केवल निर्वचन और समीक्षा करता है, अपितु उस तकनीक का, उस विशिष्ट साधन पद्धति का उपदेश करता है, जो मनुष्य के लिए अपनी आस्था में प्रतिष्ठित रहते हुए, बहुकोट्यात्मक सहभाग और आध्यात्म की निर्विशेष समृद्धि को सुनिश्चित करता है. यही कारण है कि गीताधर्म (हिन्दूधर्म), धर्मान्तरण में विश्वास नही करता. जो व्यक्ति धर्म की गत्यात्मक अवधारणा को स्वीकार करता है, वह किसी भी सम्प्रदाय का क्यों न हो, हिन्दू ही है. इस दृष्टि से देखें तो ईसाई रहस्यवादी तथा मुस्लिम सूफी संत हिन्दू की परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं क्योंकि अपनी संस्थागत आस्था में प्रतिष्ठित रहते हुए भी, वे आध्यात्म के व्यापक, संस्थानिरपेक्ष, तात्त्विक बोध से जुड़े हैं. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का यह हिन्दू-अर्थ, उसके प्रथम अध्याय में, पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत, युद्ध की नैतिकता की समस्या, और उसके निराकरण के क्रम में सहज व्यक्त है.

कुछ लोगों का यह आरोप है कि यह गीताशास्त्र युद्ध का समर्थक करने वाला शास्त्र है, और इस दृष्टि से यह मानवजाति के लिए हितकर नही हो सकता. यहां दो बातें ध्यान देने की हैं, पहली तो यह कि गीता युद्ध का समर्थन नही करती, केवल सोपाधिक युद्धनिवृत्ति का निषेध करती है. अर्थात् कोई यह कहे कि युद्ध अश्रेयस्कर इसलिए है, क्योंकि इसमें 'अपने लोग मारे जा रहे हैं', या 'इससे मानवजाति का विनाश हो सकता है' तो अहिंसा का यह सोपाधिक, मतलब भर का निर्वचन गीता को स्वीकार्य नही है, क्योंकि यह एक संकुचित, जातीय मूल्यबोध पर आधारित है. मानववाद-पर्यन्त जातीयमूल्यबोध, समयानुसार नागरिक-विधान के लिए उपयोगी हो सकते हैं, किन्तु धार्मिक आस्था के लिए ये नितान्त अपर्याप्त हैं. ऐसे ही अपर्याप्त मूल्यबोध, पशुबलि जैसे क्रूर अनुष्ठानों और धार्मिक कर्तव्य के रूप में जेहाद के नाम से चल रही आतंकवादी गतिविधियों के सैद्धान्तिक आधार हैं. आस्था के रूप में अहिंसा की सार्वभौमिक एवं निरुपाधिक प्रतिष्ठा का संदेश देने के लिए गीता सोपाधिक युद्धनिवृत्ति का निषेध करती है.

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गीता उस परिस्थिति की स्पष्टरूप से पहचान करती है और उसे हमेशा के लिए परिभाषित करती है, जिसके होने पर युद्ध से बचा नहीं जा सकता. जातीय-मूल्यबोध, दूसरों के स्वत्व एवं धर्म के उच्छेद का विधान करने वाले आततायी सिद्धान्त-चिन्तन को जन्म देता है, जो राजनैतिक अथवा धार्मिक आदर्शों का रूप ले सकते हैं. दूसरों के राजनैतिक एवं धार्मिक स्वतंत्रता को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध, योरुपीय साम्राज्यवाद और ईसाई तथा इस्लाम जैसे धर्मों के परधर्मोच्छेदक प्रसारवादी कार्यक्रम इसका स्पष्ट उदाहरण हैं. परोत्पीड़न और बलपूर्वक अथवा प्रलोभनों के द्वारा परधर्मोच्छेद करते हुए,संसार में अपने सम्प्रदाय की अद्वितीय प्रतिष्ठा ही जिसका धर्मविधान है, ऐसे आततायी की चुनौती सामने होने पर, युद्ध एक निर्विकल्प कर्तव्य रूप में प्राप्त होता है. आततायी के साथ समझौते का एक ही अर्थ होता है, और वह आत्मघात या समर्पण. अतः दुर्योधन के रूप में आततायी की चुनौती के सामने, अर्जुन के युद्धोपरति चिन्तन को भगवान् श्रीकृष्ण प्रज्ञावाद कह कर खारिज कर देते हैं. आततायी के विरुद्ध युद्ध इसलिए आवश्यक है ताकि सार्वभौमिक-करुणा, आस्था-बहुत्ववाद और सह-अस्तित्व की संस्कृति की रक्षा हो सके. स्पष्ट है, इस सर्वधर्मसमभावी-संस्कति में उनके लिए कोई स्थान नहीं हो सकता जो सर्वधर्म-समभाव में विश्वास नहीं करते. सर्वधर्मसमभावी व्यवस्था में आततायी को संरक्षण देने का एक ही अर्थ हो सकता है, और वह है आत्मघात. इस दृष्टि से विचार करें तो भारत की संवैधानिक व्यवस्था, अर्जुन के रुग्ण, आत्मघाती चिन्तन का निकट उदाहरण है. श्रीमद्भगवद्गीता के संदेश को आज सामयिक सन्दर्भों में पढ़ने की जरूरत है.

■ ■ ■

सन्दर्भ-ग्रन्थाः

१. **महाभारतम्** — गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. २०२६

२. **महाभारतम्** — भण्डारकर ओरिएण्टल इन्स्टीच्यूट, पूना

३ **आनन्दगिरिकृतव्याख्यासंवलितश्रीमच्छाङ्करभाष्ययुता-श्रीमद्भगवद्गीता**-नीलकण्ठी-मधुसूदनी-भष्योत्कर्षदीपिका-श्रीधरी-अभिनवगुप्ताचार्यप्रणीतव्याख्यासनाथीकृता-सम्पादक, वासुदेवशास्त्रीपनसीकर, मुम्बई, १९३६

४. **श्रीमद्भगवद्गीता-शाङ्करभाष्याद्येकादशटीकोपेता**- परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली- १९९२

५. **महाभारत मीमांसा** - श्री चिन्तामणिविनायक वैद्य, हरियाणा साहित्य अकादमी चंडीगढ़- १९९०

६. **श्रीमद्भगवद्गीता-शाङ्करभाष्यम्**, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. १९४८

७. **गीताविज्ञानभाष्य-भूमिका** - मोतीलालशर्मा गौड़ - दी न्यू एशियाटिक वैदिक रिसर्च सासाइटी, जयपुर - १९३९

८. **गीता-दर्शन** - ओशो - रेबेल पब्लिशिंग हाउस, पूना - १९९२

१०. **हिन्दी ज्ञानेश्वरी** - हिन्दी साहित्य-कुटीर, बनारस - सं. २००३

११. **ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्** - भामती,कल्पतरु,परिमल सहितम् - निर्णयसागरप्रेस, मुम्बई- १९३८

१२. **मनुस्मृतिः, मन्वर्थदीपिकया विराजिता** - पण्डित-पुस्तकालय, काशी - सं.२००४

१३. **कुर्आन शरीफ़** - शेरवानी संस्करण - लखनऊ किताब घर - लखनऊ १९९१

१४. **हिन्दूधर्म का गूढ़ रहस्य या ब्राह्मणशाही की ऊहापोह** - डा. भीमराव अम्बेडकर - कल्चरल पब्लिशर्स, - लखनऊ - १९९४

१५. 'Thoughts on Pakistan' Vol.1-B.R.Ambedakar, Cultural Publishers, Lucknow - 1995:

१६. Hindutva -- V.D. Savarkar, Veer Savarkar Prakashan, Bombay, 1969

महाभारत-सन्दर्भ-संग्रहः

ॐ श्री परमात्मने नमः

अथ श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः

प्रथम एककः

[१]धृतराष्ट्र उवाच

[२]धर्मक्षेत्रे [३]कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
[४]मामकाःपाण्डवाश्चैव[५] [६]किमकुर्वत संजय ।।१ ।।

१. मानुषेषु मनुष्येन्द्र सम्भूता ये दिवौकसः।
प्रथमं दानवांश्चैव तांस्ते वक्ष्यामि सर्वशः ।। आदि. ६७.३/ १.६१.३
अरिष्टायास्तु यः पुत्रो हंस इत्यभिविश्रुतः ।
स गन्धर्वपतिर्जज्ञे कुरुवंशविवर्धनः ।। .८३/१.६१.७७
धृतराष्ट्र इति ख्यातः कृष्णद्वैपायनात्मजः ।
दीर्घबाहुर्महातेजाः प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ।।
मातुर्दोषादृषेः कोपादन्ध एव व्यजायत । .८४/१.६१.७८

२. *धर्मक्षेत्र* इति पदस्य सार्थक्यं विव्रियतेऽत्र-
नातः परतरं पुण्यं भूमेः स्थानं भविष्यति ।
इह तप्स्यन्ति ये केचित्तपः परमकं नराः ।। शल्य. ५३.१७/९.३०१.२

देहत्यागेन ते सर्वे यास्यन्ति ब्रह्मणः क्षयम् ।
ये पुनः पुण्यभाजो वै दानं दास्यन्ति मानवाः ।। शल्य.५३.१८
तेषां सहस्त्रगुणितं भविष्यत्यचिरेण वै ।
यक्ष्यन्ति ये च क्रतुभिर्महद्भिर्मनुजेश्वराः ।। .२०
तेषां त्रिविष्टपे वासो यावद्भूमिर्धरिष्यति ।
अपि चात्र स्वयं शक्रो जगौ गाथां सुराधिपः ।। .२१/९.५२.१७
कुरुक्षेत्रनिबद्धां वै तां श्रृणुष्व हलायुध ।
पांसवोऽपि कुरुक्षेत्राद् वायुना समुदीरिताः ।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ।। .२२/९.५२.१८
सुरर्षभा ब्राह्मणसत्तमाश्च
तथा नृगाद्या नरदेवमुख्याः ।
इष्ट्वा महार्हैः क्रतुभिर्नृसिंहाः
संत्यज्य देहान् सुगतिं प्रपन्नाः ।। .२३/९.५२.१९

३. **कुरुक्षेत्रस्य भौगोलिकः परिचयः -**

तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं
रामहृदानां च मचक्रुकस्य ।
एतत् कुरुक्षेत्रसमन्तपंचकं
प्रजापतेरुत्तरवेदिरुच्यते ।। .२४/९.५२.२०
शिवं महापुण्यमिदं दिवौकसां
सुसम्मतं सर्वगुणैः समन्वितम् ।
अतश्च सर्वे निहता नृपा रणे
यास्यन्ति पुण्यां गतिमक्षयां सदा ।। .२५/९.५२.२१

४. **'मामकाः पाण्डवाश्चैव'......**

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ।। शान्ति. १३.४
किंचिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम् ।
तदेव परितापार्थं सर्वं सम्पद्यते तथा ।। .१७४.४४/१२.२६८.
अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ।
मृत्युमापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम् ।। .१७५.३०/१२.१६९.२८

५. तस्यैवावरजो भ्राता महासत्त्वो महाबलः ।। शान्ति. १७५.८५
पाण्डुरिति विख्यातः सत्यधर्मरतः शुचिः ।

६.१ गीताव्यवहितपूर्वा **किमकुर्वत** इत्यंशस्य अध उद्धृता महाभारतीया विवृतिः प्रमाणयति महाभारते गीतासन्दर्भं निराकरोति स्थानसन्देहं प्रक्षिप्तताक्षेपञ्च ।

धृतराष्ट्र उवाच
केषां प्रहृष्टास्तत्राग्रे योधा युध्यन्ति संजय ।
उदग्रमनसः केवा केवा दीना विचेतसः ।। भीष्म. २४.१/६.२२.१७
के पूर्वं प्रहरंस्तत्र युद्धे हृदयकम्पने ।
मामकाः पाण्डवेया वा तन्ममाचक्ष्व संजय ।। .२/६.२२.१८
कस्य सेना समुदये गन्धमाल्यसमुद्भवः ।
वाचः प्रदक्षिणाश्चैव योधानामभिगर्जताम् ।। .३/६.२२.१९

धृतराष्ट्र उवाच
एवं व्यूढेष्वनीकेषु मामकेष्वितरेषु च ।
के पूर्वं प्रहरंस्तत्र कुरवः पाण्डवा नु किम् ।। भीष्म. ४४.१/६.४२.१

६.२ **मामकाः पाण्डवाश्चैव** इत्यज्ञानजनितमोहनिबन्धः स्वपरव्यवहारस्तन्निष्ठश्च धर्माधर्मरूप-स्वपरपक्षनिश्चयः प्रदर्श्यतेऽत्र यथामहाभारतम् —

अहं त्वचक्षुः कार्पण्यात् पुत्रप्रीत्या सहामि तत् ।
मुह्यन्तं चानुमुह्यामि दुर्योधनमचेतनम् ।। आदि. १.१४५/१.१.९८

असंशयं तेऽपि ममैव पुत्रा
दुर्योधनस्तु मम देहात् प्रसूतः ।
स्वं वै देहं परहेतोस्त्यजेत
को नु ब्रूयात् समतामन्ववेक्ष्य ।। वन. ४.२०/३.५.१८

सुयोधनो मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः ।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे
मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी ।। उद्योग. २९.५२/५.२९.४५

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखा ।
माद्रीपुत्रौ पुष्पफले समृद्धे
मूलं त्वहं ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ।। .५३/५.२९.४६

द्वितीय एककः

(क) [१]संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं [२]दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्।।२।।

१. **संजयस्य विषये प्रास्ताविकं किञ्चित् –**

व्यास उवाच
यदि चेच्छसि संग्रामे द्रष्टुमेतान् विशाम्पते ।
चक्षुर्ददानि ते पुत्र युद्धं तत्र निशामय ।। भीष्म. २. ६/६.२६
धृतराष्ट्र उवाच
न रोचये ज्ञातिवधं द्रष्टुं ब्रह्मर्षिसत्तम ।
युद्धमेतत् त्वशेषेण श्रुणुयां तव तेजसा ।। .७/६.२.७
वैशम्पायन उवाच
एतस्मिन् नेच्छति द्रष्टुं संग्रामं श्रोतुमिच्छति ।
वराणामीश्वरो व्यासः संजयाय वरं ददौ ।। .८/६.२.८
एष ते संजयो राजन् युद्धमेतद् वदिष्यति ।
एतस्य सर्व संग्रामे न परोक्षं भविष्यति ।। भीष्म. २.९/६.२.९
चक्षुषा संजयो राजन् दिव्येनैव समन्वितः ।
कथयिष्यति ते युद्धं सर्वज्ञश्च भविष्यति ।। .१०/६.२.१०
प्रकाशं वाप्रकाशं वा दिवा वा यदि वा निशि।
मनसा चिन्तितमपि सर्वं वेत्स्यति संजयः ।। .११/६.२.११
नैनं शस्त्राणि छेत्स्यन्ति नैनं बाधिष्यते श्रमः।
गावल्गणिरयं जीवन् युद्धादस्माद् विमोक्ष्यते ।। .१२/६.२.१२

२. **अथ दुर्योधनविषये प्रास्ताविकं किञ्चित्-**

कलेरंशस्तु संजज्ञे भुवि दुर्योधनो नृपः ।
दुर्बुद्धिर्दुर्मतिश्चैव कुरूणामयशस्करः ।। आदि. ६७.८७/१.६१.८०

प्रमत्तो ग्राम्यधर्मेषु मन्दात्मा पापनिश्चयः।
मम पुत्रः सुदुर्बुद्धिः पृथिवीं घातयिष्यति ।। वन. ४८.४/३.४६.४

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ।।३।।
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।।४।।
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः।।५।।
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।।६।।

पंच ते भ्रातरः सर्वे धृष्टद्युम्नो च सात्यकिः ।। उद्योग. ५५.६१/५.५४.५८
परेषां सप्त ये राजन् योधाः सारं बलं मतम् ।

(ख) **अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।**
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ।।७।।
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ।।८।।
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।।९।।

द्रष्टव्यं शैली-शब्द-विन्यास-साम्यम् –

अस्माकं तु विशिष्टा ये भीष्मद्रोणकृपादयः। गी. ७-पादावृत्तिः
द्रौणिर्वैकर्तनः कर्णः सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः।।उद्योग.६२/५.५४.५९
प्राग्ज्योतिषाधिपः शल्य आवन्त्यौ च जयद्रथः।। .६३/५.५४.६०
दुःशासनो दुर्मुखश्च दुःसहश्च विशाम्पते ।
श्रुतायुश्चित्रसेनश्च पुरुमित्रो विविंशतिः ।। .६४/५.५४.६१
शलो भूरिश्रवाश्चैव विकर्णश्च तवात्मजः ।

(ग) [1]**अपर्याप्तं तदस्माकं बलं** [2]**भीष्माभिरक्षितम् ।**
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं [3]**भीमाभिरक्षितम् ।। .१०**

१. अक्षौहिण्यो हि मे राजन् दशैका च समाहृताः ।
न्यूनाः परेषां सप्तैव कस्मान्मे स्यात् पराजयः ।। उद्योग.५६. ६५/५.५४.६२ - भावार्थावृत्तिः

२. संजय उवाच
भ्रातृभिः सहितो राजन् पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा प्रययौ सह सेनया ।। भीष्म. ४४.२/६.४२.२
तथैव पाण्डवाः सर्वे भीमसेनपुरोगमाः ।
भीष्मेण युद्धमिच्छन्तः प्रययुर्हृष्टमानसाः ।। .३/६.४२.३

३. भीमसेने च निहते कोऽन्यो युध्येत भारत ।
परेषां तन्ममाचक्ष्व यदि वेत्थ परंतप ।। उद्योग ५५.६०/५.५४.५७ भावार्थव्यासः

(घ) **अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।**
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।।११।।
चित्रसेनेन सहिताः सहिताः पारिभद्रकैः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु सहसैन्यपुरस्कृताः ।। भी. ५१. /६.४७.९ पादावृत्तिः

तृतीय एककः

(क) **तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः[१] ।**
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्[२] ।।१२।।
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।।१३।।
तेषां श्रुत्वा तु हृष्टानां वृद्धः कुरुपितामहः[१] ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्[२] ।। भीष्म. ५१.२२/६.४७.२२ उत्तरार्धावृत्तिःगी.१.१२
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवा विविधाः परे ।
आकाशश्चाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।। भीष्म ४१.२३/६.४७.२३-सपरिष्कारावृत्तिः
ततो भेर्यश्च पेश्यश्च क्रकचागोविषाणिकाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त ततः शब्दो महानभूत् ।। /६.४२.२ गी.१३-भावार्थावृत्तिः
ततस्ते तावकाः सर्वे हृष्टा युद्धाय भारत ।
दध्मुः शंङ्खान्मुदा युक्ताः सिंहनादांश्च नादयन् ।। /६.४७.१९ भावार्थवृत्तिः शैलीसाम्यञ्च

(ख) **ततः [१]श्वेतैर्हयैर्युक्ते [२]महति स्यन्दने स्थितौ ।**
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ [३]शङ्खौ प्रदध्मतुः ।।१४।।
[१]ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते [२]महति स्पन्दने स्थितौ ।
[३]प्रदध्मतुः शंखवरौ हेमरत्नपरिष्कृतौ ।। भीष्म २४/६.४७(पूर्वार्धावृत्तिःभावार्थसंग्रहश्च

न हि तं वेद पार्थोऽपि भ्रातरं श्वेतवाहनः ।
नाहं न भीमो न यमौ स त्वस्मान् वेद सुव्रतः ।। शान्ति. १.२५/१२.१.२५ गी.१.१४, श्वेतवाहनः

(ग) **[1]पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।**
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ।।१५।।
[2]अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।।१६।।

आवृत्तिः भीष्म. ५१.२५-२६/६.४७.२५-२६

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः[3] ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः[4] ।।१७।।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्[5] ।।१८।।

काशिराजश्च शैव्यश्च शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्च महारथः ।। भीष्म. ५१.२७/६.४७.२७ पादांशव्यतिरेक्यावृत्तिः,
उत्तरार्धवृत्तिः गी.१७

अग्नेर्भागं तु विद्धि त्वं धृष्टद्युम्नं महारथम् ।
शिखण्डिनमथो राजन् स्त्रीपूर्वं विद्धि राक्षसम् ।। आ. ६७.१२६/१.६१.८७ गी.१७ विवरणम्
पांचाल्याश्च महेष्वासा द्रौपद्याः पंच चात्मजाः ।
सर्वे दध्मुर्महाशङ्खान् सिंहनादांश्च नेदिरे ।। भी. ५१.२८/६.४७.२८

भावार्थवृत्तिः गी.१८

(घ) **स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।**
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।।१९।।

स घोषः सुमहांस्तत्र वीरैस्तैः समुदीरितः ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयत् ।। भीष्म. ५१.२९/६.४७.२९

गी.१.१९ उत्तरार्धवृत्तिः

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।।२०।।
हृषीकेषं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।।२१।।

चतुर्थ एककः

(क) अर्जुन उवाच

(सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत)।। २१ ।।
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे।।२२।।
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ।।२३।।

(ख) संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।।२४।।
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ।।२५।।

(ग) तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।।२६।।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।।२७।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

दृष्टव्यमत्र 'कृप्' धात्वर्थकपदानां प्रयोगः –

एषां यायावराणां तु धर्ममिच्छामि मानद ।
कृपया परयाऽऽविष्टस्तन्मे ब्रूहि महेश्वर ।। अनु. १४२.३३, पृ. ५९३१
ततोऽहं कृपयाविष्टो विष्टभ्यात्मानमात्मना ।
धिग्धिगित्यब्रुवं युद्धं क्षत्रधर्मं च भारत ।। उद्योग. १७९.३६
अहं त्वचक्षुः कार्पण्यात् पुत्रप्रीत्या सहामि तत् ।
मुह्यन्तं चानुमुह्यामि दुर्योधनमचेतनम् ।। आदि. १.१४५
कृपणान् सततं दृष्टवा ततः संजायते कृपा ।
धर्मनिष्ठां यदा वेत्ति तदा शाम्यति सा कृपा ।। शान्ति. १६३.२०
स तथाऽऽ शु महातेजाः कृत्वा निःक्षत्रियां महीम् ।
कृपया परयाविष्टो वनमेव जगाम ह ।। शान्ति. ४९.५४-५५

(घ) अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।।२८।।
[1]सीदन्ति मम गात्राणि [2]मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।।२९।।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं [3]भ्रमतीव च मे मनः ।।३०।।

१. प्रहर्षं पाण्डवेयानां श्रुत्वा मम महद् भयम् ।
सीदन्ति मम गात्राणि मुमूर्षोरिव पार्थिवाः ।। द्रोण. ७४.९ पादावृत्तिः भावार्थावृत्तिश्च
२. मा कृथाः पुरुषव्याघ्र शोकं त्वं गात्रशोषणम् ।
न हि ते सुलभा भूयो ये हतास्मिन् रणाजिरे ।। शान्ति. २९.८
३. व्यलीकमपि यत् त्वत्र चित्तवैतंसिकं तव ।
तदर्थमिष्यते राजन् प्रायश्चित्तं तदाचर ।। शान्ति. ३३.२४

[1]निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
[2]न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।।३१।।

१. मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति ।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः ।। शान्ति. २२८.२ भावार्थावृत्ति
२. शास्त्रं यदि भवेदेकं श्रेयो व्यक्तं भवेत् तदा ।
शास्त्रैश्च बहुभिर्भूयः श्रेयो गुह्यं प्रवेशितम् ।। शान्ति.२८७.१०/१२.२७६.१०
एतस्मात् कारणाच्छ्रेयः कलिलं प्रतिभाति मे ।
ब्रवीतु भगवांस्तन्मे उपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः ।। .११/१२.२७६.११
न यान्ति चैव ते सम्यगभिप्रेतमसंशयम् ।
अन्ये पश्यंस्तथा सम्यगाश्रमाणां परां गतिम् ।। .१४
यत् तु निःश्रेयसं सम्यक् तच्चैवासंशयात्मकम् । /१२.२७६.१४
अनुग्रहं च मित्राणाममित्राणां च निग्रहम् ।
संग्रहं च त्रिवर्गस्य श्रेय आहुर्मनीषिणः ।। .१५/१२.२७६.१५
निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता ।
सद्भिश्च समुदाचारः श्रेय एतदसंशयम् ।। .१७/१२.२७६.१६

पञ्चम एककः

(क) न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।।३२।।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।।३३।।

[1]आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।।३४।।

[2]एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।।३५।।

१. उपाध्यायं पितरं मातरं च
येऽभिद्रुह्यन्ते मनसा कर्मणा वा ।
तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं
तस्मान्नान्यः पापकृदस्ति लोके ।। शान्ति. १०८.३० गी.१.३५/१२.१०९.२६

२. धननाशाद् दुःखतरं जीविताद् विप्रयोजनम् ।
अयं ते रोचतां धर्म इति वाच्यः प्रयत्नतः ।। शान्ति. १०९.२६ गी.१.३६/१२.१११०.२३

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।।३६।।

न कश्चिदस्ति पापानां धर्म इत्येष निश्चयः ।
तथागतं च यो हन्यान्नासौ पापेन लिप्यते ।। शान्ति. १०९.२ आततायिलक्षणम्
स्वकर्मणा हतं हन्ति हत एव स हन्यते ।
तेषु यः समयं कश्चित् कुर्वीत हतबुद्धिषु ।। शा.प.१०९.२८ गी.१.३६, समान प्रश्न

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।।३७।।

(ख) यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।।३८।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।।३९।।

पश्ये दोषं ध्रुवं युद्धे तथा युद्धे पराभवम्।
अधनस्य मृतं श्रेयो न हि ज्ञातिक्षयो जयः।। १४४.१३
न पुत्रः पितरं जज्ञे पिता वा पुत्रमौरसम्।
न भ्राता भ्रतारं तत्र स्वस्त्रीयं न च मातुलः।। भीष्म. ४६.२
न मातुलं च स्वस्त्रीयो न सखायं सखा तथा ।
आविष्टा इव युध्यन्ते पाण्डवाः कुरुभिः सह।। .३

(ग) **कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।**
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।।४०।।
प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।। शान्ति. १०९.१०/१२.११०.१०
धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यः स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ।। शान्ति. १०९.११
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यादहिंसासम्पृक्तः स धर्म इति निश्चयः ।। .१२

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ।।४१।।

यथा शूद्रोऽपि ब्राह्मण्यां जन्तु बाह्यं प्रसूयते ।
एवं बाह्यतराद् बाह्यश्चातुर्वर्ण्यात् प्रजायते ।। अनु. ४८.१७
प्रतिलोमं तु वर्धन्ते बाह्याद् बाह्यतरात् पुनः ।
हीनाद्धीनाः प्रसूयन्ते वर्णाः पंचदशैव तु ।। .१८
अगम्यागमनाच्चैव जायते वर्णसंकरः ।
बाह्यानामनुजायन्ते सैरन्ध्र्यां मागधेषु च ।
प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम् ।। .१९
इत्येते संकरे जाताः पितृमातृव्यतिक्रमात् ।
प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः।। .२९
चतुर्णामेव वर्णानां धर्मो नान्यस्य विद्यते ।
वर्णानां धर्महीनेषु संख्या नास्तीह कस्यचित्।। .३०

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।४२।।

पापकर्मतया चैव संकरं तेन पुष्यति ।
संकरो नरकायैव सा काष्ठा पापकर्मणाम् ।। उद्योग. ७२.३३
न चेत् प्रबुध्यते कृष्ण नरकायैव गच्छति ।
तस्य प्रबोधः प्रज्ञैव प्रज्ञाचक्षुस्तरिष्यति ।। .३४
देववंशान् पितृवंशान् ब्रह्मवंशांश्च शाश्वतान् ।
संत्यज्य मूढा वर्तन्ते ततो यान्त्यश्रुतीपथम् ।। शान्ति. ११.१७/१२.११.१७
चातुर्वर्ण्यस्य धर्माणां संकरो न प्रशस्यते ।
अविकारितमं सत्यं सर्ववर्णेषु भारत ।। . १६२.३./१२.१५६.३

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।।४३।।
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।।४४।।
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।।४५।।

धर्मादधर्मो बलवान् सम्प्राप्त इति मे मतिः ।
यत्र वृद्धं गुरुं हत्वा राज्यमिच्छन्ति पाण्डवाः ।। भीष्म. १४.४६
दारुणः क्षत्रधर्मोऽयमृषिभिः सम्प्रदर्शितः ।
यत्र शान्तनवं हत्वा राज्यमिच्छन्ति पाण्डवाः ।। .६४
न च मुञ्चति मां शोको ज्ञातिघातिनमातुरम् ।
राज्यकामुकमत्युग्रं स्ववंशोच्छेदकारिणम् ।। शान्ति. २७.३/१२.२७.३
एकं हत्वा यदि कुले शिष्टानां स्यादनामयम् ।
कुलं हत्वा च राष्ट्रं च न तद् वृत्तोपघातकम् ।। ३३.३१/१२.३४.१९
अधर्मरूपो धर्मो हि कश्चिदस्ति नराधिप ।
धर्मश्चाधर्मरूपोऽस्ति तच्च ज्ञेयं विपश्चिता ।। ३३.३२/१२.३४.२०
अर्थहितोर्नरश्रेष्ठ क्रियते कर्म कुत्सितम् ।
धिगर्थान् यत्कृते ह्येवं क्रियते ज्ञातिसंक्षयः ।। भीष्म. ९६.५/६.९२.५ भावसंग्रहः

षष्ठ एककः

(क) **यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।**
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।४६।।

(ख) संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।।४७।।
यदाश्रौषं कश्मलेनाभिपन्ने
रथोपस्थे सीदमानेऽर्जुने वै ।
कृष्णं लोकान् दर्शयानं शरीरे
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। आदि. १.१८१ अर्थसंग्रहः

I. (क) स्वजनक्षेमानुरक्त-कुलमर्यादाश्रित-चिन्तनप्रस्थानम् (ख) निरुपाधिक-श्रेयोभावनाया विस्तीर्यमाणार्थस्य चेतना (ग) सम्बन्धनिरासमुखेन तस्या उपपत्तिः – गीताया द्वन्द्वात्मक-चिन्तनस्य त्रिपुट्यैषा महाभारते पूर्णरूपेण विकसिता दृश्यते निदर्श्यते चात्र –

(स्वजनक्षेमानुरक्त-कुलमर्यादाश्रित-चिन्तनप्रस्थान (ख) निरुपाधिक-श्रेयोभावना की विस्तीर्यमाण अर्थ की चेतना (ग) सम्बन्धनिरासमुखेन उसकी सिद्धि —गीता के द्वन्द्वात्मक चिन्तनस्य की यह त्रिपुटी महाभारत में पूर्णरूपेण विकसित देखी जा सकती है)

क. पापानुबन्धं को नु तं कामयेत
क्षमैव ते ज्यायसी नोत भोगाः ।
यत्र भीष्मः शान्तनवो हतः स्याद्
यत्र द्रोणः सहपुत्रो हतः स्यात् ।। उद्योग. २७.२४/५.२७.२४
कृपः शल्यः सौमदत्तिर्विकर्णो
विविंशतिः कर्णदुर्योधनौ च ।
एतान् हत्वा कीदृशं तत् सुखं स्याद्
यद् विन्देथास्तदनु ब्रूहि पार्थ ।। .२५/५.२७.२४
लब्ध्वापीमां पृथिवीं सागरान्तां
जरामृत्यू नैव हि त्वं प्रजह्याः ।
प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राज-
न्नेवं विद्वान् नैव युद्धं कुरु त्वम् ।। उद्योग.२६/५.२७.२६
अधनस्य मृतं श्रेयो न च ज्ञातिवधाद् धनम् ।
किं नु प्राप्स्यामहे कृष्ण हत्वा ज्ञातीन् समागतान् ।। भीष्म. ९६.६
सौभद्रं द्रौपदेयांश्च घातयित्वा सुतान् प्रियान् ।
जयोऽयमजयाकारो भगवन् प्रतिभाति मे ।। शान्ति. १.१५/१२.१.१५

हताः पुत्राश्च पौत्राश्च भ्रातरः पितरस्तथा ।
श्वशुरा गुरवश्चैव मातुलाश्च पितामहाः ।। ३३.१/१२.३३.१
क्षत्रियाश्च महात्मानः सम्बन्धिसुहृदस्तथा ।
वयस्या भागिनेयाश्च ज्ञातयश्च पितामह ।। .२/१२.३३.२
बहवश्च मनुष्येन्द्रा नानादेशसमागताः ।
घातिता राज्यलुब्धेन मयैकेन पितामह ।। .३/१२.३३.२
त्रैलोक्यस्यापि राज्येन नास्मान् कश्चित्प्रहर्षयेत् ।
बान्धवान् निहतान् दृष्टवा पृथिव्यां विजयैषिणः ।। .७.८/१२.७.८
अमित्रा न समृद्धार्था वृत्तार्थाः कुरवः किल ।
आत्मानमात्मना हत्वा किं धर्म फलमाप्नुमः ।। .४/१२.७.५
इदं मम महद् दुःखं वर्तति हृदि नित्यदा ।
कृत्वा ज्ञातिक्षयमिमं महान्तं लोभकारितम् ।। शा. १.१४/१२.१.१४
न च मुञ्चति मां शोको ज्ञातिघातिनमातुरम् ।
राज्यकामुकमत्युग्रं स्ववंशोच्छेदकारिणम् ।। २७.३/१२.२७.३
बहवश्च मनुष्येन्द्रा नानादेशसमागताः ।
घातिता राज्यलुब्धेन मयैकेन पितामह ।। ३३.३/१२.३३.३

ख. न निकृत्या न दम्भेन ब्रह्मन् इच्छामि जीवितुम् ।
नाधर्मयुक्तानिच्छेयमर्थान् सुमहतोऽप्यहम् ।। शान्ति. १०६.१/१२.१०७.१
आनृशंस्येन धर्मेण लोके ह्यस्मिन् जिजीविषुः ।
नाहमेतदलं कर्तुं नैतत् त्वय्युपपद्यते ।। .३/१२.१०७.३

ग. कुशलाकुशलान्येके कृत्वा कर्माणि मानवाः ।
कार्यकारणसंश्लिष्टं स्वजनं नाम बिभ्रति ।। शान्ति. ९.३०/१२.९.३०
यस्त्ववध्यवधे दोषः स वध्यस्यावधे स्मृतः ।
सा चैव खलु मर्यादा यामयं परिवर्जयेत् ।। .१४२.२७

II. **युद्धे कुलजनानां विनाशेन कुलधर्मस्य उच्छेदो भविष्यतीति अर्जुनस्य कुलधर्मचिन्ता तद्हेतुकं युद्धोपरतिचिन्तनं हि गीतायाः प्रथमाध्यायस्य विषयः। कुलधर्मोपलक्षित-संस्थागतधर्मस्य अपर्याप्तता हि गीतोपदेशस्य प्रस्थानं पूर्वपक्षो वा। महाभारते स्थाने स्थाने संस्थागतस्य समीक्षा, अस्य अपर्याप्ततास्थानानां विशदं निदर्शनं कृतो वर्तते। तदेवोदाह्रियते संकलेनानेन।**

कुलधर्मोपलक्षित संस्थागतधर्म की अपर्याप्तता गीतोपदेश का प्रस्थानबिन्दु अथवा पूर्वपक्ष है. महाभारत में स्थान-स्थान पर धर्म की संस्थागत अवधारण की समीक्षा, शास्त्रों के मार्गदर्शन की अपर्याप्तता, तथा उससे उत्पन्न होते संदेह और अनास्था का विशद वर्णन मिलता है. इनसे गीता धर्मदर्शन के सैद्धान्तिक पूर्वपक्ष को समझने में मदद मिलती है. अतः महाभारत के कुछ चुने हुए स्थलों को यहां उद्धृत किया जारहा है

गुरुः प्लावयिता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते ।
विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं त्यजेत् ।। शान्ति.३२६.२३ संस्थागतस्य सीमितप्रायोजकता
धर्मश्रुतिसमुत्कर्षो धर्मसेतुरनामयः ।
आर्षो वै शाश्वतो नित्यमव्ययोऽयं मया श्रुतः ।। अनु. ९४.४८ सनातनधर्मस्य परिकल्पना
मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत् ।। आस्थायाः वैयक्तिकसन्दर्भाः
अनुक्रोशादधर्मं च जयेद्धर्ममुपेक्षया ।
आयत्या च जयेदाशामर्थं सङ्गविवर्जनात् ।। शान्ति./१२.२६६.९
इमानि हि प्राणयन्ति सृजन्त्युत्तारयन्ति च ।
न धर्मः परिपाठेन शक्यो भारत वेदितुम् ।। शान्ति.२६०.३ संदेहवादः
अन्यो धर्मः समस्थस्य विषमस्थस्य चापरः ।
आपदस्तु कथं शक्याः परिपाठेन वेदितुम् ।। शा.प.२६०.४
सदाचारो मतो धर्मः सन्तस्त्वाचारलक्षणाः ।
साध्यासाध्यं कथं शक्यं सदाचारो ह्यलक्षणः ।। शान्ति. २६०.५/१२.२५२.५
दृश्यते हि धर्मरूपेणाधर्मं प्राकृतश्चरन् ।
धर्मं चाधर्मरूपेण कश्चिदप्राकृतश्चरन् ।। .६ /१२.२५२.६
पुनरस्य प्रमाणं हि निर्दिष्टं शास्त्रकोविदैः ।
वेदवादाश्चानुयुगं ह्रसन्तीतीह नः श्रुतम् ।। .७ /१२.२५२.७
अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे ।
अन्ये कलियुगे धर्मा यथाशक्ति कृता इव ।। .८ /१२.२५२.८
आम्नायवचनं सत्यमित्ययं लोकसंग्रहः ।
आम्नायेभ्यः पुनर्वेदाः प्रसृताः सर्वतोमुखाः ।। .९/१२.२५२

ते चेत् सर्वप्रमाणं वै प्रमाणं ह्यत्र विद्यते ।
प्रमाणेऽप्यप्रमाणेन विरुद्धे शास्त्रता कुतः ।। शान्ति .२६० १०
धर्मस्य क्रियमाणस्य बलवद्भिर्दुरात्मभिः ।
या या विक्रियते संस्था ततः सापि प्रणश्यति ।। .२६० .११
विद्म चैवं न वा विद्म शक्यं वा वेदितुं न वा ।
अणीयान् क्षुरधाराया गरीयानपि पर्वतात् ।। .२६०.१२
गन्धर्वनगराकारः प्रथमं सम्प्रदश्यति ।
अन्वीक्ष्यमाणः कविभिः पुनर्गच्छत्यदर्शनम् ।। .२६०.१३
निपानानीव गोभ्योऽपि क्षेत्रे कुल्ये च भारत ।
स्मृतिर्हि शाश्वतो धर्मो विप्रहीणो न दृश्यते ।। .२६०.१४
कामादन्येच्छया चान्ये कारणैरपरैस्तथा ।
असन्तोऽपि वृथाचारं भजन्ते बहवोऽपरे ।। .१५
महाजना ह्युपावृत्ता राजधर्मं समाश्रिताः ।
न हि सर्वहितः कश्चिदाचारः सम्प्रवर्तते ।। .१७
तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरं बाधते पुनः ।
दृश्यते चैव स पुनस्तुल्यरूपो यदृच्छया ।। शान्ति. २६०.१८
येनैवान्यः प्रभवति सोऽपरानपि बाधते ।
आचाराणामनैकाग्र्यं सर्वेषामुपलक्षयेत् ।। .१९
चिराभिपत्रः कविभिः पूर्वं धर्म उदाहृतः ।
तेनाचारेण पूर्वेण संस्था भवति शाश्वती ।। .२०
शास्त्रं यदि भवेदेकंश्रेयो व्यक्तंभवेत् तदा ।
शास्त्रैश्च बहुभिर्भूयः श्रेयो गुह्यं प्रवेशितम् ।। शान्ति. २८७.१०
एतस्मात् कारणाच्छ्रेयः कलिलं प्रतिभाति मे ।
ब्रवीतु भगवांस्तन्मे उपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः ।। .११
न यान्ति चैव ते सम्यगभिप्रेतमसंशयम् ।
अन्ये पश्यंस्तथा सम्यगाश्रमाणां परां गतिम् ।। .१४

यत् तु निश्रेयसं सम्यक् तच्चैवासंशयात्मकम् ।
अनुग्रहं च मित्राणाममित्राणां च निग्रहम् ।। .१५
संग्रहं च त्रिवर्गस्य श्रेय आहुर्मनीषिणः ।। .१६
निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता ।
सद्भिश्च समुदाचारः श्रेय एतदसंशयम् ।। .१७
मार्दवं सर्वभूतेषु व्यवहारेषु चार्जवम् ।
वाक् चैव मधुरा प्रोक्ता श्रेय एतदसंशयम् ।। .१८
सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यज्ञानं तु दुष्करम् ।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं ब्रवीम्यहम् ।। .२०
अहंकारस्य च त्यागः प्रमादस्य च निग्रहः ।
संतोषश्चैकचर्या च कूटस्थं श्रेय उच्यते ।। .२१
धर्मेण वेदाध्ययनं वेदान्तानां तथैव च ।
ज्ञानार्थानां च जिज्ञासा श्रेय एतदसंशयम् ।। .२२
शब्दरूपरसस्पर्शान् सह गन्धेन केवलान् ।
नात्यर्थमुपसेवेत श्रेयसोऽर्थी कथंचन ।। .२३
अतियोगमयोगं च श्रेयसोऽर्थी परित्यजेत् ।। .२४

III. युद्धस्य विभीषिकायाः तज्जनितमहाभारतपरिमाणदुःखस्य सम्पूर्णचेतनां विना भगवतः कृष्णस्य निरुपाधिककरुणाप्रसररूपायाः गीतायाः प्रभवः सम्यगर्थावगतिश्चासम्भवौ। अर्जुनगांधार्युपलक्षितविभीषिकाचेतनैषा महाभारतयुद्धस्योपक्रमोपसंहारभूता गीतातात्पर्य-निर्धारणेऽविभाज्यसन्दर्भरूपेण प्रासङ्गिकतां निदर्शयति महाभारतस्य। अपेक्षितदुःखचेतनां विना असम्भवा सम्यग् गीतार्थावगतिरित्यालोच्य सविस्तरमुद्धृतो वर्ततेऽत्र महाभारत-युद्धानन्तरं कृष्णेन सह गांधार्याः युद्धभूमिनिरीक्षणं कारुणिकं, यदेकवाक्यतामाश्रयत् गीतायामर्जुनस्य विषादोपक्रमेण सह, निकटतया दर्शयति, विवृणोति प्रमाणयति च गीतोपदेशस्य भावभूमिम् ।

युद्ध की विभीषिका, तज्जनित महाभारत-परिमाण दुःख के बोझ की सम्पूर्ण चेतना के बिना भगवान् श्रीकृष्ण की निरुपाधिक करुणा के विगलित प्रवाहरूप श्रीमद्भगवद्गीता का न तो प्रादुर्भाव सम्भव था, और न ही सम्यक् अर्थावगति ही सम्भव है. अर्जुन और गांधारी के कुरुक्षेत्र के साक्षात्कार से उपलक्षित, महाभारत युद्ध के उपक्रम और उपसंहार रूप

युद्धविभीषिका के ये चेतनापर्याय, श्रीमद्भगवद्गीता के तात्पर्यार्थ के निर्धारण में, अविभाज्य सन्दर्भ के रूप में महाभारत की प्रसंगिकता का निदर्शन कराते हैं. अपेक्षित दुःखचेतना के बिना गीता के मर्म को ठीक से नहीं समझा जा सकता, इस बात को ध्यान में रखते हुए, महाभारत युद्ध की समाप्ति पर कुरुक्षेत्र के भयावह यथार्थ से गांधारी के कारुणिक साक्षात्कार को विस्तार से हिन्दी अनुवाद सहित यहां उद्धृत किया जा रहा है. अर्जुन के मनस्ताप की भांति, गांधारी का मनस्ताप भी कृष्ण को ही सम्बोधित है और अर्जुन के विषादोपक्रम से जुड़ता हुआ, यह गीतोपदेश की भावभूमि का निकट से निदर्शन करता है, उसको व्याख्यायित और प्रमाणित करता है.

ताः समाश्वासयत् क्षत्ता ताभ्यश्चार्ततरः स्वयम् ।
अश्रुकण्ठीः समारोप्य ततोऽसौ निर्ययौ पुरात् ।। स्त्री. १०.६
प्रगृह्य बाहून् क्रोशन्त्यः पुत्रान् भ्रातृन् पितृनपि ।
दर्शयन्तीव ता ह स्म युगान्ते लोकसंक्षयम् ।। .१२

विदुरजी ने उन सब स्त्रियों को आश्वासन दिया. वे स्वयं भी उनसे अधिक आर्त हो गये थे. आंसुओं से गद्‌गद् कण्ठ हुई उन सबको रथ पर चढा कर वे नगर से बाहर निकले. एक दूसरी के हाथ पकड़ कर पुत्रों, भाइयों और पिताओं के नाम ले-लेकर रोती हुई वे कुरुकुल की नारियाँ प्रलयकाल में लोक-संहार का दृश्य दिखाती हुई सी जान पडती थीं.

विलपन्त्यो रुदत्यश्च धावमानास्ततस्ततः ।
शोकेनोपहतज्ञानाः कर्तव्यं न प्रजज्ञिरे ।। .१३
व्रीडां जग्मुः पुरा याः स्म सखीनामपि योषितः ।
ता एकवस्त्रा निर्लज्जाः श्वश्रूणां पुरतो भवन् ।। .१४
परस्परं सुसूक्ष्मेषु शोकेष्वाश्वासयंस्तदा ।
ताः शोकविह्वला राजन्नवैक्षन्त परस्परम् ।। .१५

शोक से उनकी ज्ञानशक्ति लुप्त-सी हो गई थी. वे रोती और विलाप करती हुई इधर-उधर दौड़ रही थीं. उन्हें कोई कर्तव्य नहीं सूझ रहा था. जो युवतियाँ पहले सखियों के सामने आने में भी लजाती थीं, वे ही उस दिन लाज छोडकर एक वस्त्र धारण किये अपनी सासुओं के सामने उपस्थित हो गई थीं. राजन्! जो नारियाँ छोटे-से-छोटे शोक में भी एक दूसरी के पास जाकर आश्वासन दिया करती थीं, वे ही शोक से व्याकुल हो परस्पर दृष्टिपात मात्र कर रही थीं.

रक्तोत्पलवनानीव विभान्ति रुचिराणि च ।
मुखानि परमस्त्रीणां परिशुष्काणि केशव ।। स्त्री. १६.४३
श्यामानां वरवर्णानां गौरीणामेकवाससाम् ।
दुर्योधनवरस्त्रीणां पश्य वृन्दानि केशव ।। .४६
आसामपरिपूर्णार्थं निशम्य परिदेवितम् ।
इतरेतरसंक्रन्दान्न विजानन्ति योषितः ।। .४७

केशव! इन सुन्दरियों के सूखे हुए सुन्दर मुख लाल कमलों के समूह की भांति शोभा पा रहे हैं. 'केशव! सुन्दर कान्ति से सम्पन्न, एकवस्त्रधारिणी तथा श्याम, गौरवर्णवाली, दुर्योधन की इन सुन्दरी स्त्रियों की टोलियों को देखो. एक दूसरी की रोदन-ध्वनि से मिल जाने के कारण इनके विलाप का अर्थ पूर्णरूप से समझ में नहीं आता, उसे सुनकर अन्य स्त्रियाँ भी कुछ नहीं समझ पा रही हैं.

शरः कायेन संधाय प्रेक्षमाणा विचेतसः ।
अपश्यन्त्यो परं तत्र नेदमस्येति दुःखिताः ।। स्त्री. १६.५२
बाहूरुचरणानन्यान् विशिखोन्मथितान् पृथक् ।
संदधत्योऽसुखाविष्टा मूर्च्छन्त्येताः पुनः पुनः ।। .५३

'कितनी ही अचेत-सी होकर, स्वजनोंकी खोज करनेवाली स्त्रियां, एक मस्तक को निकटवर्ती धड़ के साथ जोड़ कर देखती हैं, और जब वह मस्तक उससे नहीं जुड़ता, तथा दूसरा कोई मस्तक वहां देखने में नहीं आता, तो वे दुखी होकर कहने लगती हैं कि यह तो उनका सिर नहीं है. बाणों से कट-कट कर अलग हुई बांहों, जांघों और पैरों को जोडती हुई ये दुखी अबलाएँ बारंबार मूर्छित हो जाती हैं.

अमर्षणं युधां श्रेष्ठं कृतास्त्रं युद्धदुर्मदम् ।
शयानं वीरशयने पश्य माधव मे सुतम् ।। स्त्री. १७.१०
यो यं मूर्धाभिषिक्तानामग्रे याति परंतपः ।
सोऽयं पांसुषु शेतेऽद्य पश्य कालस्य पर्ययम् ।। .११

'माधव ! अमर्षशील, योद्धाओं में श्रेष्ठ, अस्त्रविद्या के ज्ञाता, रणदुर्मद तथा वीरशय्या पर सोये हुए मेरे इस पुत्र को देखो तो सही. शत्रुओं को सन्ताप देने वाला जो दुर्योधन, मूर्धाभिषिक्त राजाओं के आगे आगे चलता था, वही आज धूल में लोट रहा है. काल के इस विपर्यास को देखो.

प्रकीर्णकेशां सुश्रोणीं दुर्योधनशुभाङ्गगाम् ।
रुक्मवेदीनिभां पश्य कृष्ण लक्ष्मणमातरम् ।। .२५

नूनमेषा पुरा बाला जीवमाने महीभुजे ।
भुजावाश्रित्य रमते सुभुजस्य मनस्विनी ।। .२६

श्रीकृष्ण ! सुवर्ण की वेदी के समान तेजस्विनी तथा सुन्दर कटि-प्रदेशवाली उस लक्ष्मण की माता को तो देखो, जो दुर्योधन के शुभ-अङ्क में स्थित हो केश खोले रो रही है. पहले जब राजा दुर्योधन जीवित था, तब निश्चय ही यह मनस्विनी बाला सुन्दर बाँहों वाले अपने वीर पति की दोनों भुजाओं का आश्रय लेकर इसी तरह उसके साथ सानन्द क्रीड़ा करती रही होगी.

कथं नु शतधा नेदं हृदयं मम दीर्यते ।
पश्यन्त्या निहतं पुत्रं पुत्रेण सहितं रणे ।। स्त्री..२७
पुत्रं रुधिरसंसिक्तमुपजिघ्रत्यनिन्दिता ।
दुर्योधनं तु वामोरूः पाणिना परिमार्जति।। .२८

'रणभूमि में वही मेरा पुत्र अपने पुत्र के साथ ही मार डाला गया है, इसे इस अवस्था में देखकर मेरे इस हृदय के सैकड़ों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते? 'सुन्दर जाँघों वाली मेरी सती साध्वी पुत्रवधू कभी खून से भींगे हुए अपने पुत्र लक्ष्मण का मुँह सूँघती है, तो कभी पति दुर्योधन का शरीर अपने हाथ से पोंछती है.

इदं दुःखतरं मेऽद्य यदिमा मुक्तमूर्धजाः ।
हतपुत्रा रणे बालाः परिधावन्ति मे स्नुषाः ।। स्त्री. १८.२
अन्या चापहृतं कायाच्चारुकुण्डलमुन्नसम् ।
स्वस्य बन्धोः शिरः कृष्ण गृहीत्वा पश्य तिष्ठतीम् ।। .१०

सबसे अधिक दुःख मुझे आज यह देख कर हो रहा है कि ये मेरी बाल वधुएं, जिनके पुत्र भी मारे जा चुके हैं, रणभूमि में केश खोले चारों ओर अपने स्वजनों की खोज में दौड़ रही हैं. श्रीकृष्ण ! देखो, वह दूसरी स्त्री किसी आत्मीय जन के मनोहर कुण्डलों से सुशोभित और ऊंची नासिका वाले कटे हुए मस्तक को लेकर खड़ी है.

अस्य चापग्रहेणैव पाणिः कृतकिणो महान् ।
कथञ्चिच्छिद्यते गृध्रैरत्तुकामैस्तलत्रवान् ।। स्त्री. १९.३
अस्य भार्याऽऽमिषप्रेप्सून् गृध्रकाकांस्तपस्विनी ।
वारयत्यनिशं बाला न च शक्नोति माधव ।। .४
तस्यैतद् वदनं कृष्ण श्वापदैरर्धभक्षितम् ।
विभात्यभ्यधिकं तात सप्तम्यामिव चन्द्रमाः ।। .८

बराबर धनुष लिये रहने से इसकी विशाल हथेली में घट्ठा पड गया है. इसके हाथ में इस समय भी दस्ताना बँधा हुआ है; इसलिये इसे खाने की इच्छावाले गीध बडी कठिनाई से जैसे तैसे उसे काट पाते हैं. माधव ! उसकी तपस्विनी पत्नी जो अभी बालिका है, मांसलोलुप गीधों और कौओं को हटाने की निरन्तर चेष्टा करती है; परंतु सफल नहीं हो पाती है. तात श्रीकृष्ण! इसका यह मुख हिंसक जन्तुओं द्वारा आधा खा लिया गया है, इसलिये सप्तमी के चन्द्रमा की भाँति सुशोभित हो रहा है.

तस्योपलक्षये कृष्ण कार्ष्णेरमिततेजसः ।
अभिमन्योर्हतस्यापि प्रभा नैवोपशाम्यति ।। स्त्री. २०.३
एषा विराटदुहिता स्नुषा गाण्डीवधन्वनः ।
आर्ता बालं पतिं वीरं दृष्ट्वा शोचत्यनिन्दिता ।। .४

श्रीकृष्ण ! मैं देख रही हूँ कि मारे जाने पर भी अमित तेजस्वी अर्जुनपुत्र अभिमन्यु की कान्ति अभी बुझ नहीं पा रही है. यह राजा विराटकी पुत्री और गाण्डीवधारी अर्जुन की पुत्रवधू सती साध्वी उत्तरा अपने बालक पति वीर अभिमन्यु को मरा देख आर्त होकर शोक प्रकट कर रही है.

तमेषा हि समागम्य भार्या भर्तारमन्तिके ।
विराटदुहिता कृष्ण पाणिना परिमार्जति ।। .५
अवेक्षमाणा तं बाला कृष्ण त्वामभिभाषते ।
अयं ते पुण्डरीकाक्ष सदृशाक्षो निपातितः ।। २०.९
तस्य शोणितदिग्धान् वै केशानुद्यम्य पाणिना ।
उत्संगे वक्त्रमाधाय जीवन्तमिव पृच्छति ।। .१६
कथं नु पाण्डवानां च पंचालानां तु पश्यताम् ।
त्वं वीर निधनं प्राप्तो नाथवान् सन्ननाथवत् ।। .२०

श्रीकृष्ण ! यह विराट की पुत्री और अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा अपने पति के निकट जा उसके शरीर पर हाथ फेर रही है. उसे देखती हुई वह बाला तुमसे पुकार कर कहती है, 'हे कमलनयन! आपके जैसे नेत्रों वाला, यह आपका भानजा रणभूमि में मार गिराया गया हैं. जनार्दन ! देखो, अभिमन्यु के सिर को गोदी में रख कर उत्तरा उसके खून से सने हुए केशों को हाथ से उठा-उठाकर सुलझाती है और मानो वह जी रहा हो, इस प्रकार उससे पूछती है. 'वीर ! आप पाण्डवों और पाञ्चालों के देखते-देखते, सनाथ होते हुए भी अनाथ की भाँति कैसे मारे गये?

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानप्सराभिः समेयिवान् ।
सौभद्र विहरन् काले स्मरेथाः सुकृतानि मे।। स्त्री.२०.२७
एतावानिह संवासो विहितस्ते मया सह ।
षण्मासान् सप्तमे मासि त्वं वीर निधनं गतः ।। .२८
इत्युक्तवचनामेतामपकर्षन्ति दुःखिताम् ।
उत्तरां मोघसंकल्पां मत्स्यराजकुलस्त्रियः ।। .२९
उत्तरामपकृष्यैनामार्तामार्ततराः स्वयम् ।
विराटं निहतं दृष्ट्वा क्रोशन्ति विलपन्ति च ।। .३०

सुभद्रानन्दन! आप पुण्यात्माओं के लोकों में जाकर, अप्सराओं के साथ मिल कर विहार करते समय मेरे शुभ कर्मों का भी स्मरण कीजियेगा. वीर ! इस लोक में तो मेरे साथ आपका कुल छः महीनों तक ही सहवास रहा है. सातवें महीने में ही आप वीरगति को प्राप्त हो गये. इस तरह की बातें कहकर दुःख में डूबी हुई इस उत्तरा को, जिसका सारा संकल्प मिट्टी में मिल गया है, मत्स्यराज विराट के कुल की स्त्रियां खींचकर दूर ले जा रही हैं. शोक से आतुर हुई उत्तरा को खींचकर अत्यन्त आर्त हुई वे स्त्रियां, राजा विराट को मारा गया देख, स्वयं भी चीखने और विलाप करने लगी हैं.

एष वैकर्तनः शेते महेष्वासो महारथः ।
ज्वलितानलवत् संख्ये संशान्तः पार्थतेजसा ।। २१.१
अल्पावशेषोऽपि कृतो महात्मा ।
शरीरभक्षैः परिभक्षयद्भिः ।।
द्रष्टुं न नः प्रीतिकरः शशीव ।
कृष्णस्य पक्षस्य चतुर्दशाहे ।। स्त्री.२१.१३

गान्धारी बोली — श्रीकृष्ण ! देखो, यह महाधनुर्धर महारथी वैकर्तन कर्ण, कुन्तीकुमार अर्जुन के तेज से बुझी हुई प्रज्वलित आग के समान युद्धस्थल में शान्त होकर सो रहा है. मानव-शरीर का भक्षण करने वाले जन्तुओं ने खा खाकर महामना कर्ण के शरीर को थोडा-सा ही शेष रहने दिया है. उसका यह अल्पावशेष शरीर, कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के चन्द्रमा की भांति देखने पर हम लोगों को प्रसन्नता नहीं दे रहा है.

सिन्धुसौवीरभर्तारं दर्पपूर्णं मनस्विनम् ।
भक्षयन्ति शिवा गृध्रा जनार्दन जयद्रथम् ।। स्त्री. २२.९
संरक्ष्यमाणं भार्याभिरनुरक्ताभिरच्युत ।
भीषयन्त्यो विकर्षन्ति गहनं निम्नमन्तिकात् ।। .१०

जनार्दन ! सिन्धु और सौवीर देश के स्वामी अभिमानी और मनस्वी जयद्रथ को गीध और सियार नोच-नोचकर खा रहे हैं. अच्युत ! इसमें अनुराग रखनेवाली इसकी पत्नियाँ यद्यपि रक्षा में लगी हुई हैं, तथापि गीदड़ियां उन्हें डरा कर जयद्रथ की लाश को उनके निकट से गहरे गड्ढे की ओर खींचे लिये जा रही हैं.

सैषा मम सुता बाला विलपन्ती च दुःखिता ।
आत्मना हन्ति चात्मानमाक्रोशन्ती च पाण्डवान् ।। .१४
किं नु दुःखतरं कृष्ण परं मम भविष्यति ।
यत् सुता विधवा बाला स्नुषाश्च निहतेश्वराः ।। .१५
हाहा धिग् दुःशलां पश्य वीतशोकभयामिव ।
शिरोभर्तुरनासाद्य धावमानामितस्ततः ।। .१६

देखो ! वहीं मेरी यह बेटी दुःशला जो अभी बालिका है, किस तरह दुखी हो होकर विलाप कर रही है, और पाण्डवों को कोसती हुई स्वयं ही अपनी छाती पीट रही है. श्रीकृष्ण ! मेरे लिये इससे बढ़कर महान् दुःख की बात और क्या होगी कि यह छोटी अवस्थाकी मेरी बेटी विधवा हो गई, तथा मेरी सारी पुत्रवधुएं भी अनाथ हो गयीं । हाय ! हाय, धिक्कार है ! देखो, देखो दुःशला शोक और भय से रहित-सी होकर अपने पति का मस्तक न पाने के कारण इधर-उधर दौड़ रही है.

अहो धिक्पश्य शल्यस्य पूर्णचन्द्रसुदर्शनम् ।
मुखं पद्मपलाशाक्षं काकैरादष्टमवृणम् ।। स्त्री. २३.४

अहो ! धिक्कार है. देखो न, शल्यके पूर्ण चन्द्रमा की भाँति दर्शनीय तथा कमलदल के सदृश नेत्रों वाले व्रणरहित मुख को कौओं ने कुछ-कुछ काट दिया है.

यस्य नास्ति समो लोके शौर्ये वीर्ये च कश्चन ।
स एष निहतः शेते भीष्मो भीष्मकृताहवे ।। .१४

संसारमें शौर्य और बलमें जिनकी समानता करने वाला दूसरा कोई नहीं है, ये वही युद्ध में भयंकर कर्म करने वाले भीष्म पितामह घायल हो बाणशय्या पर सो रहे हैं.

धनुर्मुष्टिरशीर्णश्च हस्तावापश्च माधव ।
द्रोणस्य निहतस्याजौ दृश्यते जीवतो यथा ।। २३.३१
वन्दनार्हाविमौ तस्य बन्दिभिर्वन्दितौ शुभौ ।
गोमायवो विकर्षन्ति पादौ शिष्यशतार्चितौ ।। .३३
द्रोणं द्रुपदपुत्रेण निहतं मधुसूदन ।
कृपी कृपणमन्वास्ते दुःखोपहतचेतना ।। .३४

माधव ! युद्ध में मारे जाने पर भी द्रोणाचार्य के धनुष के साथ जुडी हुई मुट्ठी ढीली नहीं हुई है. दस्ताना भी ज्यों-का-त्यों दिखाई देता है, मानो वह जीवित पुरुषके हाथ में हो. केशव ! शूरवीर द्रोणाचार्य के, वन्दना के योग्य, बन्दीजनों द्वारा वन्दित, इन दोनों सुन्दर एवं वन्दनीय चरणारविन्दों को, जिनकी सैकडों शिष्य पूजा कर चुके हैं, गीदड़ घसीट रहे हैं. मधुसूदन ! द्रुपदपुत्र के द्वारा मारे गये द्रोणाचार्य के पास उनकी पत्नी कृपी बडे दीनभाव से बैठी है. दुःख से उसकी चेतना लुप्त सी हो गई हैं.

भार्या यूपध्वजस्यैषा करसम्मितमध्यमा ।
कृत्वोत्सङ्गे भुजं भर्तुः कृपणं परिदेवति ।। स्त्री. २४.१७
अयं स हन्ता शूराणां मित्राणामभयप्रदः ।
प्रदाता गोसहस्त्राणां क्षत्रियान्तकरः करः ।। .१८
अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्त्रंसनः करः ।। .१९

श्रीकृष्ण ! देखें, यूपध्वजकी यह पतली कमरवाली भार्या पति की कटी हुई बॉह को गोद में लेकर बडे दीनभाव से विलाप कर रही है. वह कहती है – 'हाय! यह वही हाथ है, जिसने युद्ध में अनेक शूरवीरों का वध, मित्रों को अभयदान, सहस्त्रों गोदान तथा क्षत्रियों का संहार किया है. यह वही हाथ है, जो हमारी करधनी को खींच लेता, उभरे हुए स्तनों का मर्दन करता, नाभि, ऊरु और जघन प्रदेश को छूता और नीवी का बन्धन सरका दिया करता था.

■ ■ ■

लेखक की अन्य कृतियां :

1. **The Concept of self-luminosity of Knowledge in Advaita-Vedanta**

2. **Re-Visiting Śakuntalam -- A Commentary on Goethe's Śakuntala-Epigram**

प्रकाश्य ग्रन्थ —

१ - श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यभूमिका

२. श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम् — (द्वितीयो भागः)